साहित्य समालोचना ग्रन्थ माला-19

भाषिकी और संस्कृत भाषा

लेखक
डॉ॰ देवीदत्त शर्मा
प्रोफेसर एमरेट्स संस्कृत विभाग
कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय, कुरुक्षेत्र

हरियाणा साहित्य अकादमी, चण्डीगढ़

प्रकाशन वर्ष : 1990
प्रतियां : 1100
मूल्य : पचास रुपये (Rs 50 00)

सम्पादन/प्रकाशन
डॉ० पृथ्वीराज कालिया
निदेशक : जसराम

मुद्रक : पवन प्रिण्टर्स, जे-9 नवीन शाहदरा, दिल्ली 110032

प्रस्तावना

भाषिकी और संस्कृत भाषा पुस्तक का प्रकाशन भारत सरकार की हिन्दी तथा प्रादेशिक भाषाओं मे विश्वविद्यालय स्तरीय ग्रन्थ निर्माण योजना के अन्तर्गत किया गया है। विश्वविद्यालय स्तर की पढ़ाई हिन्दी माध्यम से संभव कराने के लिए विभिन्न विषयों की पुस्तकें तैयार करवाने की यह योजना वैज्ञानिक तथा तकनीकी शब्दावली आयोग के तत्त्वावधान मे विभिन्न ग्रन्थ अकादमियों व पाठ्य पुस्तक प्रकाशन बोर्डों द्वारा क्रियान्वित की जा रही है। पुस्तक योजना के अन्तर्गत हरियाणा साहित्य अकादमी द्वारा अब तक 155 पुस्तकें प्रकाशित की गई हैं तथा प्रस्तुत पुस्तक इस योजना का 156वां प्रकाशन है।

प्रस्तुत पुस्तक के लेखक सुप्रसिद्ध विद्वान डॉ० देवीदत्त शर्मा, प्रोफ़ेसर, भूतपूर्व अध्यक्ष, संस्कृत विभाग, पंजाब विश्वविद्यालय, चण्डीगढ़ हैं।

विद्वान् लेखक ने पुस्तक के सम्पूर्ण विषय को पांच भागों में उपस्थित किया है। भाग-एक में भाषा की उत्पत्ति, स्वरूप एवं प्रकृति, भाग-दो मे आर्यभाषा परिवार, भाग-तीन में संस्कृत का स्वन प्रक्रियात्मक विश्लेषण, भाग-चार में संस्कृत का रूप संरचनात्मक विश्लेषण तथा भाग-पांच मे अर्थ विज्ञान पर विद्वतापूर्ण विचार किया है। गत दो-तीन शताब्दियों में विद्वानों तथा चिन्तकों ने

भाषा के संबंध में अनेक नवीन दृष्टिकोण एवं विश्लेषण पद्धतियां तो प्रस्तुत की हैं लेकिन संस्कृत के भाषिक विश्लेषण पर कार्य का अभाव रहा है। प्रस्तुत पुस्तक का लेखन इस अभाव की पूर्ति के लिए ही किया गया। पुस्तक में संस्कृत के कई पक्षों—स्वन प्रक्रिया, उपस्वनिमिक प्रक्रिया, रूप स्वनिमिक प्रक्रिया—पर प्रथम बार वर्णनात्मक पद्धति के आधार पर विचार किया गया है। अतः इस ग्रन्थ से संस्कृत के छात्र को आधुनिक भाषा विज्ञान की सभी मान्य पद्धतियों से परिचित कराने के साथ-साथ वर्णनात्मक तथा तुलनात्मक पद्धति के माध्यम से उसे संस्कृत के संरचनात्मक तथा ऐतिहासिक स्वरूप से अवगत कराने का सफल प्रयास किया गया है। विषय का प्रतिपादन सरल एवं प्रभावपूर्ण ढंग से सोदाहरण किया गया है।

प्रस्तुत पुस्तक हरियाणा साहित्य अकादमी की साहित्य समालोचना ग्रन्थ निर्माण माला के अन्तर्गत तैयार करवाई गई है। इस योजना के विशेष सलाहकार अकादमी की ग्रन्थ प्रमाण समिति के सदस्य तथा सुप्रसिद्ध समालोचक डॉ० नामवर सिंह हैं। आशा है प्रस्तुत पुस्तक का संस्कृत के छात्र एवं पाठकों द्वारा स्वागत किया जाएगा।

अध्यक्ष — निदेशक

आनन्द नाथ शर्मा — [signature]

हरियाणा साहित्य अकादमी, चण्डीगढ़ — हरियाणा साहित्य अकादमी चण्डीगढ़

प्राक्कथन

सस्कृत भाषा के महत्त्व पर यहा पर विशेष रूप से कुछ कहने की अपेक्षा नही। सभी जानते हैं कि इस उप महाद्वीप मे संस्कृत का इतिहास उतना ही पुराना है जितना कि स्वय आर्य जाति का। उनके लिए संस्कृत केवल विचारों के आदान-प्रदान का माध्यम अथवा साहित्यिक एव सांस्कृतिक धरोहर का माध्यम मात्र न थी। यह तो प्राणतत्त्व के समान उनके जीवन मे ओत-प्रोत रही है और अब भी है। हां, बीच मे कुछ समय ऐसा अवश्य आया जबकि इसका क्षेत्र भारतीय जन मानस मे सीमित हो गया था, इसके महत्त्व एवं स्वरूप के सम्बन्ध में दृष्टियों मे धुंधलापन छा गया था। सौभाग्य से इसके साथ होने, वाले पाश्चात्य विद्वानों के सम्पर्क ने उसे दूर कर दिया। फलत: इस सम्बन्ध में पृथक्-पृथक् तथा सम्मिलित रूप से नवीन प्रयास किए गये और संस्कृत को विभिन्न दृष्टिकोणो से देखने, परखने का शुभारम्भ हुआ।

हमें यह स्वीकार करने मे कोई हिचकिचाहट नही होनी चाहिए कि यद्यपि हमारे वैयाकरणों के द्वारा ईसा से कई सौ वर्ष पूर्व ही संस्कृत. का सूक्ष्मतम भाषा वैज्ञानिक विश्लेषण कर डाला गया था, पर इसके वैज्ञानिक महत्त्व की ओर हमारा ध्यान पाश्चात्य विद्वानो ने ही आकृष्ट किया। उन्होंने ही हमें इसे नवीन वैज्ञानिक

विधाओं एवं पद्धतियों से विश्लेषित करने की दृष्टि प्रदान की। विश्व की अनेक प्रमुख भाषाओं की शोधपत्रिकाओं में प्रकाशित लेख तथा पुस्तकें इसकी प्रत्यक्ष प्रमाण हैं। इन्हीं से प्रेरणा लेकर अनेक भारतीय विद्वानों ने भी इसमें महत्त्वपूर्ण योगदान किया।

हमारी आधुनिक शिक्षा पद्धति में 'भाषा-विज्ञान' जैसे विषय का समावेश भी पाश्चात्य शिक्षा-पद्धति की देन है। कहने की आवश्यकता नहीं कि सर्वप्रथम संस्कृत की उच्च शिक्षा के विषयों में ही इसका शुभारम्भ किया गया था जो बाद में धीरे-धीरे अन्य आधुनिक भाषाओं के पाठ्यक्रमों में भी प्रवेश पा गया और अब तो यह एक स्वतन्त्र विषय के रूप में भी स्थान पा चुका है।

पाठ्यक्रमों में नवीन विषयों के निर्धारण के साथ पाठ्य सामग्री की आवश्यकता तो होती ही है। अतः भाषा-विज्ञान की शिक्षा के प्रारम्भ के साथ उसके लिए तत्सम्बन्धी ग्रन्थों का प्रणयन भी प्रारम्भ हुआ। प्रारम्भ में कतिपय आधारभूत ग्रन्थ लिखे गये जिनमें भाषा-विज्ञान की तत्कालीन धारणा के अनुरूप पर्याप्त ठोस सामग्री सामने आयी। पर बाद में अन्य भाषाओं के पाठ्यक्रमों में भी इस विषय का समावेश हो जाने से विद्यार्थियों की परीक्षा सम्बन्धी आवश्यकताओं को सम्मुख रखकर *इस विषय पर धड़ाधड़ पुस्तकें लिखी जाने लगीं जिनमें कि अधिकतर पूर्व* कृतियों की सामग्री को ही देशी भाषाओं के माध्यम से प्रस्तुत किया गया। क्योंकि भारत में हिन्दी का क्षेत्र सबसे अधिक विस्तृत है अतः हिन्दी के माध्यम से सर्वाधिक पुस्तकों का प्रकाशन हुआ। इनमें से अधिकतर लेखकों का भाषा-विज्ञान में विशेष प्रशिक्षण न होने तथा उनका भाषा-वैज्ञानिक अध्ययनों की आधुनिकतम पद्धतियों *से परिचित न होने के कारण अधिकांश में एक दूसरे की नकल ही चलती रही।*

ऐसे ही संस्कृत के विद्यार्थियों के लिये गए भाषा-विज्ञान सम्बन्धी कृतियों में भी ये लेखक गुणे, तारापोरवाला, मंगलदेव शास्त्री तथा भण्डारकर से आगे कुछ नहीं दे पाये। वहां भी वे अधिकतर ऐतिहासिक तथा तुलनात्मक भाषा-विज्ञान तक ही अटके रहे। तथा जहां भाषा-विज्ञान की अन्य शाखाओं के विषय में कुछ *लिखा भी वहां हिन्दी, अंग्रेजी आदि से दिए गए उदाहरणों से ही काम चलाते रहे। फलतः अभी तक हिन्दी में संस्कृत भाषा विज्ञान पर कोई भी ऐसा ग्रन्थ नहीं* है जो कि संस्कृत भाषा को आधार बनाकर लिखा गया हो। कहने की आवश्यकता नहीं कि संस्कृत के विद्यार्थियों को भाषा-विज्ञान के नाम पर जो कुछ दिया जा रहा है वह या तो ऐतिहासिक भाषा-विज्ञान है, जो कि भाषा-विज्ञान की ऐतिहासिक यात्रा में अब बहुत पीछे छूट चुका है, या हिन्दी अथवा किसी अन्य *आधुनिक भाषा का भाषा-वैज्ञानिक विश्लेषण। अतः संस्कृत का विद्यार्थी* स्नातकोत्तर परीक्षा उत्तीर्ण कर लेने पर भी संस्कृत के भाषा-वैज्ञानिक विश्लेषण से उतना ही अनभिज्ञ रहता है जितना कि वह इस विषय को पढ़ने से पूर्व था।

प्रस्तुत ग्रन्थ के प्रणयन का उद्देश्य संस्कृत भाषा-विज्ञान के क्षेत्र की इसी कमी की पूर्ति है। लेखक को अपने इस प्रयास में कितनी सफलता मिली, यह तो सुधी पाठक ही बतला सकेंगे, पर उसका यह प्रयास अवश्य रहा है कि संस्कृत के भाषा-विज्ञान के छात्रों को एक ऐसा ग्रन्थ दिया जाए जो कि एक ओर तो उन्हें सरल भाषा में आधुनिक भाषा-विज्ञान के अध्ययनीय विषयों तथा उनकी विश्लेषण पद्धतियों से तथा दूसरी ओर संस्कृत की भाषिक संरचना से परिचित करा सके। पर यह इस दिशा में सोचे गए लक्ष्य का प्रारम्भ है, अन्त नहीं। इस ग्रन्थ के द्वारा संस्कृत के विद्यार्थियों को भाषा-वैज्ञानिक पृष्ठभूमि पर संस्कृत की संरचना को समझने में कुछ सहायता मिल सके तो लेखक अपने प्रयास को सफल समझेगा।

पुस्तक के मुद्रण के विषय में भी यहां पर इस बात का उल्लेख कर देना आवश्यक है कि शुद्ध मुद्रण का आग्रह होने पर भी मुद्रण की अशुद्धियां रह गयी हैं, विशेषकर प्रथम चार फर्मों (64 पृष्ठों) में जिनके प्रूफ लेखक स्वयं न देख सका। इसका हमें खेद है और पाठकों से अनुरोध है कि वे उन्हें शुद्ध करके पढ़ें। एतदर्थ शुद्धिपत्र पुस्तक के अन्त में जोड दिया गया है।

अन्त में मैं इस ग्रंथ की 'ग्रंथ सूची' में निर्दिष्ट उन सभी विद्वानों के प्रति अपना हार्दिक आभार प्रकट करता हूं जिनकी कृतियों से मुझे इस ग्रंथ के प्रणयन में प्रकाश मिला तथा जिनसे प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप में कोई सहायता ली गयी।

इसके अतिरिक्त मैं हरियाणा साहित्य अकादमी के निदेशक डॉ० जयनारायण कौशिक तथा उनके सहयोगियों का विशेष रूप से हार्दिक धन्यवाद करना चाहूंगा जिनकी प्रेरणा तथा उन्मुक्त सहयोग के फलस्वरूप इस ग्रंथ का प्रणयन एवं प्रकाशन सम्भव हो सका है।

विदुषाविधेय :
देवीदत्त शर्मा

विषय सूची

भाग—एक भाषिकी का परिचय

भाग—दो : आर्यभाषा परिवार

भाग—तीन : स्वन प्रक्रिया

भाग—पांच अर्थ-विज्ञान

भाग—छ: भाषिकी और संस्कृत भाषा

भाग : एक

भाषिकी का परिचय

1

भाषा की उत्पत्ति, स्वरूप एवं प्रकृति

भाषा की उत्पत्ति

भाषा का सर्वप्रथम उद्भव कब और कैसे हुआ होगा, यह एक ऐसा प्रश्न है जिसका सर्वस्वीकृत उत्तर पा सकना लगभग असम्भव है। पिछली दो शताब्दियों में पौर्वात्य तथा पाश्चात्य विद्वानों ने इस सम्बन्ध में पर्याप्त बौद्धिक व्यायाम करके अनेक सम्भाव्य सिद्धान्तों को प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया, किन्तु उन्हें कपोल कल्पनाओं से अधिक महत्व नहीं दिया जा सकता है। यहां तक कि इन बढ़ती हुई निराधार सिद्धान्त सरणियों को देखकर फ्रांस की भाषा अकादमी को यह व्यवस्था देनी पड़ी कि ऐसा कोई भी व्यक्ति उस अकादमी का सदस्य नहीं बन सकता है जो कि भाषा की उत्पत्ति के सिद्धान्त की बात करता हो। केवल कल्पनाओं पर आधारित होने के कारण आज इनका मात्र ऐतिहासिक महत्व शेष रह गया है। इस वैज्ञानिकता के युग में आज का भाषा विज्ञानी अब इनकी चर्चा करना भी व्यर्थ समझता है। भाषा जैसे जटिल एवं बहुआयामी विषय का उद्भव किसी एक घटना या संकल्पना से मानना किसी प्रकार भी संगत नहीं ठहराया जा सकता है। इसलिए हम भी भाषा-सम्बन्धी प्रस्तुत विश्लेषणों पर कोई चर्चा करना उपयुक्त नहीं समझते।

भाषा का स्वरूप

भाषा की उत्पत्ति चाहे जब भी जिस प्रक्रिया से भी हुई हो, व्यवहार-क्षेत्र में उसका प्रत्यक्षीकरण हमें जिन दो प्रतीकात्मक रूपों में होता है उन्हें हम ध्वनि प्रतीक तथा लिपि प्रतीक कह सकते हैं। इनमें से ध्वनि प्रतीकों की उत्पत्ति एवं प्रत्यक्षीकरण में मानव शरीर के कतिपय अंगों (वागंगों), वायु के भौतिक गुण धर्मों तथा कान के शारीरिक गुण धर्मों का उपयोग होता है तथा लिपि प्रतीकों में किसी आधार भूमि (फलक, कागज आदि) पर अंकित विशेष चिह्नों के साथ हमारी चक्षु इन्द्रिय के सन्निकर्ष से उत्पन्न उसका प्रत्यक्षीकरण होता है। यहां पर यह बतला देना आवश्यक है कि ये प्रतीक चाहे ध्वन्यात्मक हों चाहे लिप्यात्मक, होते हैं यादृच्छिक ही। इसीलिए भाषा के स्वरूप को परिभाषित करने वाले सभी भाषा-शास्त्रियों ने अपनी परिभाषाओं में भाषा की इस विशेषता को आवश्यक रूप से समाहित किया है, उदाहरणार्थ, स्त्रुत्वा के द्वारा दी गई तथा अधिकतर भाषा-शास्त्रियों द्वारा स्वीकृत परिभाषा—"भाषा उन यादृच्छिक ध्वन्यात्मक प्रतीकों की व्यवस्था है जिनके माध्यम से किसी सामाजिक (भाषाई) समूह के सदस्य परस्पर अपने विचारों का आदान-प्रदान करते हैं।" (A language is a system of arbitrary vocal symbols by means of which members of a social group cooperate and interact) आश्चर्य की बात है कि इससे लगभग 1200 वर्ष पूर्व हमारे भारतीय आचार्य भामह ने भाषा की जो परिभाषा दी थी उसी की प्रतिध्वनि उपर्युक्त परिभाषा में सुनाई देती है, वे कहते हैं—

> इयन्तः ईदृशाः शब्दाः ईदृगर्थाभिधायिनः।
> व्यवहाराय लोकस्य प्रागित्थं समयः कृतः॥

काव्यालंकार 6/13

अर्थात् लोक व्यवहार की आधारभूत भाषा की शब्दावली की संरचना सुनिर्धारित वर्णात्मक प्रतीकों तथा उनमें निहित अर्थों के द्वारा की जाती है।

भाषिक आयाम

आधुनिक भाषा विज्ञान के जन्मदाता फ्रांसीसी विद्वान फर्डिनेण्ड द ससूर ने भाषा के जिन तीन आयामों की स्थापना की है, वे हैं 1 वैयक्तिक, 2 सामाजिक, 3 सामान्य, सर्वव्यापक।

1 वैयक्तिक—उनकी शब्दावली में इसे पैरोल (Parole) कहा गया है जिसका समानार्थी शब्द अंग्रेजी में स्पीच कहा गया है। जिसे हिन्दी में वाक् से अभिहित किया जा सकता है। भाषा के इस वैयक्तिक रूप में व्यक्ति तत्त्व को अधिक महत्त्व दिया जाता है। उनके अनुसार यद्यपि भाषा एक सामाजिक वस्तु है किन्तु

उसके व्यवहार का आधार व्यक्ति ही होता है। व्यक्ति विशेष के द्वारा उच्चरित ध्वनियां ही भाषा का रूप धारण करती है। किन्तु समाज का अग होने के कारण व्यक्ति और समाज के बीच अधिक आदान-प्रदान, क्रिया-प्रतिक्रिया होती ही रहती है जिसके प्रमुख रूप होते हैं—बोध और अभिव्यंजन। बोध के रूप मे व्यक्ति अन्य व्यक्ति के द्वारा अभिव्यक्त भाषिक तत्त्वो का आदान करता है तथा अभिव्यंजन के रूप मे उन्हें अभिव्यक्त करता है। समाज के अंगभूत मानव प्राणियों के बीच वक्ता और श्रोता के रूप में बोध और अभिव्यंजन का यह क्रम बराबर चलता रहता है। परिस्थितियों के अनुसार वक्ता और श्रोता की स्थिति मे परिवर्तन होता रहता है। एक स्थिति मे जो व्यक्ति वक्ता होता है दूसरी स्थिति मे वही श्रोता बन जाता है। इस भाषिक अभिव्यजन मे देखा जाता है कि प्रत्येक व्यक्ति की वाचिक अभिव्यक्ति मे कतिपय ऐसे तत्त्व होते है जो कि उसे अन्य व्यक्तियो से पृथक् करते है। इसे ही भाषा का वैयक्तिक रूप कहा जाता है।

2. **सामाजिक** वस्तुत भाषा एक सामाजिक वस्तु होती है। इसका जन्म समाज मे तथा सामाजिक कार्य व्यवहार के लिए होता है। किसी भाषिक समुदाय विशेष में भाषा का जो सर्वमान्य रूप होता है वही उस समुदाय की भाषा होती है। भाषा के इस रूप को ससूर ने लाग (Langue) के नाम से अभिहित किया है। इसमे भाषा के दोनो ही रूपों—ध्वनन एव श्रवण—का समावेश होता है। भाषा की यह स्थिति मात्र समाज मे ही सम्भव हो सकती है। क्योकि इसमे ध्वनन क्रिया के लिए वक्ता तथा श्रवण क्रिया के लिए श्रोता का होना आवश्यक होता है जब कि वैयक्तिक अभिव्यक्ति के लिए ऐसा होना सर्वथा अनिवार्य नही। ध्वनन एव श्रवण की इस प्रक्रिया मे किन-किन शारीरिक एवं मानसिक क्रियाओ का योगदान होना है, इस पर हम अन्यत्र विचार करेंगे।

भाषा और समाज के अन्योन्याश्रय सम्बन्ध को अधिक स्पष्ट करने के लिए कहा जा सकता है कि भाषा की उत्पत्ति तथा विकास दोनों समाज की स्थिति पर ही निर्भर होते हैं। भाषा का अधिग्रहण व उसकी व्यवहार-क्षमता समाज मे रह कर ही सम्भव हो सकती है। इसकी सामाजिकता का सबमे बड़ा प्रमाण यह है कि बच्चा जिस प्रकार के भाषिक समाज के बीच रहता है उसी प्रकार की भाषा का अधिग्रहण करता है। समाज से पृथक पोषित मानव-शिशु किसी भी भाषा मे अपनी अभिव्यक्ति नही कर सकता। यहां तक कि हम जिसे मातृभाषा कहते है वह भी उस समाज की भाषा होती है जिसका कि वह सदस्य होता है। समाज से पृथक् मातृभाषा या किसी अन्य भाषा की सत्ता ही सम्भव नही। समाज ही भाषा के सभी रूपो—वैयक्तिक, साहित्यिक, सास्कृतिक, यान्त्रिक आदि—का मूलाधार होता है। समाज ही भाषा का उत्पादक व पोषक होने के कारण इसकी समाज सापेक्षता स्वयं सिद्ध है।

भाषा एक सामाजिक वस्तु है तथा उसका रूप समाज-सापेक्ष होता है—इसका एक प्रबल प्रमाण यह भी है कि किसी भाषा समुदाय में पाये जाने वाले सामाजिक स्तरों के अनुरूप ही भाषा के भी विभिन्न स्तर पाये जाते है। भारतीय परिवेश में शैक्षणिक, आर्थिक, व्यावसायिक स्तरों के अतिरिक्त जातीय व वर्गीय स्तरों पर भी भाषा के रूपों में अन्तर पाये जाते है। समाज भाषा वैज्ञानिक विश्लेषणों के आधार पर देखा गया है कि समाज के विभिन्न स्तरों व वर्गों के वक्ताओं की भाषा के रूपों में इतना स्पष्ट अन्तर होता है कि कभी-कभी तो सामान्य श्रोता भी मात्र भाषा के आधार पर व्यक्ति विशेष की जाति, वर्ग व पेशे का अवितथ पूर्वानुमान लगा लेता है।

सामाजिक वातावरण के अतिरिक्त भाषा अपने विविध रूपों में अपने भौगोलिक एवं ऐतिहासिक वातावरण से भी प्रभावित होती है जो कि अपेक्षाकृत न्यून मात्रा में हुआ करता है।

भाषा की प्रकृति भाषा की प्रकृति के सम्बन्ध में निम्नलिखित बातें विशेष रूप से उल्लेखनीय है :

3 **सर्वव्यापकता :** भाषा की सर्वव्यापकता का प्रश्न भी इसकी सामाजिकता के प्रश्न के साथ जुड़ा हुआ है। द सस्यूर ने भाषा के इस रूप को लागाज (Language) के नाम से पारिभाषित किया है। इससे उनका अभिप्राय है मानव मात्र की भाषा। इसमें तथा भाषा के सामाजिक रूप में मुख्य अन्तर यह है कि भाषा का यह रूप उसके समाज सापेक्ष रूपों—संस्कृत, अरबी, फारसी या हिन्दी, अंग्रेजी, बंगला आदि—की भांति वर्गीकृत नहीं होता है। यह सर्वव्यापक रूप से सम्प्रेषण के सर्वसामान्य साधन के रूप में भाषा की सभी प्रक्रियाओं का बोध कराता है। भाषा के इस रूप को जो कि किसी भी प्रकार के भेदक तत्त्वों से ऊपर होता है। अधिभाषा (Supra-language) कहा जा सकता है। हमारा कोई भी *व्यक्तिगत या सामाजिक कार्यव्यापार ऐसा नहीं जो कि प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष रूप से भाषा* के साथ जुड़ा हुआ नहीं। इस प्रसंग में भाषा का रूप आंगिक भी हो सकता है और वाचिक या लिखित भी। भाषा के महत्त्व के प्रसंग में वाचामेव प्रसादेन लोकयात्रा प्रवर्तते की बात कही जाती है। इसे और पुष्ट करने के लिए यहां पर व्याकरण दर्शन के प्रकाण्ड आचार्य भर्तृहरि को भी उद्धृत किया जा सकता है। उनका कथन है : इति कर्तव्यता लोके सर्वं शब्द व्यपाश्रया। अर्थात् एक सामाजिक प्राणी के रूप में क्या करना चाहिए, कैसे करना चाहिए इत्यादि की निर्भरता हमारे शाब्दिक व्यवहार पर ही होता है। इसके आगे फिर वे कहते हैं

> न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके यः शब्दानुगमादृते।
> अनुविद्धमिव ज्ञानं सर्वशब्देन भासते॥ वाक्य० ब्रह्म० 124

इस दृश्यमान जगत् का कोई ऐसा कार्यकलाप नहीं जो कि भाषा के बिना सम्भव हो। इस जगत् का समस्त ज्ञान शब्द (भाषा) से ओतप्रोत प्रतीत होता है। "अर्थात् भाषा ही हमारी समस्त वाचिक अभिव्यक्तियों व हमारे मानसिक चिन्तनों की एक मात्र आधार है, यह हमारे आन्तरिक व बाह्य जीवन के सभी व्यक्त और अव्यक्त कार्यकलापों का परिसचालन करती है।

सम्प्रेषणीयता : सभी जानते हैं कि भाषा भाव सम्प्रेषण के अन्य सभी साधनों आगिक सकेतों, लिपि या चिन्तन सकेतों की अपेक्षा अधिक पूर्ण एवं सशक्त साधन है। कहने की आवश्यकता नही कि भाषा की वाचिक अभिव्यक्ति मे खडीय ध्वनियों के माध्यम से व्यक्त संदेश के साथ अधिखडीय ध्वनियो एव कायिक चेष्टाओं का योग उसे अधिक स्पष्ट एव प्रभावकारी रूप मे ग्राह्य बना देता है। भाषा की सम्प्रेषणीयता के ये विशिष्ट तत्त्व मात्र उसके मौखिक रूप मे ही सम्भव हो सकते है, लिखित रूप मे नही। यहा तक कि लिखित रूप मे अंकित भावों के सम्यक् सम्प्रेषण मे भी इन तत्त्वों का आश्रय लेना पडता है, यथा नाटक आदि के मंचन में अथवा किसी गद्य-पद्य के वाचन मे।

सातत्य : हिमालय से प्रवाहित होने वाली गंगा की जलधारा के समान भाषा का रूप गतिशील अथवा प्रवाहमान होते हुए भी अपने मूल से जुड़ा रहता है। इस विषय में यह तो सम्भव है कि कोई भाषा किसी लघु नदी की धारा के समान काफी दूरी तक बह कर किसी महान् नदी की धारा मे विलीन हो जाये या किसी मरुस्थल में विलीन हो जावे किन्तु अपने उद्गम स्थल से लेकर विलयन के स्थल से पूर्व ही विच्छिन्न हो जाये, यह सम्भव नही। अपने पूरे जीवनकाल मे उसकी वह धारा नियत रूप से प्रवाहमान रहती है। यह उसकी अपनी सहजात विशेषता होती है।

परिवर्तनशीलता : अपने प्रवाह मे अविच्छिन्न होते हुए भी भाषा अपनी यात्रा के विभिन्न पड़ावों पर देश-काल की परिस्थितियों से प्रभावित होती रहती है। भाषिक परिवर्तनों की गति यद्यपि बहुत मन्द होती है, पर वह चलती रहती है निरन्तर ही। काफी मार्ग तय कर लेने के बाद जब यह किसी नये मोड़ पर पहुंचती है तो वहां पर हमें इन परिवर्तनों का प्रत्यक्षीकरण होता है। अज्ञात रूप से होने वाले ये परिवर्तन न्यूनाधिक मात्रा में, इसके सभी तत्त्वों—ध्वनि, रूप, अर्थ—को प्रभावित करते रहते हैं। उदाहरणार्थ, गृह से घर या लघुक से हल्का में दिखाई देने वाला ध्वन्यात्मक परिवर्तन अथवा 'अरि' पडोसी से 'अरि' शत्रु में या राजा 'नृपति' से राजा 'नाई' मे होने वाला अर्थपरक परिवर्तन किसी एक दिन में नही हुआ। इन्हें इन रूपों में विकसित होने के लिए शताब्दियों का समय लगा। ब्राह्मणों के जातिवाचक शब्दों—उपाध्याय का ओझा या झा, चतुर्वेदी का चौबे, चट्टोपाध्याय का चटर्जी होना—इसी ध्वन्यात्मक परिवर्तन की प्रक्रिया के फल हैं।

जिन भाषाओं की हमारे पास ऐतिहासिक सामग्री उपलब्ध है उनके विभिन्न कालो के रूपो मे सभी प्रकार के होने वाले परिवर्तनो को सहज ही देखा जा सकता है। भारत मे ही वैदिक संस्कृत, साहित्यिक संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश, आधुनिक आर्य भाषाओं में उपलब्ध होने वाले परिवर्तित रूप इसके प्रत्यक्ष प्रमाण हैं।

इस सम्बन्ध मे यहा पर यह भी उल्लेखनीय है कि परिवर्तनशीलता भाषा का सहज स्वभाव है उसके जीवन तत्त्व का चिह्न है और स्थिरीकरण उसकी मृत्यु। भाषा की गति ही अवरुद्ध नही होती, अपितु उसकी जीवनी-शक्ति भी नष्ट हो जाती है। आचार्य पाणिनि के द्वारा संस्कृत भाषा का मानकीकरण कर दिये जाने पर उसमे स्थिरता तो आ गयी किन्तु उसका वह प्रवाह वही रुक गया जो कि ऋग्वेद काल मे अविच्छिन्न रूप से अनेक देशकालगत परिवर्तनों को आत्मसात करता हुआ अबोध गति से अग्रसरित हो रहा था।

परिवर्तन की प्रक्रिया के सम्बन्ध मे यह बतला देना भी आवश्यक है कि यद्यपि यह भाषा के सभी रूपो एव स्तरो मे होता है किन्तु इसका प्रारम्भ भाषा के उच्चरित रूपो से होता है जोकि पर्याप्त काल तक न्यूनाधिक मात्रा में विभिन्न स्तरो पर चलता रहता है। साहित्यिक दृष्टि से विकसित भाषाओ मे अन्ततोगत्वा ये परिवर्तन उनके लिखित रूपो मे भी स्वीकार कर लिये जाते हैं। क्योंकि भाषा के उच्चरित रूप की तुलना मे उसका लिखित रूप अधिक स्थिर एवं परम्परावादी होता है और भाषा मे होने वाले परिवर्तनों को काफी प्रतिरोध के बाद स्वीकार करता है। उदाहरणार्थ, हिन्दी में ऋषि, ऋतु, परमात्मा, स्थायी आदि का उच्चारण रिशि, रितु, पर्मात्मा, स्थाई आदि हो चुका है किन्तु उसकी लिखित परम्परा अभी उसकी पुरानी वर्तनी का ही अनुसरण कर रही है। अंग्रेजी में तो यह प्रवृत्ति और भी प्रबल रूप मे दृष्टिगोचर होती है, वहा पर Write, wrong know, knife, daughter, colour आदि सैकडो ही शब्द है जो कि अपने उच्चरितरूप मे वर्तनी से काफी दूर निकल गये है किन्तु अंग्रेजी अपने लिखित रूप में अब भी उन्ही के साथ चिपकी हुई है यद्यपि अमेरिकन लेखक इस परिवर्तन को स्वीकार करने लगे है।

स्वायत्तता : भाषिक तत्त्वो की दृष्टि से सभी भाषाओ के बीच कतिपय रूपो मे समानताओं के रहते हुए भी, (जैसा कि इनके आकृतिमूलक वर्गीकरण में देखा जा सकता है) प्रत्येक भाषा का अपना एक स्वतन्त्र रूप भी होता है जो कि इसे अपने ही वर्ग की अन्य भाषाओ से पृथक्ता प्रदान करता है। यह विशेषता विभिन्न ध्वनि तत्वो—घोषता, महाप्राणता, नासिक्य रंजन, सुर, बलाघात आदि—की विद्यमानता या अविद्यमानता, ध्वनिरेखी विश्लेषण पर आधारित खण्डीय ध्वनियों-स्वर एव व्यंजनों-की संख्या, उनके वितरण, अति-खण्डीय ध्वनियों की विशेषता, व्याकरणिक कोटियों—लिंग, वचन, पुरुष, काल, पक्ष आदि की न्यूनाधिकता

आदि—अनेक रूपो में भी पायी जा सकती है। किन्ही भी दो भाषाओ की संरचना का तुलनात्मक अध्ययन करने पर यह विभेद स्वय ही स्पष्ट हो जाता है। उदाहरणार्थ, उर्दू मे क, ख, ग की दो-दो ध्वनिया हैं जो कि सार्थक भी है किन्तु हिन्दी में ऐसा नही। ध्वनि सयोग की दृष्टि से अंग्रेजी मे स्+ट+र का सयोग शब्द के प्रारम्भ मे सर्वसामान्य रूप से पाया जा सकता है, यथा—स्ट्रीट, स्टेट आदि में। यह भारतीय भाषाओ में नही। इसी प्रकार सस्कृत मे एक साथ र्+त+स्+न्+य जैसा पांच शब्दो का सयोग सम्भव है, यथा कात्स्न्यं मे किन्तु अन्य अनेक भाषाओं मे ऐसा सम्भव नही हो सकता। आधुनिक भाषाओं मे भी लाहुल की दो बोलियो चिनाली तथा पट्टनी मे तीनों वचनों व पुरुषों की स्थिति पायी जाती है जबकि अधिकतर आधुनिक भारतीय भाषाओं मे इसका लोप हो चुका है।

भाषा के रूप

पिछले पृष्ठों में हमने भाषिकी की विश्लेषणीय भाषा के सम्बन्ध में उसके स्वरूप एव बहुआयामीयता का उल्लेख किया है। निम्नलिखित पक्तियो में हम उसके इसी एक रूप पर विचार करेंगे।

सिद्धान्तत. भाषा के ध्वन्यात्मक एवं रूपात्मक तत्त्वो को प्रभावित करने वाली इकाइयो—व्यक्ति, समाज तथा उसकी विभिन्न वर्गीकृत इकाइयो—इतिहास, भूगोल आदि के आधार पर किसी भी भाषा के अनन्त रूपो की स्थापना की जा सकती है, किन्तु व्यावहारिक दृष्टि से किसी भी भाषा के रूपो मे सख्या सीमित होती है। इस दृष्टि से भाषा विज्ञानियों द्वारा मान्यता प्राप्त रूप कुछ इस प्रकार ठहरते हैं।

भाषा—(*परिनिष्ठित एवं साहित्यिक भाषा*)—*कुछ लोग भाषा की मूल प्रकृति एव कार्यक्षमता से अनभिज्ञता के कारण लोक-व्यवहार की आधारभूत वाक् से उन रूपो मे नामात्मक अन्तर करते हैं जिनमें से एक का प्रयोग किन्ही सुसबद्ध क्षेत्रो में सीमित सख्या के व्यक्तियो द्वारा सीमित प्रयोजनो, यथा*—साहित्यिक रचनाओ, सचार एवं प्रसार माध्यमो, आदि के लिए किया जाता है, या हिन्दी, अंग्रेजी, फ्रांसीसी आदि के रूप मे जो कि अपने मे सर्वसाधारण की व्यवहार प्रक्रिया का प्रतिनिधित्व न करके स्थान विशेष तथा वर्ग विशेष के वाग्व्यवहारो का प्रतिनिधित्व करती हैं। ये लोग भाषा के इस साहित्यिक या मानकीकृत रूप को ही भाषा का दर्जा देने के पक्षपाती है। इस प्रकार के आधारो पर भाषा के पद पर प्रतिष्ठापित भाषा का भौगोलिक क्षेत्र तथा प्रयोग क्षेत्र इसके अन्य रूपो की अपेक्षा विस्तृत होता है। इसमे स्थिरता एव एकरूपता का तत्त्व भी अपेक्षाकृत अधिक मात्रा में पाया जाता है। उदाहरणार्थ, साहित्यिक संस्कृत का रूप लगभग ढाई

हजार वर्षों से अपनी एकरूपता बनाये हुए है तथा इसका प्रयोग क्षेत्र भी अटक-से-कटक तक व काश्मीर से कन्याकुमारी तक रहा है। इसी प्रकार परिनिष्ठित हिन्दी भी आज भारत के सात बड़े-बड़े राज्यों व केन्द्र शासित प्रदेशों की राजभाषा तथा सारे देश की व्यवहार भाषा है तथा अपने साहित्यिक रूप में यह पर्याप्त स्थिरता को भी प्राप्त कर चुकी है।

विभाषा (बोली)—इसके विपरीत ये लोग भाषा के उन रूपों को बोली (dialect) या उपभाषा (sub-dialect) कहना अधिक उपयुक्त समझते हैं जो कि सीमित क्षेत्रों में, सीमित जनसंख्या द्वारा बोली जाती है तथा जिनका उपयोग साहित्यिक रचनाओं तथा प्रशासकीय प्रयोजनों के लिए नहीं किया जाता है। यद्यपि भाषिक अभिव्यक्तियों की दृष्टि से उनमें भी वही क्षमता होती है जो कि भाषा के पद पर प्रतिष्ठापित भाषा में होती है। यह एक बड़ी विचित्र बात है कि कभी-कभी वैज्ञानिक आधारों की अपेक्षा राजनीतिक आधार इस भाषिक विभाजन के कारण बन जाते हैं। इस देश में ही कभी (मध्य काल में) अवधी, ब्रज, एवं राजस्थानी को भाषा पद से अभिहित किए जाने का पूर्ण गौरव प्राप्त था किन्तु आज ये इस पद से च्युत होकर हिन्दी की बोलियां या विभाषाएं बन गयी हैं और हिन्दी जो कि हिन्दवी के नाम से अभिहित की जाने वाली एक विभाषा थी, वह भाषा के पद पर आसीन है। आचार्य पाणिनि के समय भी विभाषाओं (क्षेत्रीय भाषाओं) की स्थिति थी और उन्होंने अपनी अष्टाध्यायी में कई स्थानों पर भाषा के क्षेत्रीय विभेदों को दिखाने के लिए इस शब्द का प्रयोग भी किया है। किन्तु वहां इस शब्द का संकेत-बोध उसी रूप में नहीं है जिसमें कि आज तक इसका प्रयोग किया जा रहा है। वहां पर प्रश्न परिनिष्ठित व अपरिनिष्ठित का नहीं, अपितु स्वरूप भेद का है, यथा—विभाषा दिक्समासे बहुव्रीहि हो। (1 1 28)। इसमें उन्होंने पद प्रयोग की दृष्टि से एक ही समस्त पद के दो रूपों—उत्तर पूर्वस्यै तथा उत्तर पूर्वायै के दो क्षेत्रीय प्रयोगों को दिखलाया गया है। इन रूपों में क्षेत्रीय दृष्टि से रूप भेद होने पर भी दोनों ही संस्कृत भाषा के लिए समान रूप से मान्य हैं। स्मरण रहे कि यहां पर 'विभाषा' का अर्थ सामान्य 'विकल्प' नहीं, अपितु क्षेत्रीय विकल्प है। इनमें परिनिष्ठित भाषा तथा अपरिनिष्ठित (बोली) जैसा कोई भेद नहीं।

वस्तुतः भाषा और बोली का यह भेद भाषा वैज्ञानिक तथ्यों पर आधारित न होकर व्यावहारिक परिकल्पनाओं पर आधारित होता है। भाषिक संरचना के तत्वों की दृष्टि से दोनों के बीच कोई मौलिक अन्तर नहीं होता।

विशिष्ट (व्यावसायिक) भाषा—किसी भाषाई समुदाय में विभिन्न वर्गों व व्यवसायों समुदायों के लोग सम्मिलित होते हैं। प्रत्येक व्यवसाय की अपनी व्यावसायिक शब्दावली भी होती है जिसके माध्यम से वे परस्पर भाषिक आदान-

प्रदान करते हैं। यह कोई पृथक् भाषा नहीं होती। अधिकांश में यह स्थान विशेष की भाषा या बोली के अनुरूप ही होती है। उनमें अन्तर होता है व्यवसाय विशेष में सामान्यतः प्रयुक्त होने वाली शब्दावली का, यथा डॉक्टरों के द्वारा प्रयुक्त की जाने वाली भाषा में विभिन्न प्रकार की दवाओं, रोगों व उनकी उपचार विधि से सम्बद्ध तकनीकी पारिभाषिक शब्दावली का आधिक्य होगा। ऐसे ही वकीलों और मुख्तियों की भाषा में विधि व्यवहार सम्बन्धी शब्दावली का, पण्डितों की भाषा में संस्कृत मूलक शब्दावली का, व्यापारियों की भाषा में तत् तत् व्यापार सम्बन्धी शब्दावली का आधिक्य हो सकता है।

समाज भाषा वैज्ञानिक अध्ययनों में इसके अतिरिक्त जाति भाषाओं (Cast Languages) की सत्ता भी स्वीकार की जाती है। विशेषकर वर्णों और जातियों में विभक्त भारतीय समाज में बोलने वालों के वर्ण और जाति के आधार पर भाषिक विभेदों की स्थिति पायी जाती है जिसे ब्राह्मणों की भाषा, जाटों की भाषा, बनियों की भाषा, जुलाहों की भाषा, चमारों की भाषा, अहीरों की भाषा, गूजरों की भाषा आदि के नाम से अभिहित किया जाता है।

इतना ही नहीं, व्यक्तिनिष्ठ तथा स्थितिनिष्ठ भाषिक रूपों के सम्भाव्य उपविभाजनों की सीमा का तो कोई अन्त ही नहीं। प्रत्येक व्यक्ति की वाक् प्रवृत्तियों में भी काल विशेष में विद्यमान स्थितियों की भिन्नता तथा उसकी सामाजिक भूमिकाओं की भिन्नता के आधार पर उसकी भाषा के रूपों में भिन्नता पायी जाती है। एक ही व्यक्ति के व्यवहार में, अन्तरंग पारिवारिक समुदाय के प्रसंगों में, अपरिचितों अथवा भिन्न प्रकार की सामाजिक स्थिति से सम्बद्ध व्यक्तियों के प्रसंग में, व्यावसायिक वार्तालाप में अथवा पांडित्यपूर्ण प्रवचनों में या इसी प्रकार के अन्यान्य प्रसंगों में भिन्न-भिन्न प्रकार के भाषिक रूपों के दर्शन होते हैं। एक ही व्यक्ति के भाषाई परिसर में पाये जाने वाले इन विभेदों को प्रायः शैलियां कहा जाता है।

कूटभाषा (Code Language)—सभी जानते हैं कि भाषा का प्रमुख कार्य है भावों का सम्प्रेषण। किन्तु सम्प्रेषण का रूप सर्वजन व्यक्त भी हो सकता है और कतिपय जन सीमित भी। भाषिक अभिव्यक्ति का यह उत्तरवर्ती रूप है जिसके लिए कूट भाषा का प्रयोग किया जाता है। इसे वृत्ति भाषा या गुप्त भाषा भी कहा जाता है। इस भाषिक पद्धति में श्रोता वर्ग को 'अंतरंग' एवं 'बहिरंग' इन दो वर्गों में विभक्त कर दिया जाता है तथा तदनुसार ही भाषा के भी दो रूप होते हैं एक अंतरंग वर्ग के लिए तथा दूसरा बहिरंग वर्ग के लिए। इसका प्रयोग आमतौर पर अपराध जगत (Crime world) की घृणित वृत्तियों, (चोरी, डाका, हत्या आदि) को अपनाने वाले लोगों के द्वारा किया जाता है। संस्कृत में इसका सुन्दर उदाहरण है विभक्ति श्लेष के प्रसंग में उदाहृत साहित्य दर्पण का

निम्न श्लोक—

सर्वस्वंहर सर्वस्यत्वं भवच्छेदतत्परः ।
नयोपकार साम्मुख्यमायासि तनुवर्तनम्) ।।

जिसमे कि चोरो के सरदार के द्वारा प्रत्यक्ष भाषा मे भगवान शकर की स्तुति की जा रही है तथा कूट भाषा मे अपने वर्ग के लोगो को आवश्यक सकेत दिए जा रहे हैं (जैसे शकर के पक्ष मे—हे हर त्वं सर्वस्य सर्वस्वं" हे भगवान शकर तुम ही सबके सब-कुछ हो, और चोरो के पक्ष मे—त्वं सर्वस्य सर्वस्वं हर "तुम इन सभी के पास जो कुछ भी है सब लूट लो" आदि।

अपराध जगत मे कार्य करने वाले लोगो के अतिरिक्त और भी कई ऐसे वृत्ति वर्ग हैं जिनमे वृत्ति भाषा के रूप मे कूट भाषा का प्रयोग किया जाता है, जैसे तीर्थों पर पौरोहित्य करने वाले पाण्डे किसी व्यवसाय विशेष (यथा बनारसी सिल्क का व्यवसाय विशेष) मे कार्य करने वाले दलाल आदि।

सरचना की दृष्टि से तथा कतिपय अधिक अशो मे भी भाषा सामान्य के अनुरूप होने पर भी अपनी शब्दावली तथा उससे सकेतित अर्थों की अभिव्यक्ति मे यह उससे पर्याप्त भिन्न होती है। अर्थात् कभी तो इसमे अभिप्रेत अर्थ का सम्प्रेषण करने के लिए सर्वथा अपरिचित शब्दावली गढ ली जाती है और कभी सामान्य रूप से अन्य अर्थों के अभिव्यजन शब्दो को अन्य अर्थ प्रदान कर दिए जाते हैं जो कि अधिकतर साकेतिक होते हैं, यथा—बनारस के पण्डो की बोली "सिंघाडा (तीन) गगाजल (मादक पेय) खातिरदारी (अच्छी पिटाई), जीजा जी (पुलिस मैन) आदि।

इसका कोई निश्चित रूप नही होता। समुदाय विशेष अपने 'अतरग' व्यवहार के लिए विभिन्न शब्दो के अभिप्रेत सकेत निर्धारित कर लेता है तथा उन्ही के माध्यम से अपने वर्ग या वृत्ति के लोगो के बीच अपना भाव सम्प्रेषण करता है। इससे भाव सम्प्रेषण के अतिरिक्त उन्हें जो अन्य लाभ होता है, वह है अपने वर्ग के सदस्यो की पहचान। इन कूट सकेतो के द्वारा वे उसी प्रकार 'अतरग' व 'बहिरग' वर्ग का पता लगा लेते हैं जैसे किसी 'कोड' शब्द से सेना की टुकडिया 'स्व' तथा 'पर' पक्ष के सैनिको की पहचान कर लेती हैं।

वर्ग विशेष या वृत्ति विशेष के द्वारा प्रयोग मे लायी जाने वाली कूट भाषा मे सामान्यत ध्वनि परिवर्तन या पद-परिवर्तन नही होता, मात्र उन्हे अभिप्रेत अर्थ सकेतो के साथ जोडा जाता है किंतु कभी-कभी अति प्रचलित को भी अबोधगम्य बनाने के लिए उसमे ध्वनि-परिवर्तन को भी स्थान दिया जाता है किंतु जब कभी उन्हे ऐसा प्रतीत होता है कि उनके द्वारा निर्धारित अर्थ-सकेत बहिरग वर्ग के लोगो

को ज्ञात हो गया तो वे तुरन्त उसे अपनी व्यावसायिक शब्दावली से निकालकर उसके स्थान पर किसी अन्य शब्द को प्रतिष्ठापित कर लेते हैं।

कूट भाषा का एक अन्य रूप कतिपय साम्प्रदायिक भाषिक व्यवहारों मे भी देखा जाता है। यथा—पंजाब मे निहंग सिक्खो की भाषा सामान्य पंजाबी भाषा से अनेक अंशों मे भिन्न है। उदाहरणार्थ छावनी (डेरा), तंबू (कच्छा), परसादे (रोटी) आदि। वे लोग पारस्परिक व्यवहार में इसी भाषा का प्रयोग करते हैं।

कृत्रिम भाषा (Artificial language)—पीछे भाषा की प्रवृत्तियो पर विचार करते हुए सकेत किया गया था कि भाषा का प्रवाह अनादिकाल से अविच्छिन्न रूप मे चलता रहता है तथा अपनी इस यात्रा के दौरान वह सहज रूप से होने वाले परिवर्तनो के फलस्वरूप अपने नये-नये रूपो मे विकसित होती रहती है। किसी भी प्रचलित भाषा को किसी काल विशेष मे किसी व्यक्ति विशेष की या व्यक्ति समुदाय ने बैठकर बनाया हो, ऐसा कोई प्रमाण नही मिलता। भाषा के इस नैसर्गिक विकास के विपरीत यदि किसी विशेष लक्ष्य को सामने रखकर कोई व्यक्ति या समुदाय भाषिक प्रतीको की रचना करे तो वह भाषा का कृत्रिम रूप कहा जायेगा। 19वी शताब्दी के उत्तरार्द्ध मे एक प्रसिद्ध भाषाविद् डॉ० जामेन हाफ (Zamen hof) ने वैज्ञानिक साधनो एव विकसित सैचार व्यवस्था के फलस्वरूप विश्व के विभिन्न भाषाभाषी जनो को एक-दूसरे के निकट सम्पर्क मे आने पर जो भाषिक, आदान-प्रदान की कठिनाइया आती हैं, उन्हे सामने रखकर पारस्परिक व्यापार, राजनीति आदि की सुविधा के लिए एक ऐसी विश्वभाषा के निर्माण का सकल्प किया जो कि विभिन्न भाषाई तत्त्वो के सम्मिश्रण से बनायी जाय तथा जिसके माध्यम से भाषा-भेद जनित समस्त अंतर्राष्ट्रीय कठिनाइयों को दूर कर दिया जाय। भाषिक व्यवहार के इस लक्ष्य की पूर्ति के लिए उन्होने जिस भाषा का निर्माण किया उसे उन्होने 'एस्पिरंतो' (Aspiranto) के नाम से अभिहित किया। 19वी शताब्दी के आठवें दशक मे इसका प्रचार भी हुआ। अनेक विश्वविद्यालयो मे इसका विधिवत् पठन-पाठन भी प्रारम्भ किया गया तथा जिनेवा, लिवरपूल और क्रैको (Cracow) आदि कुछ विश्वविद्यालयो मे इसके लिए आचार्यपीठो की स्थापना भी की गई, किंतु अनेक व्यावहारिक कठिनाइयो के कारण न तो यह लोकप्रिय हो सकी और न स्थायित्व ही पा सकी। इतिहास की एक स्मरणीय घटनामात्र बनकर रह गयी। स्मरणीय है कि एस्पिरातो के निर्माण मे इस बात का विशेष ध्यान रखा गया था कि रूप-रचना की दृष्टि से यह बहुत सरल हो, इसलिए इसे विशिष्ट प्रत्यययोगी भाषाओं के साचे पर ढाला गया, उदाहरणार्थ—लाईतेल्लिजेन्ता, स्तूदेन्तो लैगाम बोनातन लोबातन (मेधावी छात्र पढ़ता है अच्छी पुस्तकें) इसमें ला पद अंग्रेजी के द का स्थानापन्न है, विशेषणो की रचना 'आ' प्रत्यय के योग से होने के कारण 'इन्तोलिजेन्त' का 'इन्तेलिजेन्ता

रूप हो गया, संज्ञा रूपों की संरचना के लिए 'ओ' प्रत्यय का विधान होने से 'स्टूडेन्ट' का 'स्टूडेन्टो' हो गया, वर्तमान काल—'बोधक' आस के योग से लेग का 'लेगास' हो गया तथा बहुवचन बोधक प्रत्यय 'तन' के योग से 'बोना' (अच्छा) का 'बोनोनन' तथा लिब्रो (पुस्तक) का 'लिब्रानन' हो गया। 'विश्वभाषा' निर्माण की दिशा में डॉ० जेमिन हाफ के अतिरिक्त और भी कई भाषा विज्ञानियों ने प्रयत्न किये किन्तु कोई भी सफलता को प्राप्त नहीं कर सका।

मिश्रित भाषा (Pidgin)—पिजिन या मिश्रित भाषा, भाषा का वह रूप है जो कि किन्हीं विशेष परिस्थितियों में ऐसे भिन्न-भिन्न भाषा भाषीजनों के अल्पकालिक सम्पर्क में विकसित हो जाती है जिनकी कोई एक सर्वजनबोध भाषा नहीं होती। विभिन्न प्रकार के सम्पर्कों—यथा, किसी व्यापारिक केन्द्र में भिन्न-भिन्न भाषा भाषी व्यापारियों के व्यापारिक सम्पर्कों, भिन्न-भिन्न भाषा-भाषी पर्यटकों तथा गाइडों के सम्पर्कों, भिन्न-भिन्न भाषाभाषी मालिकों तथा सेवकों के सम्पर्कों से जिस काम चलाऊ या बाजारू भाषा का जन्म होता है वही पिजिन कहलाती है। इसमें अभिप्रेत भावों का सम्प्रेषण करने के लिए किसी भी भाषिक व्यवस्था का पूरी तरह से पालन न करके केवल कतिपय शब्दों के सहारे काम चलाने का यत्न किया जाता है। जैसे कोई हिंदुस्तानी नौकर किसी अंग्रेज मालिक से कहे—"साहब, आप बनाना 'ईट' और वह कहे 'यस' हम खाना माँगता है। या कोई अहिंदीभाषी किसी हिंदीभाषी से बम्बइया हिंदी में कहे "आपुन को देखना मांगता है।" इस प्रकार की भाषा का न तो कोई व्यवस्थित रूप होता है और न इसमें किसी प्रकार के साहित्य की सृजना ही की जाती है। इसमें मात्र काम चलाने के लिए दोनों ही भाषाओं के शब्दों को लेकर उनकी व्याकरणिक व्यवस्थाओं का पालन किये बिना भावाभिव्यक्ति का माध्यम बनाया जाता है। यह उस अपंग की भांति होती है जो कि मजबूरी में चलता तो है पर उसकी दोनों टांगों में से कोई भी टांग स्वस्थ एवं सुदृढ़ नहीं होती।

भाषा के रूप में पिजिन का विकास किन्हीं दो भिन्न-भिन्न भाषा-भाषियों के बीच कभी-कभार होने वाले सम्पर्क से नहीं अपितु निरंतर या प्रायिक सम्पर्कों के फलस्वरूप होता है। इसमें प्रत्येक पक्ष दूसरे की भाषा का अनुकरण करने का असफल प्रयास करता है और दूसरा पक्ष यथार्थ अनुकरण में उसकी अक्षमता को स्वीकार करके उसके टूटे-फूटे अनुकरण को ही स्वीकार कर लेता है। भाषिक शुद्धता पर किसी का भी आग्रह नहीं होता है। इस प्रकार किसी भी मिश्रित या पिजिन भाषा के मूल में दो भिन्न-भिन्न भाषाएं होती हैं और उन्हीं के अस्त-व्यस्त मिश्रण से इसका विकास होता है। इसका एक सुन्दर रूप चीन की अंग्रेजी मिश्रित पिजिन में देखा जाता है। अन्य प्रवासी जनों से युक्त द्वीपों व बन्दरगाहों में भी इसके रूप पाये जाते हैं।

क्रेओलित भाषा(Creolized languages)—किसी क्षेत्र विशेष की पिजिन व मिश्रित भाषा ही कालातर मे क्रेओलित भाषा बन जाती है। दो भिन्न-भिन्न भाषिक स्रोतो से पोषित होने वाली पिजिन की स्थिति तभी तक रहती है जब तक कि उसे उत्पन्न करने वाली भाषिक स्थिति बनी रहती है और वह क्रिओलित भाषा की स्थिति को प्राप्त नही हो जाती। यह स्थिति तब आती है जबकि उस भाषा को बोलने वाले लोगो को आगामी पीढिया उसे अपनी प्रथम भाषा के रूप मे सीखती व उसका उसी रूप मे प्रयोग करती हैं। ऐसा तब होता है जब कि इस नयी पीढी के बच्चो के माता-पिता भिन्न-भिन्न भाषिक समुदायो से सबध रखते है तथा पारस्परिक आदान-प्रदान के लिए उनके पास पिजिन के अतिरिक्त और कोई भाषिक माध्यम नहीं होता है। प्रायेण देखा जाता है कि जब क्षेत्र विशेष के किसी एक परिवार मे नही अपितु अधिकतम परिवारो मे ऐसी ही भाषिक स्थिति उत्पन्न होती है तभी क्रेओलित भाषा की सत्ता संभव होती है। क्योकि इसी स्थिति मे बालक न केवल अपने माता-पिता के वाग्व्यवहार मे अपितु अपने सामाजिक परिवेश मे भी भाषा के इसी रूप से परिचय प्राप्त करता व इसका अर्जन करता है। इसका एक बहुत अच्छा उदाहरण दक्षिण अमेरिका तथा कैरिबिअन क्षेत्र के बागानो मे काम करने वाले उन अफ्रीका के दासो की बोलियो मे पाया जाता है जिन्हे कि एक योजनाबद्ध रूप से अपने कबीलो के लोगों के साथ इसलिए नही रखा गया था कि वे कभी सम्मिलित होकर अपने प्रभुओ के विरुद्ध किसी प्रकार का विद्रोह खडा न कर सके। उस समय उन लोगो मे परस्पर आदान-प्रदान की भाषा के रूप मे मात्र पिजिन ही प्रयुक्त हो पाती थी किंतु इनकी आने वाली पीढियो के बच्चो ने इसे ही अपनी प्रथम भाषा के रूप मे पाया व अर्जित किया। इसी प्रकार मलेशिया मे द्वितीय महायुद्ध के उपरान्त अनेक भाषिक समुदायो में स्वेच्छा से पारस्परिक समागम हो जाने से वे लोग नव-मलेशियन भाषा के नाम से अपने सभी प्रकार के आदान-प्रदानों के लिए इसी का प्रयोग करते है। किन्तु ये क्रेओलित भाषाएं अपनी मूल भाषाओं के अनेक ध्वन्यात्मक एवं रूपात्मक रूपों का परित्याग करके अपना स्वतत्र ढाचा खडा कर लेती है. जोकि किसी भी अन्य भाषा के समान अपना एक स्वतत्र संरचनात्मक अस्तित्व रखता है।

विकृत भाषा (Slang)—*विकृत भाषा सामान्य व्यवहार भाषा का ही एक रूप है जब किसी भाषा समूह के वक्ताओं के भाषिक व्यवहारो मे कुछ ऐसे रूपो का आम प्रचलन हो जाता है जोकि या तो शिष्ट समाज मे स्वीकृत भाषा* के रूपो का विकृत रूप होता है या उनकी दृष्टि मे अग्राह्य होता है तो उसे विकृत भाषा या भ्रष्ट भाषा कहा जाता है। अंग्रेजी में इसके लिए अति प्रचलित शब्द है 'स्लैंग'। अमेरिकन अग्रेजी मे इस प्रकार का भाषिक व्यवहार काफी मात्रा में पाया

जाता है, 'मम', के लिए या 'हलो।' तथा 'हाव् आर यू!' के लिए 'हाय', 'मदर' के लिए 'कैट' मम्मी के स्थान पर 'मोम्' या डैडी के स्थान पर 'डैड' आदि आमतौर पर सुना जा सकता है। इसमें भाषा की व्याकरणिक प्रतिबद्धता, शिष्टजन सम्मतता आदि को विशेष महत्त्व नहीं दिया जाता है। व्याकरणिक व्यवस्थाओं के विपरीत भी शब्द निर्माण कर लिया जाता है। हिन्दी में भी इस प्रकार के प्रयोग आम सुनने को मिल जाते हैं—मक्खन लगाना, गुल्ली करना, किसी की बजाना, *जैसे शिष्ट समाज में अस्वीकृत एवं अश्लीलताबोधक शब्दों का व्यवहार भाषा के* इसी रूप को व्यक्त करता है।

इसके अतिरिक्त इस प्रकार की भाषा में अनेक बार शब्दों को उनके सामान्य अर्थों से भिन्न अर्थों में प्रयुक्त करने का भी प्रयास किया जाता है। उपर्युक्त अंग्रेजी के उदाहरण में मां को 'ओल्ड कैट' (बूढ़ी बिल्ली) कहना, किसी व्यक्ति को गधा या औरत को 'छिपकली' कहना अथवा किसी वृद्ध व्यक्ति को 'खूसट' कहना भाषा के इसी रूप के परिचायक हैं।

वस्तुतः विकृत भाषा का प्रयोग करने वाला एक ऐसा विशिष्ट वर्ग होता है जो कि या तो लोक मर्यादा एवं शिष्टजनों की अभिरुचि की कोई परवाह नहीं *करता या जान-बूझकर उसके विरुद्ध आचरण करने का यत्न करता है।* यह उसकी उच्छृंखलता एवं संस्कारहीनता का भी द्योतक होता है। कभी-कभी ये प्रयोग इतने अधिक प्रचलित होते हैं कि *अनायास ही शिष्टजनों की भाषा में भी* उन्हें स्थान प्राप्त हो जाता है।

विशेषक भाषा (Distinctive Language)—अनेक भाषा समुदायों में विभिन्न प्रकार की द्विभाषिता (dichotomy) की स्थिति पायी जाती है। कभी इसका आधार वर्ग-भेद होता है जिसमें कि उच्च या शिष्ट वर्ग की भाषा निम्न *अर्थात् सामान्य जन वर्ग की भाषा से भिन्न होती है, यथा—संस्कृत नाटकों में जहाँ* कि राजा, ब्राह्मण, ऋषि, मुनि आदि संस्कृत भाषा का प्रयोग करते हैं तथा अन्य *जन भिन्न-भिन्न प्राकृतों का। आधुनिक भाषाओं में इसका एक उत्कृष्ट उदाहरण* तिब्बती तथा इस वर्ग की भाषाओं में देखने को मिलता है जिनमें कि सामान्य जनों के लिए व्यवहृत होने वाली भाषा का रूप शिष्ट जनों के लिए व्यवहृत होने वाली भाषा के रूप से सर्वथा भिन्न होता है। यथा लद्दाखी 'गिर' गो (सामान्य) ऊ (शिष्ट) 'आंख' (मिक्) (सामान्य) श्वन (शिष्ट) 'हाथ' लगपा (सामान्य) छग (शिष्ट), 'खाना' जाचेस (सामान्य) शोलचेस, (शिष्ट) आदि। बताया जाता है कि जावा की भाषा में भी यह वर्गभेद पाया जाता है। उसमें शिष्टजनों के द्वारा व्यवहृत भाषा को 'क्रोमो' तथा सामान्य जनों की भाषा को 'ङोको', कहा जाता है।

वर्ग-भेद पर आधारित भाषा की विविधता के समान ही लिंग-भेद पर

आधारित भाषाओ की स्थिति भी पायी जाती है। दक्षिण अमेरिका मे रहने वाली 'कराया इण्डियन' नामक जनजाति मे पुरुष तथा स्त्रियो की भाषा एक-दूसरे से सर्वथा भिन्न प्रकार की होती है। साहित्यिक तथा सामान्य व्यवहार की भाषा की द्वैधता तो प्राय सभी भाषाओ मे पायी जाती है।

भाषा की उपलब्धि—भाषा के स्वरूप के सम्बन्ध मे चर्चा की जा चुकी है। इसकी उत्पादन प्रक्रिया के सम्बन्ध मे आगे विचार किया जायेगा। यहा पर हम सक्षेप मे इस बात का उल्लेख करेंगे कि व्यक्ति भाषा की उपलब्धि कैसे करता है तथा उसके प्रमुख गुण-धर्म क्या हैं।

यद्यपि भाषा की प्रकृति एव प्रक्रियाओ से अनभिज्ञ जन-साधारण यही समझता है कि प्रकृति-प्रदत्त अन्य कार्यकलापों—हसना, रोना, खाना, पीना, सोना आदि के समान ही भाष की कला भी उसे प्रकृति से सहज रूप मे प्राप्त हुई है किन्तु अनेक परीक्षणो तथा प्रत्यक्ष अनुभूतियो से यह स्पष्ट है कि भाषा हमे उसी रूप मे प्राप्त नही होती जिस रूप मे कि उपर्युक्त अन्य चीजे। मानव मे बुद्धि-तत्त्व की प्रधानता के कारण विभिन्न वागगो के योग से वाग्ध्वनियो को उत्पन्न कर सकने की क्षमता तो प्रकृतिप्रदत्त हो सकती है किन्तु हम अपने वाग्व्यवहार के लिए जिस भाषा या जिन भाषाओं का उपयोग करते है वह प्रकृतिप्रदत्त नही। कहने का अभिप्राय यह है कि कोई भी व्यक्ति अपने जन्म के साथ ही भाषा विशेष मे भावाभिव्यक्ति की क्षमता लेकर उत्पन्न नही होता है। उसे अनेक अन्य वस्तुओ के समान ही इसे भी अपने आसपास के वातावरण से अर्जित करना पडता है। इसीलिए कोई भी मानव-शिशु जिस भाषिक वातावरण मे जन्म लेता है और पोषित होता है वह उसी की भाषा को अपने प्रयासो से सीखता है। जन्मत' उसकी कोई भाषा नही होती है। वह अपने शारीरिक विकास के साथ-साथ उन ध्वनियो एव ध्वनि सकेतो का अनुकरण करता है जिन्हे कि वह बार-बार सुनता रहता है। अपनी इस अनुकरण की प्रक्रिया मे ध्वनि यंत्रो की कोमलता व लचीलेपन के कारण ऐसी ध्वनियों या सुरो का भी अभ्यास कर लेता है कि जिनका यथा तथ्य उच्चारण अन्य भाषाभाषी वयस्को के लिए कठिन होता है। अपनी शैशवावस्था मे ही वह अपने आसपास की भाषा/भाषाओ के पूरे ढाचे से भली-भाति परिचित हो जाता है तथा अपने भाषाई आदान-प्रदान के लिए विविध रूपों में उनका उपयोग करने की क्षमता भी प्राप्त कर लेता है। हम देखते है कि कोई भी सामान्य मानव-शिशु मा-मा, पा-पा जैसे सर्व सरल ध्वनियो के उच्चारण की क्षमता के अर्जन के उपरान्त शनै:-शनै: अपने सामाजिक सम्पर्क के विस्तार के साथ-साथ उसके जटिलतम रूपो के प्रयोग मे कुशल हो जाता है। अपनी भाषिक क्षमता के अर्जन मे किसी शिशु को कितना सघर्ष व अभ्यास करना पड़ता है, इसका अनुमान लगा पाना सरल नही। यदि हम वाचिक अभिव्यक्ति के लिए प्रयत्नशील किसी

शिशु की वाचिक क्रियाओं का सूक्ष्म रूप से अध्ययन व विश्लेषण करें तो देख सकेंगे कि किसी एक ध्वनि या ध्वनि-क्रम को सीखने या आत्मसात करने के लिए उसे कितना अभ्यास करना पड़ता है। वह उन ध्वनियो या ध्वनिक्रमो (शब्दो) को बार-बार अनर्गल रूप से दुहराता है और भूल जाने की स्थिति मे पुनः समीपस्थ आत्मीय जनो से पूछता है। हम देखते हैं कि कई बार कोई शिशु एक ही शब्द को बार-बार पूछता है। वह ऐसा इसलिए करता है कि उसके मस्तिष्क मे श्रुत ध्वनियों का स्वरूप स्पष्टतया अंकित नही हो पाता है। वह बार-बार सुनकर तथा उतनी ही बार दुहरा कर उसके निकटतम रूप को तथा उससे सकेतित अर्थ को भी आत्मसात कर लेना चाहता है। उसका प्रयास होता है कि वह कम से कम उन ध्वनि प्रतीको पर तो अधिकार कर ले जो कि उनके जीवन धारण के लिए आवश्यक भौतिक पदार्थों, दूध, पानी, अथवा किसी विशेष खाद्य सामग्री का सकेत बोध कराती हैं। इसके बाद उसकी आत्माभिव्यक्ति की भावना उसे भाषा के अन्यान्य रूपो को अर्जित करने के लिए प्रेरित करती है। इस प्रकार ज्यो-ज्यो उसका शारीरिक एव बौद्धिक विकास होता है त्यो-त्यो उसकी भाषिक क्षमता का भी विकास होता जाता है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि भाषिक क्षमता के अर्जन मे अविवेचित अनुकरण तथा विवेचित प्रयत्न दोनो का योगदान होता है। इसमे जहा तक मातृ-भाषा के अर्जन का प्रश्न है उसमें बौद्धिक प्रयत्न का योगदान रहते हुए भी सहज अनुकरण का प्राधान्य रहता है किन्तु मातृभाषा या परिवेशीय भाषा के अतिरिक्त किसी अन्य भाषा का ज्ञान प्राप्त करने मे बौद्धिक प्रयत्न का ही विशेष योग रहता है। यद्यपि तात्त्विक दृष्टि से दोनो ही प्रकार का भाषार्जन प्रयत्न-सापेक्ष होता है किन्तु शिशु काल मे भाषार्जन के लिए किए गए प्रयत्न की अनुभूति से हम अनभिज्ञ रहते हैं जबकि अन्य भाषा के अर्जन के लिए किए गए प्रयत्न की हमें स्पष्ट अनुभूति होती है।

2

भाषिकी की परिभाषा एवं विषय

यह तो निर्विवाद है कि भाषिकी का सम्बन्ध मानवीय भाषा के साथ है किन्तु इसकी परिभाषा एवं विषय-क्षेत्र के सम्बन्ध में विद्वानों में मतभेद पाया जाता है। किसी मानव-समूह की भाषा का विविध पक्षों से वैज्ञानिक विवेचन करने के कारण इसे 'भाषा का विज्ञान' अर्थात् 'साइंस आव लैंग्वेज' कहा जा सकता है तथा इस नाम से ही इसका प्रचलन हो भी रहा है। 'भाषा का विज्ञान' कहने से इसकी व्याख्या तो हो जाती है किन्तु यह पारिभाषिक पद नहीं बनता। इसी दृष्टि से आधुनिक विद्वानों ने इसके लिए प्रचलित नामों फिलॉलॉजी, तुलनात्मक भाषा विज्ञान, भाषा-विज्ञान आदि—की अपेक्षा 'भाषिकी' (लिंग्विस्टिक्स) को अधिक उपयुक्त समझा है। इसमें पारिभाषिक शब्दावली की दोनों अपेक्षाओं—संक्षिप्तता तथा सम्यक् अर्थ बोधकता—की पूर्ति हो जाती है। यहाँ पर यह बता देना भी अपेक्षित है कि भाषा के विज्ञान के लिए 'भाषिकी' का प्रयोग उसी प्रकार किया जाता है जिस प्रकार की जीव विज्ञान के लिए 'जैविकी', भौतिक विज्ञान के लिए 'भौतिकी' अथवा रसायन विज्ञान के लिए 'रासायनिकी' जैसे पारिभाषिक पदों का प्रयोग किया जा रहा है।

इसकी परिभाषा के सम्बन्ध में यह स्पष्ट कर देना भी अपेक्षित है कि ज्ञान के अन्य अनुशासनों के समान ही भाषिकी का अध्ययन-क्षेत्र भी स्थिर एवं गतिहीन नहीं है। समय की गति के साथ इसके भी अध्ययनीय पक्षों का भिन्न-भिन्न रूपों में विस्तार होता रहा है तथा अध्ययन के दृष्टिकोणों में भी अन्तर होता रहा है। अतः किसी भी विकासशील विषय के समान ही भाषिकी के सम्बन्ध में भी कोई ऐसी परिभाषा प्रस्तुत नहीं की जा सकती जो कि सभी विद्वानों को उसी रूप में स्वीकार्य हो तथा सदा के लिए अपरिवर्तनीय हो।

जैसा कि ऊपर संकेत किया गया है कि भाषिकी के लिए अंग्रेजी के 'फिलॉलॉजी' पद का प्रयोग भी किया जाता रहा है किन्तु यह शब्द कई दृष्टियों से ग्राह्य नहीं, एक तो कतिपय योरोपीय भाषाओं तथा फ्रेंच, जर्मन (Philologie) आदि में इस शब्द का प्रयोग भाषा-विज्ञान से भिन्न अर्थों में भी किया जाता है तथा अंग्रेजी में इसका प्रयोग भाषिकी की अन्यतम शाखा 'तुलनात्मक भाषा विज्ञान' के अर्थ में किया जाता रहा है। जर्मन भाषा में इस शब्द का प्रयोग मुख्यतः ग्रीक एवं रोमन के पुरातन साहित्यिक ग्रन्थों के पाण्डित्यपूर्ण अध्ययनों के लिए तथा सामान्यतः साहित्यिक प्रलेखों के माध्यम से किये गये सांस्कृतिक अध्ययनों के लिए किया जाता है तथा अंग्रेजी के शब्द फिलॉलॉजी के लिए उसका अपना शब्द है जिसका अर्थ होता है 'तुलनात्मक भाषा विज्ञान' (फग्लाइशेण्डे स्प्राग विशेनशाफ्ट)

इस सम्बन्ध में इतना और भी समझ लेना चाहिए कि 'फिलॉलॉजी' शब्द का प्रयोग उन अध्ययनों के विषय में अवश्य ही संगत कहा जायेगा जिनमें कि यह या तो सांस्कृतिक अनुसन्धानों के लिए भाषिकी के द्वारा सिद्ध तथ्यों को आधार बनाया जा रहा हो या विज्ञान के रूप में स्वीकृत भाषिकी के तथा साहित्य के सौन्दर्यपरक एवं मानवपरक अध्ययनों के बीच के योजकीय सन्दर्भ में किया जा रहा हो।

पारिभाषिक शब्दावली के रूप में भाषिकी एवं भाषा विज्ञान शब्दों में एक उल्लेख्य अन्तर यह भी माना जाता है कि भाषिकी अपने संकीर्ण अर्थ में किसी भाषा के आन्तरिक विश्लेषण एवं विवरण पर अधिक केन्द्रित होती है जबकि भाषा-विज्ञान में इसका विस्तार अर्थ विचार तथा अन्य अनुशासनों तक जाता है।

विज्ञान के रूप में भाषिकी—भाषा के व्यावहारिक रूप पर विचार करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि भाषा मानव विज्ञान के क्षेत्र के अन्तर्गत आने वाला अन्यतम विषय है। किन्तु इसकी प्रकृति व विशेषताएं इसे एक *विशेष विज्ञान* अर्थात् सामान्य भाषिकी के रूप में पृथक् रूप से मान्यता दिये जाने को संगत *ठहराती हैं, किन्तु यहां पर यह भी स्पष्ट कर दिया जाना अपेक्षित है कि भाषिकी* या भाषा विज्ञान में प्रयुक्त होने वाला विज्ञान शब्द ठीक उसी अर्थ में विज्ञान (Science) नहीं जिस अर्थ में गणित, भौतिकी या जैविकी को लिया जाता है

क्योंकि इसमे नियमो की वह सार्वदेशिकता व सार्वभौमिकता उसी व्यवस्थित रूप मे नही पायी जाती है जिस रूप मे कि इन विज्ञानों में। अत. यहा पर विज्ञान शब्द साइंस का समानार्थी न होकर मात्र 'विशिष्ट ज्ञान' का संकेतक है। यहा इसका प्रयोग लगभग उसी प्रकार किया जाता है जिस प्रकार कि राजनीति-विज्ञान, पुस्तकालय-विज्ञान, गृह-विज्ञान आदि मे किया जाता है।

सीमित अर्थ मे भाषिकी को विज्ञान कहने का अभिप्राय यह है कि इसमे भी इसकी उपादान सामग्री-भाषा के उच्चरित एव लिखित रूपो का एक नियमित व्यवस्था के अधीन विश्लेषण किया जा सकता है और अन्य विज्ञानों के समान ही उनका सूचीकरण किया जा सकता है तथा उनमे पूर्वानुमेयता (Predictability) लायी जा सकती है। इसके फलस्वरूप भाषण एव लेखन मे सम्बद्ध अनन्त रूपो को व्यवस्थित प्रक्रियाओ के माध्यम से पूरी सुस्पष्टता (Precision) के साथ प्रस्तुत किया जा सकता है। *प्रसिद्ध भाषाविद् राबिन्स का कथन है कि अपनी कार्य-प्रक्रिया एव तथ्य-कथनो मे यह विज्ञान के तीन अधिनियमो से संचालित होता है—*

1 निःशेषता अर्थात् प्रसंग सगत समस्त सामग्री का सागोपांग विवेचन।

2 सामजस्य या अविरोध, अर्थात् सम्पूर्ण तथ्य-कथनों के विभिन्न अंगो के बीच परस्पर विरोध का अभाव तथा दो पूर्वागत सिद्धान्तो द्वारा आरोपित सीमा के अन्तर्गत सामजस्य।

3. लाघव, अर्थात् सभी बातो के समान होने पर दीर्घतर एवं उलझे हुए कथनो की अपेक्षा लघुतर कथनों या अपेक्षाकृत थोड़े शब्दो का प्रयोग करने वाला विश्लेषण (सामान्य भाषिकी, पृ० 8)

इसके साथ ही यह भी उल्लेख्य है कि भाषिकी स्वय में एक ऐसा प्रयोगाश्रित *विज्ञान है जिसकी विषय-सामग्री का विभिन्न इन्द्रियो द्वारा प्रत्यक्षीकरण किया* जाता है। अर्थात् *वाग्ध्वनियो का श्रवण के रूप मे, उच्चारण से सम्बद्ध वागवयवो की गतिविधि का प्रत्यक्ष दर्शन के रूप मे* अथवा *यान्त्रिक प्रत्यक्षीकरण* के रूप मे, भाषण से उद्भूत सवेदनो का वक्ता द्वारा की जाने वाली अनुभूति के रूप मे, लिखित रूपो का देखने या पढने के रूप मे। प्रयोगाश्रित सामाजिक विज्ञानो मे भाषिकी की वैज्ञानिक स्थिति का मूलाधार समाज के अगभूत मानवों को वाचिक क्रिया-प्रतिक्रिया हुआ करती है, क्योकि भाषा के प्रयोगो की विविध स्थितियो के लिए कम-से-कम दो व्यक्तियों की स्थिति अनिवार्य होती है। किन्तु भाषिकी को एक विशुद्ध विज्ञान की कोटि मे नही रखा जा सकता है। ऐसा करने पर हमारे समक्ष जो एक प्रत्यक्ष कठिनाई उपस्थित होती है वह यह कि इस रूप मे हमे इसे मानविकी एवं *अन्य सास्कृतिक विषयो से पृथक् रखना पड़ेगा।* इस रूप मे यह न तो साहित्य के अध्ययनो के साथ सगति रख सकती है और न उसके रसास्वादन अथवा उसके परिशीलन से प्राप्त होने वाले आनन्द की सहयोगिनी,

भाषा एवं साहित्य के पारस्परिक सम्बन्धों पर हम आगामी पृष्ठों में चर्चा करेंगे ही, किन्तु यहाँ पर इस सम्बन्ध में इतना कहना ही पर्याप्त होगा कि भाषिकी को विज्ञान के अन्तर्गत रखने पर भी इसमें कोई ऐसी असंगति नहीं आती है जो कि अध्ययनीय या लिखित साहित्य के साहित्यिक मूल्यांकन या रसास्वादन में बाधक बनती हो। वस्तुतः स्थिति इसके विपरीत हुआ करती है।

वैज्ञानिकता सम्बन्धी भ्रमनिवारण—यद्यपि भाषिकी में भी अन्य विज्ञानों के समान ही पूर्ण व्यवस्था एवं नियमितताएँ हुआ करती हैं किन्तु कभी-कभी कतिपय उदाहरणों में किन्हीं नियमित रूपों की सत्ता न पाये जाने के कारण अथवा तत्सम्बन्धी अज्ञान के कारण इसे विज्ञान मानने के सम्बन्ध में आपत्ति उठाई जाती है। जबकि गौर से विचार करने पर देखा जाता है कि इस प्रकार अपेक्षित रूपों का अभाव किसी प्रकार की अनियमितताओं के फलस्वरूप नहीं अपितु प्रयोगों के असंरक्षण के कारण होता है। उदाहरणार्थ, संस्कृत शब्दों की ध्वनि विकास परम्परा में हमें कर्म>कम्म, काम/करम जैसे रूपों की स्थिति नियमित रूप में मिलती है, किन्तु चर्म,>चम्म,>चाम/चरम, अथवा धर्म>धम्म>धाम/धरम जैसे शब्दों में 'चरम, चर्म' और 'धाम, धर्म' की स्थिति उसी रूप में नहीं मिल पाती, जबकि वस्तुस्थिति यह है कि 'चर्म' से 'चरम' व 'धर्म' से 'धाम' रूप भी उतने ही नियमित हैं जितने कि 'कर्म' से बनने वाले 'काम' और 'करम' अर्थात् धर्म से विकसित 'धाम' शब्द का प्रयोग 'काम' के समान स्वतन्त्र रूप में न होने पर भी 'काम-धाम' 'तीर्थ-धाम', जैसे समस्त रूपों में चलता ही है। ऐसे ही 'चर्म' का 'चरम' रूप भले ही हिन्दी क्षेत्रों में न चलता हो किन्तु पंजाबी जैसे क्षेत्रों में 'चरम-उद्योग' जैसे प्रयोगों में इसे सुना जाता है। अतः कहीं पर किन्हीं शब्द रूपों का अभाव उस भाषा की ध्वनि-विकास की प्रक्रिया की अनियमितताओं या अव्यवस्थाओं के कारण नहीं अपितु कतिपय प्रयोगों के असंरक्षण के कारण भी हो सकता है।

इसकी सार्वभौमिकता व सार्वकालिकता के सम्बन्ध में भी कुछ भ्रामक प्रश्न उठा कर इसे अवैज्ञानिक सिद्ध करने का जो यत्न किया जाता है वह भी संगत नहीं, सामान्यतः कह दिया जाता है कि इसमें गणित या भौतिकी के नियमों की भाँति 'दो और दो चार' होने अथवा उष्णता के प्रभाव में पानी का वाष्प बनने जैसे शाश्वत एवं सार्वभौमिक नियमों का अभाव पाया जाता है, क्योंकि इसमें सभी देशों व सभी कालों की भाषाओं के परिवर्तनों में उसी प्रकार की एकरूपता नहीं होती जैसी कि उपर्युक्त विज्ञानों में पायी जाती है। इस तर्क में ऊपरी तौर पर तथ्य की झलक दिखाई देते हुए भी उनके मौलिक अन्तरों की उपेक्षा की गई है। अर्थात् दो+दो=चार होने अथवा जल का वाष्प बनने की प्रक्रिया में सर्वत्र मूलभूत तत्त्व एक ही रहता है, वाष्पीकरण की प्रक्रिया में मूलभूत जल-तत्त्व तथा

उष्णत्व मे कोई अन्तर नही होता है जबकि दो भिन्न-भिन्न प्रदेशों या कालो की भाषा के भाषिक तत्त्वों मे मूलभूत अन्तर होता है। उसमें पृथक्-पृथक् भाषिक उपादानो की सत्ता के कारण सभी मे एक ही प्रकार की प्रतिक्रिया की अपेक्षा नही की जा सकती। स्पष्ट है कि पोखर, तालाब, नदी व समुद्र के जल की रासायनिक प्रतिक्रिया शत-प्रतिशत एक रूप नही हो सकती।

इसकी सार्वकालिक एकरूपता के सम्बन्ध मे भी कहा जा सकता है कि जिस प्रकार विभिन्न कालो (दिनो) के अन्तराल से लिये गये तथा विभिन्न प्रकार की स्थितियो (खुले, बन्द) आदि मे रखे गये जल या रक्त के विश्लेषण परिणाम एकरूप नही हो सकते उसी प्रकार विभिन्न क्षेत्रो की विभिन्न भाषाओ मे होने वाले भाषिक परिवर्तन भी सर्वथा एकरूप नही हो सकते। प्रकृति के अन्य पदार्थों मे पाये जाने वाले काल-सापेक्ष परिवर्तनो के समान ही भाषा भी अपने स्थान व पर्यावरण से प्रभावित होकर विभिन्न प्रकार की प्रतिक्रियाओ को व्यक्त करती रहती है। किसी स्थान विशेष तथा काल विशेष की भाषा का विश्लेषण करने पर हम देख सकते हैं कि उनमे होने वाले परिवर्तन सर्वथा नियमित एव व्यवस्थित होते है, यह एक भिन्न प्रश्न है कि हम उन नियमो का पता लगा सकने मे समर्थ होते है या नही। उन व्यवस्थाओ का पता न लगा पाना हमारी अपनी सीमितता हो सकती है, भाषा के नियमों की अनियमितता नही।

इस सम्बन्ध मे यह भी स्मरणीय है कि भाषा-विज्ञान सम्बन्धी नियमो की अनियमितता व अवैज्ञानिकता की बात कतिपय ध्वनि-परिवर्तन सम्बन्धी नियमो को समक्ष रखकर 19वी सदी के उन भाषा-शास्त्रियो ने उठाई थी जिनके समक्ष न तो सम्बद्ध भाषाओ की अखिल भाषिक सामग्री ही थी और न भाषिक विश्लेषणो से सम्बद्ध वैज्ञानिक यत्र। अनेक भाषिक अनुसन्धानो व विश्लेषणो से इन भाषाओ के सम्बन्ध में अनेक नवीन तथ्यो के प्रकाश मे आ जाने से आज वह अस्पष्ट स्थिति नही रह गयी है। प्रयोगात्मक भाषाविज्ञान की प्रयोगशालाओ मे ध्वनियत्रों की सहायता से किये जा रहे अनुसन्धानो के फलस्वरूप आज का भाषाविज्ञानी विभिन्न ध्वनित तत्त्वो का विश्लेषण करके उसी प्रकार के सुनिश्चित निष्कर्ष प्रस्तुत कर सकता है जिस प्रकार कि एक भौतिक विज्ञानी अपनी प्रयोगशाला के माध्यम से विभिन्न भौतिक तत्त्वो के विश्लेषण से। परिकलक (कम्प्यूटर) के आविष्कार के उपरान्त तो भाषा की वैज्ञानिकता का यह पक्ष और भी अधिक पुष्ट हो गया है। अब भाषा के सम्बन्ध में इस प्रकार की आशकाएं प्रस्तुत करना इस विज्ञान की आधुनिक तकनीकी प्रगति सम्बन्धी अज्ञानता का ही परिचायक कहा जायेगा।

स्वनविज्ञान के क्षेत्र मे ही नही अपितु रूप विज्ञान व वाक्यविज्ञान के क्षेत्र मे भी इसकी अभूतपूर्व वैज्ञानिक प्रगति हो चुकी है। प्रजनक व्याकरण (Generative Grammar) तथा सर्वभाषा व्याकरण (Universal Grammar) की

उपलब्धियाँ इसकी वैज्ञानिकता की पुष्टि के लिए पर्याप्त सबल प्रमाण हैं। इन विश्लेषणों से भाषा के अनेक ऐसे नियमों की खोज कर ली गई है जिन्हें निःसन्दिग्ध रूप में सार्वदेशिक व सार्वकालिक कहा जा सकता है।

हठवादी लोगों के मनस्तोष के लिए थोड़ी देर के लिए भले ही यह मान भी लिया जाये कि इसमें उसी कोटि की वैज्ञानिक सूक्ष्मता व यथार्थता नहीं है जैसी कि गणित या भौतिकी में पायी जाती है फिर भी इसे विज्ञान की परिधि में रखने में कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए क्योंकि इसके नियम भी तो उन्हीं के समान कार्य-कारण भाव पर आधारित होते हैं। नासा की प्रयोगशाला के वैज्ञानिकों ने नागेश द्वारा प्रस्तुत सिद्धान्तों के आधार पर यह सिद्ध कर दिया है कि संस्कृत में इतनी वैज्ञानिकता है कि वह कम्प्यूटर की भाषा के लिए शत-प्रतिशत खरी बैठती है।

अतः निरापद रूप में कहा जा सकता है कि भाषिकी भी अन्य वस्तुनिष्ठ विज्ञानों के समान ही एक *विज्ञान है, जोकि किसी भाषा के मूलभूत तत्त्वों की* संरचना प्रक्रिया, प्रयोग आदि का वैज्ञानिक विश्लेषण प्रस्तुत करता है।

3

भाषिकी की उपयोगिता

संस्कृत में प्रायः प्रत्येक शासन के प्रारम्भ में उसके अध्ययन के लाभ या प्रयोजन की बात उठाई जाती है। क्योंकि कहावत है कि **नहि प्रयोजनं विना मन्दोऽपि प्रवर्तते**' अर्थात् मूढ़ व्यक्ति भी किसी प्रयोजन के बिना किसी कार्य में प्रवृत्त नही होता। जब मूढ व्यक्ति के विषय मे भी यह कथन तथ्यपूर्ण है तो फिर क्योंकर एक विज्ञ व्यक्ति किसी प्रयोजन के *बिना किसी शासन* के अध्ययन मे प्रवृत्त हो। बिल्कुल यही बात भाषिकी के अध्ययन के सम्बन्ध मे भी कही जा सकती है।

यद्यपि विद्याध्ययन के सम्बन्ध मे हमारे प्राचीन आचार्यों ने स्पष्ट कहा है—**ब्राह्मणेन निष्कारण. षडंगवेदोऽध्येयो ज्ञेयश्च** (महाभाष्य पस्पशाह्निक)। जिसका अर्थ है ब्राह्मण *अर्थात्* जिज्ञासु को बिना किसी कारण के, अर्थात् बिना *किसी भौतिक उपलब्धि की कामना के छहो अंगो (अर्थात् शिक्षा, कल्प,* निरुक्त, व्याकरण, छन्द और ज्योतिष) सहित वेद (ज्ञान) का उपार्जन कराना चाहिए।

आज के भौतिकता प्रधान युग मे ऐसी बात कहना यद्यपि हास्यास्पद समझा जायेगा फिर भी यह तो एक प्रत्यक्ष सत्य है कि उच्च शिक्षा के नाम पर हम जिन

विषयों—इतिहास, अर्थशास्त्र, राजनीतिशास्त्र, वाणिज्य आदि का अध्ययन करते हैं उनमें हमें सदा ही प्रत्यक्ष रूप से कोई भौतिक लाभ होता ही हो, ऐसा आवश्यक नहीं। इतिहास, भूगोल या गणित में एम० ए० करने के उपरान्त भी एक व्यक्ति दुकानदारी, खेती या किसी कार्यालय में क्लर्की या किसी अन्य विभाग में सेवा करके अपनी आजीविका कमाता है। यह आज का एक प्रत्यक्ष तथ्य है। इसमें जहा एक ओर यह तथ्य है कि उसके अधीत विषयों का ज्ञान प्रत्यक्ष रूप से उसकी भौतिक उपलब्धियों में से किसी प्रकार भी सहायक नहीं होता, वहीं यह भी तथ्य है कि उनके अध्ययन से उसके तद्विषयक ज्ञान की वृद्धि होती है और यदि वह व्यक्ति जिज्ञासु है तो इससे उसकी बौद्धिक जिज्ञासा की तृप्ति भी होती है। फिर भी प्रस्तुत प्रसग को सामने रखते हुए इस शास्त्र के अध्ययन के प्रयोजन तथा इसकी उपयोगिता के सम्बन्ध में निम्नलिखित बातें कही जा सकती हैं।

भाषिकी ही नहीं अपितु किसी भी शास्त्र व विषय के अध्ययन की सर्वसामान्य उपयोगिता तो यह होती है कि वह उस विषय के सम्बन्ध में हमारे ज्ञान अथवा जानकारी में वृद्धि करता है तथा उससे सम्बद्ध वस्तुस्थिति का सही-सही ज्ञान कराने में सहायक होता है। हम जब से अपने आसपास के वातावरण के सम्बन्ध में अपना होश सम्भालते हैं तब से लेकर जब तक सर्वथा चेतनाशून्य नहीं हो जाते तब तक हमारे जीवन सचालन से सम्बद्ध जितने भी कार्यकलाप हैं उनमें भाषा का क्या महत्त्व है यह बतलाने की आवश्यकता नहीं। किसी शिशु के द्वारा प्रथम बार अपने उच्चारणावयवों का उपयोग करके अपनी शारीरिक भूख-प्यास की आवश्यकताओं की पूर्ति से लेकर अपनी विविध बौद्धिक उपलब्धियों तक उसे भाषा की अपरिहार्य आवश्यकता पड़ती ही रहती है। सच है यदि हमारे ऊपर वाग् देवी (भाषा) की कृपा न होती तो हम पाशविक स्थिति से ऊपर नहीं उठ पाते। इसी की कृपा से मानव अपने समाज का सगठन करने तथा अपने वैज्ञानिक चिन्तन से उसे प्रगति के पथ पर ले जाने में सफल हो सका है। सामान्य लोक-व्यवहार में भाषा के इसी महत्त्व को स्वीकार करते हुए आचार्य दण्डी कहते हैं—

वाचामेव प्रसादेन लोकयात्रा प्रवर्तते (काव्या० 1/3) अर्थात् मानव जाति के समस्त कार्य-व्यवहार अथवा लोकयात्रा भाषा के माध्यम से ही सम्पन्न होती है। इतना ही नहीं अपितु उन्होंने तो यहा तक उद्घोषित किया कि हमें शब्दात्मक भाषा का प्रकाश न मिलता तो यह सारा विश्व अन्धकारमय बना रहता।

> इदमन्धतमः कृत्स्नं जायेत भुवनत्रयम्।
> यदि शब्दाह्वयं ज्योतिरासंसारं न दीप्यते ॥ (वही, 1/4)

किन्तु यह एक बड़ी विचित्र बात है कि जिस चीज का हमारे जीवन में इतना महत्त्वपूर्ण स्थान है, जिसके बिना हमारी जीवन-यात्रा ही असम्भव होती है उसके

स्वरूप तथा प्रक्रिया के सम्बन्ध मे हम उसी प्रकार अनजान रहते हैं जिस प्रकार कि हम अपने शरीर की त्वचा-प्रक्रिया तथा उसकी कार्यप्रणाली के विषय मे। अत इस सादृश्यपरक उदाहरण के आधार पर कहा जा सकता है कि जिस प्रकार मानव की शारीरिक-रचना को तथा उसके विभिन्न अवयवो के प्रकार्यों को समझने के लिये शरीर विज्ञान को जानने की आवश्यकता होती है। उसी प्रकार मानव की कण्ठध्वनियो पर आधारित भाषा की प्रकृति, स्वरूप, संरचना-प्रक्रिया एव उसके विभिन्न प्रकार्यों को समझने के लिए भाषा विज्ञान के अध्ययन की आवश्यकता होती है। यह शास्त्र हमें भाषा के सम्बन्ध मे विस्तृत एव वैज्ञानिक जानकारी प्रदान करता है। इसके अध्ययन से कोई भी अध्येता यह जान सकता है कि भाषा के सामान्य प्रमुख तत्त्व क्या होते है, किसी भाषा विशेष की विभिन्न ध्वनियो का उच्चारण किन-किन उच्चारणावयवो की सहायता से किन-किन प्रक्रियाओ के द्वारा हुआ करता है उसकी विभिन्न-ध्वनियो मे ध्वनियो के भेदक तत्त्व कौन-कौन से हो सकते हैं। उसमे मूलत कितनी अर्थभेदक ध्वनिया पायी जाती हैं। किसी अन्य भाषा की समकक्ष ध्वनियो से उनमे किन-किन अंशो मे अन्तर पाया जाता है। यदि उसका पूर्ववर्ती इतिहास उपलब्ध है तो उसके विभिन्न कालो के स्वरूपो मे क्या-क्या अन्तर पाये जाते है? और क्यो? उन ध्वनियों से शब्द कैसे और किस व्यवस्था के अन्तर्गत बना करते हैं। यदि कालक्रम से किन्ही शब्दो के अर्थों मे अन्तर आ गया है तो वह क्यो तथा किस प्रकार का है। दो भिन्न भाषाओ मे कोई सम्बन्ध है या नही। यदि है तो किस प्रकार का। ऐसे ही यदि उनमे कोई अन्तर है तो क्यो? उसका रूप क्या है? पारस्परिक व्यवहार मे भाषा का कब-कब किन-किन रूपों मे व्यवहार किया जाता है? आदि, आदि।

भाषिकी के अध्ययन से भाषा के सम्बन्ध में अध्येता में एक वैज्ञानिक दृष्टि-कोण का विकास होता है। वह भाषा के स्वरूप एवं प्रयोग आदि मे समय के साथ-साथ होने वाले परिवर्तनो को भाषा की विकृतिया या अशुद्धिया न मानकर उसमे होने वाले स्वाभाविक विकास का रूप मानता है। उसका दृष्टिकोण रूढ़िवादी न रहकर प्रगतिवादी हो जाता है। प्रयोग और विकास की दृष्टि से उसके लिए सस्कृत के तद्भव मूल 'अन्तः+राष्ट्र' तथा 'राजनीति' से विकसित हिन्दी के 'अन्तर्राष्ट्रीय' एव 'राजनैतिक' रूप संस्कृत के व्याकरण के नियमो से बनने वाले 'अन्तरराष्ट्रीय' तथा 'राजनीतिक' की अपेक्षा अधिक ग्राह्य होगे। इसी प्रकार 'उपर्युक्त' के स्थान पर प्रयुक्त होने वाला 'उपरोक्त' रूप भी उसकी दृष्टि से सर्वथा शुद्ध होगा। वह भाषा के रूपो को परम्परागत शृंखलाओ में जकड़े रखने की अपेक्षा उसके प्रयोगसिद्ध रूपो को अधिक महत्त्व देता है। क्योंकि कोई भी जीवित भाषा निरन्तर प्रयोग में आते रहने के कारण दीर्घ काल तक एक ही रूप मे बंधी हुई नही रह सकती। उसमे सभी स्तरो पर परिवर्तनो का आना एक

स्वाभाविक प्रक्रिया है। भाषा मे होने वाले इन परिवर्तनो को रूढ़िवादी व्यक्ति भाषा के विकार कहकर उन्हें स्वीकार करने का विरोध करता है और भाषा विज्ञान इन्ही परिवर्तनो को भाषा का स्वाभाविक विकास मानकर स्वागत करता है।

इस सम्बन्ध मे यहा पर इतना और भी उल्लेख्य है कि भाषा विज्ञानी स्वय नये प्रकार के शब्दो का निर्माण करके उन्हें प्रचलित करने का यत्न नही करता है, किन्तु यदि लोक-व्यवहार मे कोई शब्द परम्परागत व्याकरण के नियमो के आधार पर बनने वाले शब्द के अनुरूप न होकर यत् किंचित् भिन्न रूप मे प्रचलित हो जाता है तो वह उसे भाषा का एक विकसित रूप मानकर स्वीकार्य समझता है। उसे 'अपभ्रंश' कहकर उसका बहिष्कार नहीं करता है। हा, आवश्यकता पड़ने पर वह सम्बद्ध भाषा की प्रकृति के अनुरूप पारिभाषिक शब्दो का निर्माण अवश्य करता है।

भाषिकी के अध्ययन की एक अन्यतम उपयोगिता यह है कि यह हमे भाषा या भाषाओ के विषय मे एक उदार तटस्थ दृष्टिकोण प्रदान करती है। इससे यह भाषाओ के सम्बन्ध में प्रचलित सकीर्ण विचारधाराओ—अपनी-पराई, उन्नत-अउन्नत, पावन-म्लेच्छ से ऊपर उठकर उन सबको समान दृष्टि से देखता है तथा समान रूप से उनका आदर करता है। क्योकि वैज्ञानिक दृष्टि से देखने पर उसे सभी भाषाए अपने आप मे पूर्ण एव समर्थ दिखाई देती हैं। क्योकि किसी भी भाषा का मूल प्रयोजन होता है उस समाज के मानवो के बीच वाग्व्यवहार के माध्यम से भावाभिव्यक्ति। यदि वह भाषा अपने इस प्रकार्य को पूरा करने मे समर्थ है तो वह उतनी ही पूर्ण व समर्थ है जितनी की कोई अन्य भाषा। एक सच्चे भाषा विज्ञानी के लिए विश्व के किसी भी मानव-समाज की भाषा उतनी ही मान्य व अध्ययन का विषय है जितनी की उसकी अपनी मातृभाषा। स्पष्ट है कि मानव-समाज मे इस प्रकार के दृष्टिकोण का विकास भाषा के नाम पर उत्पन्न होने वाली अनेक प्रकार की कटुताओ का परिमार्जन कर सकता है।

व्यावहारिक अनुप्रयोग :

व्यावहारिक दृष्टि से देखने पर भी देखा जा सकता है किसी अन्य भाषा का ज्ञान अर्जित करने मे भाषिकी के अध्ययन से प्राप्त दृष्टि सर्वाधिक सहायक होती है। भाषा चाहे कोई भी क्यो न हो, उसका अपना ही एक व्यवस्थित ढाचा होता है जो कि उसके अपने भाषाई नियमो एव विधानो से सचालित होता है। दूसरी ओर भाषा चाहे कितने ही छोटे तथा पिछड़े वर्ग की क्यो न हो, उसका प्रयोग-क्षेत्र बड़ा विस्तृत होता है। पृथक्-पृथक् रूप से उसके सभी रूपो का उपार्जन किसी भी मानव के लिए सर्वथा असम्भव होता है किन्तु एक बार उसकी व्यवस्था मे परिचित हो

जाने पर उसके लिए उसका सम्यक् व्यवहार करना सरल हो जाता है। अर्थात् उसकी ध्वनि-प्रक्रिया अथवा रूप-रचना-प्रक्रिया के किसी एक नियम से परिचित हो जाने पर वह उसी प्रकार के असंख्य रूपों का प्रयोग कर सकने में समर्थ हो जाता है। उसे पृथक्-पृथक् रूपों को जानने की आवश्यकता नहीं रहती।

भाषिकी की आधारभूमि पर किया गया किसी भी भाषा का अध्ययन व प्रयोग सामान्य अध्ययन की अपेक्षा कहीं अधिक शुद्ध एवं सुदृढ़ हुआ करता है। व्यावहारिक दृष्टि से किसी अन्य भाषा का ज्ञान उपार्जन कर लेने के बाद भी अधिकतर लोग ऐसे होते हैं जो कि उसकी मूलभूत ध्वनि-प्रक्रिया से परिचित न होने के कारण न तो उसके मूल उच्चारण को पकड़ पाते हैं और न भाषा प्रयोग में ही सर्वथा निश्चित हो पाते हैं। हमारे देश में तो स्वयं अपनी मातृभाषा के शुद्ध उच्चारण के लिए ध्वनि-विज्ञान का अध्ययन आवश्यक समझा जाता था। 'शिक्षा' ग्रन्थों के नाम से अभिहित होने वाला हमारा पुरातन साहित्य इसी का रूप था। क्योंकि प्राचीन काल में हमारे ज्ञान के भंडार वैदिक साहित्य का अध्ययन एवं अध्यापन मौखिक परम्परा से हुआ करता था अतः उसकी ध्वनियों एवं ध्वनि संयोगों का सम्यक् ज्ञान परमावश्यक था। तत्कालीन शिक्षा में इसका इतना महत्त्व समझा गया कि आचार्यों ने ज्ञान की इस प्रक्रिया को ही शिक्षा कहना प्रारम्भ कर दिया। आज के संकीर्ण होते हुए विश्व में जबकि सभी प्रकार के व्यक्तियों को अपनी मातृभाषा के अतिरिक्त अन्य अनेक स्ववर्गीय व अन्य वर्गीय भाषाओं का व्यावहारिक ज्ञान प्राप्त करना होता है तो ऐसी स्थिति में भाषिकी के साथ थोड़ा-बहुत परिचय उसे अन्य भाषा के सम्यक् ज्ञानार्जन में बहुत सहायक हो सकता है। अन्यथा लक्ष्यीभूत भाषा की मूलभूत विशेषताओं को जाने व आत्मसात् किये बिना उसका प्रयोग करने पर उसका विदेशीपन या परायापन तो झलकेगा ही, कभी-कभी वह हास्य या नाराजगी का पात्र भी बन सकता है।

भाषिकी की प्रयोगात्मक शाखा (Applied Linguistics) का उपयोग भाषा एवं साहित्य के शिक्षण के क्षेत्र में बड़ी सफलता के साथ किया जा रहा है। इतर भाषा शिक्षण में दोनों ही भाषाओं की भाषिक संरचनाओं का ज्ञान शिक्षण में बहुत सहायक होता है। दोनों के व्यतिरेकी विश्लेषण (Contrastive Analysis) तथा त्रुटि विश्लेषण (Error Analysis) की सहायता से शिक्षक पहले से ही शिक्षार्थी को सतर्क कर सकता है कि वह लक्ष्यीकृत भाषा के उपार्जन में कहां-कहां त्रुटियां कर सकता है। उनका पूर्वाभास करा कर वह उसकी उन त्रुटियों का परिमार्जन कर सकता है।

इसके अतिरिक्त भाषा-शिक्षण से सम्बद्ध पाठ्य सामग्री को तैयार करने में भी भाषिकी अत्यधिक सहायता कर सकती है। अन्य भाषा-भाषियों के लिए तैयार की जाने वाली पाठ्य पुस्तकों को तैयार करने में ही नहीं, अपितु मातृभाषा के रूप

में भी अध्ययन करने वाले छात्रों के लिए तैयार की जाने वाली पाठ्य पुस्तकों के निर्माण में भी सहायक हो सकती है अर्थात् यदि इस भाषा की प्रकृति को सामने रखकर ये पाठ्य पुस्तकें तथा अन्य सामग्री तैयार की जाये तो वह अधिक सरल, वैज्ञानिक और उपयोगी होगी।

इसी प्रकार भाषिकी की एक अन्य शाखा शैली विज्ञान के द्वारा, जिसका विकास पिछले कुछ दशकों में ही हुआ है, किसी साहित्यिक कृति का वस्तुनिष्ठ साहित्यिक मूल्यांकन करने में बड़ी सहायता मिल सकती है।

पाठ-निर्धारण—प्राचीन पाण्डुलिपियों तथा ग्रन्थों के पाठ-निर्धारण में भी भाषिकी का महत्त्वपूर्ण योगदान हो सकता है। तत्कालीन भाषा के स्वरूप एवं साहित्यकार द्वारा प्रयुक्त भाषा के विविध रूपों के परीक्षण व विश्लेषण के बाद विवादास्पद रूपों के सम्बन्ध में निर्णायक परिणाम निकाले जा सकते हैं। इन ग्रन्थों में प्रतिलिपिकारों के द्वारा लिप्यंकन में की गयी अशुद्धियों का पता लगाकर पाठ-शोधन के कार्य में भी भाषिकी का सहयोग प्राप्त किया जा सकता है और प्राचीन ग्रन्थों के अनेक सम्पादकों ने इसी पद्धति से शुद्ध पाठों का निर्धारण किया भी है।

उपर्युक्त शिक्षा या ज्ञानार्जन सम्बन्धी क्षेत्रों के अतिरिक्त और भी कई ऐसे व्यावहारिक विषय हैं जिनमें भाषिकी का ज्ञान हमारे समाज के सभी वर्गों के लोगों के लिए उपयोगी सिद्ध हो सकता है तथा हो रहा है। इनमें से कुछ का संकेत इस प्रकार है।

संचार-व्यवस्था—भाषा वैज्ञानिक अध्ययनों का उपयोग बड़ी सफलतापूर्वक स्वचालित अथवा यान्त्रिक अनुवादों की व्यावहारिक समस्याओं तथा भाषा के प्रयोग से सम्बद्ध सांख्यिकीय प्राविधियों के लिए किया जा रहा है। इसी प्रकार संचार अभियान्त्रिकी (Communication engineering) के क्षेत्र में भी भाषा संकेतों के आधारभूत संघटनों का ज्ञान बड़ा उपयोगी सिद्ध होता है जिनका कि सम्प्रेषण व अधिग्रहण इसके माध्यम से सम्पन्न किया जाता है।

अभियान्त्रिकी के क्षेत्र में भाषिकी का सर्वोत्तम उपयोग होता है संचार-व्यवस्था में, विशेष कर दूर-संचार-सेवाओं के क्षेत्रों में अथवा यान्त्रिकी अनुवादों के क्षेत्रों में। इनके उपयोग में आने वाले विविध प्रकार के ध्वनि यन्त्रों के निर्माण में स्वन प्रक्रिया का ज्ञान बड़ा उपयोगी सिद्ध होता है, यान्त्रिकी सम्प्रसारण में भिन्न-भिन्न ध्वनियों का भिन्न-भिन्न रूपों में प्रत्यक्षीकरण होता है तथा भिन्न-भिन्न भाषिक परिवेशों में उनका भ्रमात्मक प्रत्यक्षीकरण हो सकता है या होता है, प्रेषणीयता की दृष्टि से उन्हें स्वाभाविक रूपों में प्राप्त करने के लिए सम्बद्ध यन्त्रों में किस प्रकार के परिवर्तन अपेक्षित होंगे, इत्यादि प्रश्नों का उत्तर ध्वनि विज्ञान के अध्ययन से ही प्राप्त किया जा सकता है। बेतार के तार से भेजे जाने वाले संदेशों तथा

कम्प्यूटर आदि के बोर्डों का निर्माण भी भाषिकी के सहयोग से ही किया जा सकता है।

वाक्-चिकित्सा—हकलाने तुतलाने जैसी वाक् विकृतियों का सम्बन्ध साक्षात् रूप से हमारे वागवयवों तथा उच्चारण प्रक्रिया के साथ होता है। अत वाक् चिकित्सा के लिए प्रयोगात्मक भाषिकी का ज्ञान अत्यन्त आवश्यक होता है। वह अपने रोगी की उच्चारण सम्बन्धी कठिनाइयों का अभिरचनात्मक विश्लेषण करके तदनुरूप उपचार की व्यवस्था करके उसे ठीक कर सकता है।

लिपि-चिह्न-निर्धारण—अपरिष्कृत भाषाओं के लिए लिपि-चिह्नों के निर्धारण तथा परिष्कृत भाषाओं की लिपि-व्यवस्था के सुधार के कार्य मे भाषिकी का महत्त्वपूर्ण योगदान हो सकता है। जो भाषाए अभी साहित्यिक रूप को प्राप्त नही हो सकी हैं और जिनकी अपनी कोई लिपि भी नही है ऐसी अपरिष्कृत भाषाओ के लिए वैज्ञानिक पद्धति के आधार पर प्रतीकों (लिपि-चिह्नों) के निर्धारण व उनकी व्यवस्था का कार्य उस भाषा की वाग्-ध्वनियों के सम्यक् विश्लेषण के उपरान्त ही हो सकता है। क्योंकि किसी भी भाषा की लिपि की वैज्ञानिकता एव पूर्णता के लिए यह आवश्यक है कि उसमें केवल उतने ही ध्वनि-चिह्नों का निर्माण किया जाये जितनी की उसकी सार्थक अर्थात् अर्थ-भेदक ध्वनिया हो, अर्थात् एक लिपि-चिह्न एक ही सार्थक ध्वनि का प्रतिनिधित्व करे और प्रत्येक सार्थ ध्वनि के लिए एक पृथक् ध्वनि चिह्न हो। ऐसा नहीं कि अंग्रेजी की भांति-एक 'क' ध्वनि के लिए एकाधिक लिपि चिह्न (सी, के, सी-एच, क्यू आदि) हों तथा च (ts) या ज (dz) आदि के लिए कोई लिपि-चिह्न नही है। ध्वनि विज्ञान की सहायता से यह कार्य पूरे वैज्ञानिक एवं व्यवस्थित रूप से किया जा सकता है। इसके अतिरिक्त भाषिकी की सहायता से उन भाषाओं की लिपियों को भी व्यवस्थित एवं उपयोगी बनाया जा सकता है जिनकी अपनी पुरानी लिपिया हैं तो सही, किन्तु विकास-क्रम मे निरर्थक हो चुकी है, यथा हिन्दी मे अब मूर्धन्य 'ष' तथा 'ऋ' का उच्चारण न होने से उनका प्रयोग अब केवल परम्परा का पालन मात्र रह गया है जो कि भाषा के ऊपर एक व्यर्थ का बोझ बना हुआ है।

भाषा के अनुप्रयोग की दृष्टि से एक अन्य महत्त्वपूर्ण क्षेत्र है भाषिक साधनों का प्रचार के लिए उपयोग। शक्ति भाषा (Power language) का ज्ञान व उपयोग उन लोगो के लिए एक शक्तिशाली शस्त्र के रूप मे सिद्ध हो रहा है जो कि व्यापक प्रचार साधनों (Mass media) के रूप मे अपने विचारों को फैलाने, लोगों की विचारधारा को मोडने में अथवा राजनीतिक, व्यावसायिक या सामाजिक दृष्टियों से जनता पर अपना प्रभाव जमाना चाहते है अथवा अपने उत्पादों का विज्ञापन करना चाहते हैं।

इसी प्रकार के अन्य अनेकानेक प्रयोजनों की सिद्धि के लिए विशेष रूप से प्रयुक्त किये जाने वाले भाषा-विज्ञान के सभी प्रयोग उसके व्यावहारिक अनुप्रयोगों की परिधि के अन्तर्गत परिगणित किये जा सकते हैं और किये जा रहे हैं।

इस सम्बन्ध में प्रो० राबिन्स का परामर्श है कि भाषा वैज्ञानिक अध्ययनों से प्राप्त होने वाले उपफलों (By products) के महत्त्व को स्वीकार करना सर्वथा उपयुक्त होते हुए भी भाषा विज्ञानियों को चाहिए कि वे स्वयं को प्रयोगात्मक भाषा-विज्ञान में न उलझाए। उनका विषय अपनी पृथक् सत्ता के साथ उसी प्रकार अभिरुचिपूर्ण स्वतन्त्र महत्त्व रखता है जिस प्रकार कि उद्यान विज्ञान के सन्दर्भ में बिना वनस्पति विज्ञान या कीटोद्भूत रोगों अथवा कृषिनाशक जीव-जन्तुओं के नियन्त्रण के संकेत के बिना कीट विज्ञान।

इसके अतिरिक्त बहुभाषा-भाषी क्षेत्रों में भाषा विज्ञानी कई बार अपनी भाषा सम्बन्धी विश्लेषणात्मक योग्यता के आधार पर भाषा सम्बन्धी विवादों को सुलझाने में भी सहायक हो सकता है। हमारे देश में ही भाषाधार प्रान्तों के विभाजन के सिद्धान्त को स्वीकार करने के बाद अनेक राज्यों के इस प्रकार के विवाद उत्पन्न हुए हैं और हो रहे हैं। सम्बद्ध क्षेत्रों की भाषाओं का वैज्ञानिक ढंग से अध्ययन करके ही इनका सर्वमान्य हल ढूंढा जा सकता है। क्योंकि दो सीमावर्ती क्षेत्रों की भाषाओं में विद्यमान सूक्ष्म भाषिक विभेदों को भाषा-विज्ञानी के अतिरिक्त और कोई नहीं पकड़ पाता है।

भाषिकी की अन्यतम शाखा समाज-भाषिकी के आधार पर किसी समुदाय की भाषा का विश्लेषण करने पर उस समुदाय के सम्पूर्ण सामाजिक ढांचे, सांस्कृतिक पृष्ठभूमि एवं चिन्तन प्रक्रिया का ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है। इतना ही नहीं अपितु कभी-कभी तो उनकी भाषा के विश्लेषणों के माध्यम से ही उनके अज्ञात अतीत के इतिहास का भी पता लगाया जा सकता है। आधुनिक अनुसन्धान के सन्दर्भ में समाजशास्त्री तथा नेतृत्व विज्ञानी के लिए भाषिकी की यह शाखा एक महत्त्वपूर्ण आधार बनती जा रही है।

इसी प्रकार भाषिकी की एक अन्य शाखा ऐतिहासिक भाषिकी के अध्ययन से किसी भी भाषा के इतिहास तथा उसके परिवार की अन्य अनेकानेक भाषाओं के साथ उसके सम्बन्धों को जानने में विश्वसनीय सूचनाएं प्राप्त हो सकती हैं। यहां तक कि विभिन्न महाद्वीपों में बोली जा रही भाषाओं के बीच पायी जाने वाली असामान्य समानताओं के आधार पर भाषा विज्ञानी उनके पारस्परिक सम्बन्धों तथा पुरातन रूपों की पुनर्रचना करके उनके मूल रूपों तक पहुंच सकता है। इसका एक ज्वलन्त उदाहरण है 19वीं शताब्दी में ग्रीक, लैटिन, संस्कृत, स्लाव तथा उनसे विकसित आधुनिक यूरोपीय एवं एशियाई आदि भाषाओं की तुलना के आधार पर 'भारोपीय' नामक भाषा परिवार की खोज। इसके सम्बन्ध में अधिक प्रकाश इस ग्रन्थ के द्वितीय भाग में डाला जायेगा।

4

भापिकी के विश्लेष्य विषय

किसी भी भापा का विश्लेषण करने पर यह सहज ही देखा जा सकता है कि उसकी व्यवस्था व संरचना कितनी जटिल होती है किन्तु यह एक बडे आश्चर्य की बात समझी जाती है कि मानव अनायास ही उसकी इन जटिलताओ को आत्मसात् करके उसके प्रयोग मे प्रवीणता प्राप्त कर लेता है। भाषा की इन जटिलताओ का आभास हमे तब होता है जबकि हम किसी विदेशी भाषा को सीखने लगते हैं अर्थात् अपनी भाषा के व्यवहार काल मे भले ही हमे भाषा की उच्चारण या प्रयोग सम्बन्धी कठिनाइयो की अनुभूति न होती हो किन्तु जब हम स्वय किसी अन्य भाषा के उच्चारणो या प्रयोगो का अभ्यास करते है या किसी अन्य को उसका व्यवहार करते हुए सुनते हैं तब हमे उसकी सरचनात्मक कठिनाइयों की अनुभूति होती है। भाषाविज्ञानी भाषा विशेष की इन्ही सरचनात्मक और प्रयोगात्मक विशेषताओ का विश्लेषण करके उन्हे सूत्रबद्ध एव पूर्वानुमेय (predictable) बना देता है। जिससे एक ओर तो उस भाषा विशेष के बोलने वालो को अपनी भाषा के स्वरूप तथा उसकी विशिष्टताओं का बोध होता है तथा

दूसरी ओर उस भाषा के अध्ययन एवं अध्यापन के सम्बन्ध में अनेक प्रकार की भाषिक कठिनाइयों का परिहार हो जाता है।

भाषिक विश्लेषणों के सम्बन्ध में यहां पर यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि मानवीय वाग् व्यवहार का कोई भी रूप ऐसा नहीं जो कि भाषिक विश्लेषण का विषय न बन सकता हो। भाषा चाहे साहित्यिक हो या असाहित्यिक, जीवित हो या मृत, एककालिक हो या अनेककालिक, एक देशीय हो या अनेकदेशीय, उच्च वर्ग की हो या निम्न वर्ग की, किसी एक पेशे से सम्बद्ध हो या दूसरे से, यन्त्रात्मक हो या सामान्य, सभी का विश्लेषण एवं विवेचन भाषिकी के विवेच्य विषय के अन्तर्गत आ जाता है।

विश्लेषण के स्तर (Levels of Analysis)—सामान्य भाषिकी में सम्बद्ध विश्लेषण के स्तरों के सम्बन्ध में यह ध्यान रखने की बात है कि किसी भाषा या भाषाओं के वैज्ञानिक विवरणों को प्रस्तुत करने के लिए भाषा-विज्ञानी अपने आपको किसी काल विशेष पर केन्द्रित करके तथा अपनी विवेच्य सामग्री को विभिन्न रूपों में परीक्षण करके उसके परस्पर सम्बद्ध भाषिक स्तरों पर विचार करता है, जिन्हें पारिभाषिक रूप में विश्लेषण के स्तर कहा जाता है।

जिस प्रकार किसी भी विद्योचित (अकादमिक) विषय की सीमाओं तथा परिज्ञान के सम्बन्ध में विद्वानों में मतभेद हो सकता है उसी प्रकार भाषिक विश्लेषणों के स्तरों के विषय में भी हो सकता है। फिर भी मोटे तौर पर कतिपय भाषिक तत्त्व ऐसे हैं जिनके स्तरों के सम्बन्ध में अधिकतर विद्वानों में सहमति पायी जाती है। उल्लेख्य है कि भाषिकी के प्रमुख अंग, जिनका विवेचन किसी भी भाषा के भाषिक विश्लेषण में किया जा सकता है, उनका सम्बन्ध भाषा के मूल घटक तत्त्वों-ध्वनि, शब्द (पद), वाक्य एवं अर्थ के साथ होता है। हमारे सामान्य भाषिक, व्यवहार में भी भाषा के ये रूप इसी क्रम में हमारे सम्मुख आते हैं। ध्वनियों से पद, पदों से वाक्य, तथा वाक्य से अर्थ की अभिव्यक्ति भी इसी रूप में होती है। विस्तार के साथ गहन रूप में इनका अध्ययन एवं विश्लेषण करने के लिए जिन प्रक्रियाओं, पद्धतियों का विकास किया गया है उन्हें पारिभाषिक रूप में—1. स्वन प्रक्रिया या स्वानिमिकी (Phonology), 2. रूप-प्रक्रिया (Morphology), 3 वाक्य-विचार (Syntax) तथा 4 अर्थविज्ञान या शब्दार्थ-विज्ञान (Semantics) के नाम से अभिहित किया जाता है।

सामान्यतः भाषिक विश्लेषणों का रूप निम्नलिखित प्रकारों में से किसी एक अथवा एकाधिक प्रकार का हो सकता है।

1. स्वन-प्रक्रिया—सामान्य भाषिकी में मात्र मानव कण्ठ से निःसृत ध्वनि रूपों पर आधारित भाषा का ही अध्ययन किया जाता है। भाषा का यही वह तत्त्व होता है जिसका कि उसके उच्चरित रूप में सर्वप्रथम प्रत्यक्षीकरण होता है। यही

किसी भी भाषा की भाषिक संरचना का मूलाधार तत्त्व होता है। भाषा विशेष की ये ध्वनियां किन-किन वागवयवों के द्वारा किन-किन स्थानों से तथा उच्चारण की किन-किन प्रक्रियाओं मे उत्पन्न होती हैं, एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति तक उनका सम्प्रेषण किस प्रक्रिया से होता है, एक ध्वनि दूसरी ध्वनि से क्यो भिन्न होती है, उन दोनो में कौन से तत्त्व ऐसे होते हैं जो कि उनमें भेदकता उत्पन्न करते हैं, उन भेदक तत्त्वों के आधार पर भाषा विशेष के कुल कितने स्वनिम हो सकते हैं, उन्हें कितने-कितने वर्गों तथा उपवर्गों मे विभाजित किया जा सकता है, भेदकता के आधार पर निर्धारित ध्वनियो मे कितनी खण्डीय तथा कितनी खण्डेतर ध्वनियां हो सकती हैं, आदि विषयो का अनुसन्धान या निरूपण किया जाता है।

इसके अतिरिक्त भाषिकी के कालक्रमिक पक्ष से अध्ययन या विवेचन करने पर जिन अतिरिक्त पक्षों पर विचार किया जाता है वे है—मूलतः उस भाषा की ध्वनियां कितनी और कौन-कौन थी ? समय के साथ-साथ उनमे कब-कब व किस-किस प्रकार के परिवर्तन या विकार उत्पन्न होते रहे ? उनके कारण व दिशाएं क्या-क्या रही ? आदि। भारत की आर्य भाषाओं में ही वैदिक काल की भाषा से लेकर आधुनिक भाषाओं तक किस प्रकार के ध्वन्यात्मक या स्वनिमात्मक परिवर्तन हुए, यह इसी प्रकार के विश्लेषण मे देखा जा सकता है। भाषिक विश्लेषण की इसी पृष्ठभूमि पर ही विभिन्न ध्वनि-नियमों का अनुसन्धान व निर्धारण किया जाता है।

2. रूप-प्रक्रिया—ध्वनि के बाद भाषा की अगली स्थूल इकाई पद या शब्द होती है जो कि प्रायः एकाधिक ध्वनियो के संयोग मे बनती है। इसके अन्तर्गत भाषा विशेष में पाये जाने वाले शब्द-भेदो, यथा—संज्ञा, सर्वनाम, क्रिया, विशेषण, अव्यय, निपात आदि की स्थापना एवं उनकी संरचनात्मक प्रक्रिया पर प्रकाश डाला जाता है अर्थात् शब्द निष्पत्ति से सम्बद्ध उपसर्ग, प्रकृति, प्रत्यय आदि तत्त्वों का विवेचन किया जाता है। साथ ही भाषा विशेष में पायी जाने वाली व्याकरणिक कोटियों, यथा—लिंग, वचन, पुरुष, काल, आदि का विवेचन किया जाता है।

3 वाक्य-विचार—अर्थबोध की दृष्टि से भाषा की न्यूनतम इकाई माने जाने पर भी संरचनात्मक दृष्टि से वाक्य को उसकी स्थूलतम इकाई कहा जाता है। इसमें भाषा विशेष के संरचनात्मक नियमो के अनुसार एकाधिक पदो का सघटन होता है जो कि अपने समीपी सघटकों के आधार पर उनसे अभिप्रेत अर्थ की अभिव्यक्ति करते हैं। वाक्यावयवीभूत पदो का परस्पर क्या सम्बन्ध होता है, अर्थात् वे किस रूप मे अन्वित हो सकते हैं तथा किस रूप मे नही हो सकते ? वाक्य के गठन मे किस कोटि के पद (अर्थात् कर्ता, क्रिया, कर्म, विशेषण) का कौन-सा स्थान होगा ? अर्थ के प्रयोग के आधार पर भाषा विशेष मे कितने प्रकार के वाक्यों की रचना सम्भव हो सकती है तथा उनकी पद संरचना के क्या

रूप हो सकते हैं आदि विषयों का विवेचन ही वाक्य-विचार का मुख्य विषय हुआ करता है।

4 **अर्थ विज्ञान/शब्दार्थ विज्ञान**—किसी भाषा के भाषिक विश्लेषण में उसके शब्दों के अर्थों का विश्लेषण भी महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है, क्योंकि मात्र सार्थक ध्वनियों या ध्वनि समूहों (पदों) पर ही भाषिक वाग्व्यवहार सम्भव हो सकता है। *ध्वनि एवं पद यदि भाषा के स्थूल शरीरावयव हैं तो अर्थ उसकी आत्मा।* शब्द एवं उससे अभिप्रेत अर्थ के बीच का सम्बन्ध होता है, किसी शब्द का कोई अर्थ क्यों एवं कैसे निर्धारित होता है, कालान्तर में किसी शब्द का अर्थ क्यों बदल जाता है, उप-परिवर्तन की क्या-क्या दिशाएं हो सकती हैं, इत्यादि विषयों का विवेचन अर्थ-विचार के अन्तर्गत किया जाता है।

इस सम्बन्ध में यहां पर इतना और भी समझ लेना चाहिए कि ऊपर निर्दिष्ट तत्त्व समस्त रूप में अथवा एक या दो तत्त्वों के रूप में किसी भाषा के विवेचन के के लिए चुने जा सकते हैं, यद्यपि उसके सांगोपांग विश्लेषण के लिए इन सभी उप-व्यवस्थाओं के अन्तर्गत अध्ययन अपेक्षित होगा।

5

भाषिक विश्लेषण के उपगम

सामान्यत अभी तक भाषिक अध्ययनों के जो रूप सामने आये हैं तथा उन्हें जिन वर्गों मे विभक्त किया जा सकता है, उनके नाम हैं —

1 वर्णनात्मक 2 ऐतिहासिक 3. तुलनात्मक, 4. प्रायोगिकी (Applied) 5 समाज भाषिकी (Socio-linguistic), मनोभाषिकी (Psycho-linguistic) आदि। तथा इन अध्ययनो मे भाषा के जिन रूपों को आधार बनाया जाता है तथा विश्लेषण के लिए जिन प्रक्रियाओं को अपनाया जाता है उनका संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है—

1. **वर्णनात्मक भाषिकी**—वर्णनात्मक भाषिकी को साकालिक भाषिकी भी कहा जाता है क्योंकि इसमे भाषा के उस रूप का अध्ययन किया जाता है जो कि समय के किसी एक बिन्दु अथवा काल विशेष मे प्रचलित होता है। इसमे भाषा के समकालीन रूपो को लेकर ध्वनि, रूप, वाक्य आदि के स्तर पर उनका विश्लेषण किया जाता है। भारतवर्ष में इस प्रकार के अध्ययन का उत्कृष्टतम उदाहरण है आचार्य पाणिनि द्वारा अष्टाध्यायी मे प्रस्तुत तत्कालीन संस्कृत भाषा का सागोपाग विवरण। इस प्रकार के अध्ययन मे न तो भाषा के

विकास के सम्बन्ध में विचार किया जाता है और न ही किसी अन्य भाषा के रूपों के साथ उसकी तुलना ही की जाती है। इसमें भाषा विज्ञानी का मुख्य लक्ष्य मात्र उस भाषा में प्रयुक्त हो रही ध्वनियों तथा रूप-रचनात्मक प्रक्रियाओं का विश्लेषण प्रस्तुत करना होता है। यहां तक कि प्रारम्भ में तो भाषा विज्ञान की इस शाखा के अग्रणियों ने अर्थतत्त्व का भी इस प्रकार के विश्लेषणों से बहिष्कार कर दिया था किन्तु अब वह स्थिति नहीं रही। क्योंकि अर्थतत्त्व की स्वीकृति के अभाव में तो *'अर्थ भेदकता' पर आधारित स्वनिम (Phoneme)* की भी स्थापना सम्भव नहीं हो सकती। इसी प्रकार रूप-रचना में भी अर्थ तत्त्व के अभाव में प्रकृति-प्रत्यय आदि का विश्लेषण कठिन हो जायेगा। अब तो ध्वनि स्तर पर अर्थभेदक तत्त्वों का अध्ययन करने वाली एक स्वतन्त्र शाखा ही विकसित हो गयी है जिसे 'ग्लासिमी' कहा जाता है।

2 ऐतिहासिक भाषिकी—ऐतिहासिक भाषिकी को कालक्रमिक भाषिकी के नाम से भी अभिहित किया जाता है क्योंकि इसमें भाषा के किसी काल विशेष के रूपों का अध्ययन न करके उसकी सम्पूर्ण ऐतिहासिक यात्रा का विवरण प्रस्तुत किया जाता है। इसमें बताया जाता है कि अध्ययनीय भाषा का प्रादुर्भाव कब तथा कहां हुआ था या हुआ होगा, उस समय उसके भाषिक तत्त्वों—ध्वनि, रूप आदि की क्या स्थिति थी या रही होगी, इस यात्रा के दौरान विभिन्न कालों में उसके भाषिक तत्त्वों में क्या-क्या विकार (विकास) या परिवर्तन होते रहे, अपने वर्तमान रूप को प्राप्त करने से पूर्व उसका क्या रूप था, आदि-आदि। उदाहरणार्थ, भारतीय आर्य *वर्ग की किसी आधुनिक भाषा का कालक्रमिक विश्लेषण प्रस्तुत करते समय हमें* दिखाना होगा कि उसे अपने वैदिक कालीन भाषा के रूप से लेकर आधुनिक रूप को प्राप्त करने तक किन-किन रूपों को प्राप्त करना पड़ा अर्थात् ध्वनि, पद तथा अर्थ की दृष्टि से विभिन्न कालों में लौकिक संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश आदि में क्या-क्या परिवर्तन आते रहे। भाषा की विकास-यात्रा के इन काल-क्रमिक रूपों को देखने के लिए यह आवश्यक है कि अनुसन्धाता को तत्तत्काल की लिखित प्रामाणिक सामग्री, यथा पुरातन साहित्य, शिलालेख आदि उपलब्ध हों। यों तो प्रत्येक काल के भाषिक तत्त्वों के विश्लेषण का रूप वर्णनात्मक प्रक्रिया से ही किया जाता है अत: इस अध्ययन में भी वर्णनात्मक भाषिकी की प्रक्रिया का पालन होता है, किन्तु यह अध्ययन निरपेक्ष न होकर पूर्वापरसापेक्ष होता है तथा भाषा विशेष की सम्पूर्ण विकास-यात्रा का शृंखलाबद्ध इतिहास प्रस्तुत करता है इसलिए इसमें वर्णनात्मकता *की अपेक्षा ऐतिहासिकता को अधिक महत्त्व दिया जाता है। वस्तुत भाषिकी को* एक स्वतन्त्र अध्ययन एवं अनुसंधान के विषय के रूप में मान्यता प्रदान कराने का श्रेय ऐतिहासिक भाषिकी को ही है। उन्नीसवीं शती में इस क्षेत्र में इतना अधिक

व महत्त्वपूर्ण कार्य हुआ है कि इसे ऐतिहासिक भाषा विज्ञान का स्वर्णयुग माना जाता है।

3. तुलनात्मक भाषिकी :—जैसाकि इसके नाम से ही स्पष्ट है कि इस प्रकार के अध्ययन में तुलना पर अधिक बल दिया जाता है, साथ ही यह भी स्पष्ट है कि तुलना के लिए एकाधिक इकाइयों का होना आवश्यक है। ये इकाइया कम-से-कम दो तथा अधिक-से-अधिक असख्य भी हो सकती हैं। इस प्रकार के अध्ययन मे सांकालिक तथा कालक्रमिक दोनो ही पद्धतियों का योग हुआ करता है। इसके अतिरिक्त तुलना का आधार समकालीन भाषाए भी हो सकती हैं तथा पूर्वापर कालिक भाषाए भी। तुलना भाषाओ के किन्ही भी तत्वों—ध्वनि, पद, वाक्य या अर्थ को आधार बनाकर की जा सकती है।

इस प्रणाली को यदि भाषाविज्ञान की जन्मदात्री कहा जाय तो कोई अत्युक्ति न होगी। क्योंकि सस्कृत, ग्रीक तथा लेटिन की तुलना करने पर उनमे देखी गई असामान्य समानताओ ने ही भाषाशास्त्रियों को इस दिशा मे अधिकाधिक गहन अनुसधान के लिए प्रेरित किया था। एक प्रकार से ऐतिहासिक तथा वर्णनात्मक भाषाविज्ञान इसी के ही उपफल (by-product) हैं जिन्हें बाद मे स्वतन्त्र रूपो मे विकसित किया गया। स्मरणीय है कि प्रारम्भ मे भाषा विज्ञान का सामान्य सकेत बोध 'तुलनात्मक भाषा-विज्ञान' (Comparative philology) के नाम से ही किया जाता था। बाद मे इसकी अन्य प्रणालियों के विकसित हो जाने तथा उन्हें स्वतन्त्र रूप से मान्यता दे दिये जाने से इसके विशेषक 'तुलनात्मक' शब्द को पृथक् कर दिया गया तथा उसे इसकी अन्यतम शाखा का पद दे दिया गया।

4. प्रायोगिक भाषिकी —भाषिक विश्लेषणों की दृष्टि से यद्यपि इसे कोई स्वतन्त्र प्रणाली नही कहा जा सकता, किन्तु इसकी प्रयोग पद्धति उपर्युक्त पद्धतियों से भिन्न होने के कारण आधुनिक युग मे इसने एक स्वतन्त्र पद्धति के रूप में अपना स्थान बना लिया है। इसका उपयोग मुख्यतः भाषा शिक्षण (प्रथम या द्वितीय), भाषा सर्वेक्षण तथा अनुवाद आदि के क्षेत्र में किया जाता है। भाषा-शिक्षण मे ध्वनियो के शुद्ध उच्चारण की शिक्षा, व्यतिरेकी विश्लेषण के आधार पर भाषोपार्जन मे सम्भाव्य त्रुटियों, दोषों का पूर्वानुमान, अनुवाद की शैली व तकनीक आदि के अतिरिक्त इसमें भाषा शिक्षण तथा अनुवाद से सम्बद्ध विविध यन्त्रो, उपकरणो आदि के प्रायोगिक पक्ष पर विशेष बल दिया जाता है।

5. समाज भाषिकी :—समाज भाषिकी का एक अन्य अभिधान मानव जाति भाषा-विज्ञान (Ethno-linguistics) भी है। राबिन्स, आर० एच० के अनुसार भाषिकी तथा मानव विज्ञान के बीच सैद्धान्तिक तथा व्यावहारिक दोनों ही प्रकार के अन्त.शास्त्रीय सम्बन्धो के विशेष अध्ययन को मानव-जाति भाषा-विज्ञान कहा जाता है।

समाज भाषिकी का मुख्य विवेच्य विषय है—भाषिक व्यवहार के सन्दर्भों में किसी मानव समुदाय की सामाजिक व्यवस्था एवं संस्कृति का अध्ययन करना। यह एक बहु-आयामी अध्ययन प्रक्रिया है तथा इसका महत्त्व दिन-प्रतिदिन बढ़ता जा रहा है। हमारे समाज के अन्य अनेक कार्यकलापों के समान हमारा भाषिक वाग्व्यवहार भी सामाजिक व्यवस्थाओं से नियमित होता है। किस विशेष सामाजिक सन्दर्भ में किस व्यक्ति के साथ भाषा की किस विशेष शब्दावली का प्रयोग अपेक्षित होता है इसका निर्धारण समाज विशेष के वाग्व्यवहार के नियमों द्वारा ही होगा। इसलिए समाज भाषाविज्ञानी इस तथ्य को समक्ष रखकर चलता है कि सामाजिक दृष्टि से निर्धारित विभिन्न स्थितियों में अपनी भाषा का उपयुक्ततम रूप में प्रयोग करने की कुशलता भी भाषिक क्षमता (Linguistic competence) का उतना ही महत्त्वपूर्ण अंग है जितना कि व्याकरण की दृष्टि से शुद्ध वाक्यों का प्रयोग। अपेक्षाकृत दृष्टि में यह भाषिकी की नवीनतम शाखा है तथा *अभी पूरी तरह से अपने रूप और क्षेत्र का निर्धारण भी नहीं कर सकी है।* विश्लेषणीय विषयों की दृष्टि से उसमें तथा वर्णनात्मक भाषिकी में जो मुख्य अन्तर पाया जाता है वह यह है कि समाज-भाषिकी में विश्लेषण का ध्यान मुख्य रूप से सामाजिक वाग्व्यवहार की उपयुक्तता पर केन्द्रित होता है जब कि वर्णनात्मक भाषिकी में उसका ध्यान उसकी भाषिक संरचना पर। समाज-भाषिकी के मूल से जो धारणा कार्यशील रहती है वह यह है कि यद्यपि स्पष्ट रूप से भाव-संचार के लिए भाषा का व्याकरणिक दृष्टि से शुद्ध होना आवश्यक है किन्तु सामाजिक वाग्व्यवहार के लिए भाषा का शुद्ध होना मात्र ही पर्याप्त नहीं। क्योंकि उसमें वक्ता को सामाजिक दृष्टि से स्वीकार्य भाषिक प्रयोगों के लिए भिन्न-भिन्न सामाजिक सन्दर्भों में समाज विशेष की मान्यताओं के अनुरूप भिन्न-भिन्न भाषिकी रूपों का चयन करना होता है अर्थात् एक ही भाव की अभिव्यक्ति के लिए प्रचलित अनेक शब्दों में से सामाजिक मान्यता की दृष्टि से किस शब्द का प्रयोग किस विशिष्ट सन्दर्भ में करना है, इसका निर्णय भी उसके लिए अपेक्षित होता है—अतः कहना होगा कि समाज भाषिकी का मुख्य विवेच्य विषय है—"कौन व्यक्ति किससे, किस सामाजिक सन्दर्भ में, किस प्रकार के भाषिक प्रयोगों के माध्यम से वाग्व्यवहार करता है।"

इसके अन्तर्गत आने वाले अन्य विवेच्य विषय हैं—समाज में स्तर-भेद तथा पाये जाने वाले भाषिक विभेदों का अध्ययन, वाग्व्यवहार के स्तर पर सम्बोधन-परक व्यवसाय-भेद से अथवा वस्तुतः वाचक शब्दावली का समाज सन्दर्भीय विश्लेषण, समाज विशेष की सांस्कृतिक शब्दावली के विश्लेषण के द्वारा उस समाज के सांस्कृतिक पक्षों का निरूपण, अशुभ या वर्जित समझी जाने वाली शब्दावली का विवेचन तथा उन भावों को व्यक्त करने के लिए अपनाई जाने

जाने वाली पर्यायोक्तियों का विश्लेषण, उस भाषाई समुदाय के द्वारा विभिन्न पदार्थों व सकल्पनाओ के लिए प्रयुक्त की जाने वाली शब्दावली अथवा उनकी अभिव्यक्ति के प्रकारों मे निहित भाषिक समुदाय की सास्कृतिक एव सामाजिक धारणाओं का विश्लेषण, समाज के विभिन्न वर्गों तथा प्रत्येक वर्ग के अन्तर्गत उसके विभिन्न सदस्यों के बीच वाग्व्यवहार की परम्परागत मान्यताओ का विश्लेषण तथा समाज के बदलते हुए सन्दर्भों मे भाषिक परिवर्तनों का अध्ययन।

6 **मनोभाषिकी**—भाषा तथा मनोविज्ञान के अन्तःशास्त्रीय (Inter disciplinary) अध्ययन को मनोभाषिकी के नाम से अभिहित किया जाता है। यह भी भाषिक विश्लेषण की एक आधुनिकतम शाखा के रूप मे सामने आयी है।

मनोभाषिकी के अन्तर्गत मुख्य रूप से जिन विषयों का अध्ययन व विवेचन किया जाता है वे हैं—भाषा का स्नायविक एव मानसिक पक्ष, मन स्थिति का एव शाब्दिक व्यवहार का अन्तःसम्बन्ध, ध्वनिउच्चारण, ध्वनिग्राहकता एव मानसिक वृत्तियों का पारस्परिक सम्बन्ध, अर्थतत्त्व का निर्धारण तथा उसके ग्रहण की प्रक्रिया, चिन्तन प्रक्रिया के भाषिक आयाम, भाषिक सम्पर्क तथा तदनुगत प्रभाव, शिशुओं मे भाषिक उपार्जन की प्रक्रिया, उच्चारण तथा ग्रहणगत वाचिक विकृतियां आदि।

हमारे मनोभावों तथा अनुभूतियों का हमारी भाषिक अभिव्यक्तियों के साथ गहरा सम्बन्ध होता है। आमतौर पर हमारे वागुच्चारों अथवा वाचिक क्रियाकलापों से हमारी मानसिक स्थिति का सकेत भी मिला करता है। यह भी एक अद्भुत तथ्य है कि हमारी मनःस्थिति के अन्तरो के कारण हमारे वागुच्चारो एवं वाचिक अभिव्यक्तियों के रूपो मे भिन्नता आ जाया करती है। इच्छित या अनिच्छित रूप मे मानव की वागात्मक अभिव्यक्तियां उसकी मन स्थिति की तथा उसके व्यक्तित्व की सकेतक हुआ करती हैं।

वस्तुतः भाषा के साथ हमारी अति निकटता तथा एक अविच्छिन्न संबंध होने के कारण हम यह देख भी नहीं पाते हैं कि भाषा स्वयं मे एक साधन भी है और साध्य भी। साधन रूप मे यह हमारे अव्यक्त व्यक्तित्व का व्यक्त रूपायन है। हमारे वास्तविक तथा वैचारिक तथ्य के सारे क्रिया-कलाप किसी न किसी रूप मे हमारे भाषिक माध्यमों के साथ जुड़े हुए होते हैं। भाषिक प्रक्रिया में ही हमारे बोधात्मक व क्रियात्मक अवयवों की सामूहिक सक्रियता का विधान घटित होता है। भाषा विज्ञान तथा मनोविज्ञान दोनों ही मानव जाति मे सम्बद्ध विज्ञान हैं। हमारे वाचिक व्यवहार की प्रतिक्रिया हमारे मन पर होती है और मन.स्थिति की प्रतिक्रिया हमारी वाचिक अभिव्यक्तियों पर। सुखद एव मधुर शब्दों को सुनकर मन का पुलकित होना तथा दुखद एव कटु शब्दों को सुनकर मानसिक खिन्नता का होना अथवा भिन्न-भिन्न प्रकार के मानसिक आवेगों की स्थिति मे तदनुरूप भिन्न-

भिन्न मानसिक प्रतिक्रियाओं का होना यह हम सबके लिए एक अनुभवसिद्ध प्रसंग है। और अपने इस दैनन्दिन अनुभवों के आधार पर हम सहज ही देख सकते हैं कि 'मन' व 'भाषा' के बीच एक घनिष्ठ सम्बन्ध होता है। यहां तक कि हमारी वाणी का प्रस्फुटन भी मानसिक प्रेरणा से ही हुआ करता है। पाणिनीय शिक्षा (6 9) में इसी बात को इस प्रकार दर्शाया गया है—

आत्मा बुद्ध्या समेत्यार्थान् मनो युङ्क्ते विवक्षया
मनः कायाग्निमाहन्ति स प्रेरयति मारुतम् ॥6॥
मारुतस्तूरसि चरन् मन्द्रं जनयते स्वरम्।
? ... ...
सोदीर्णो मूर्ध्न्यभिहतो वक्त्रमापद्य मारुत ।
वर्णाञ्जनयते तेषां विभाग· पञ्चधा स्मृतः ॥ 9 ॥

अर्थात् किसी वाग्ध्वनि के उच्चारण की कामना करने वाले व्यक्ति का चेतन तत्त्व (आत्मा) उसके विवेक तत्त्व (बुद्धि) के साथ संयुक्त होकर जिन अर्थों का साक्षात्कार करना चाहता है उनकी अभिव्यक्ति की कामना से (विवक्षया) मन-शक्ति को उद्बोधित करता है तथा इस प्रेरणा को पाकर मनःशक्ति, शारीरिक शक्ति (प्राणवायु) को प्रेरित करती हैं। इसके फलस्वरूप वह वायु श्वास-नलिका के मार्ग से चलती हुई स्वर यन्त्र से टकरा कर मन्द्र ध्वनि को जन्म देती है और वहां वायु मुखविवर में भिन्न-भिन्न स्थानों पर अवरुद्ध होकर पांच प्रकार की व्यक्त ध्वनियों (वर्णों) को जन्म देती है।

उपर्युक्त कथन में स्पष्ट रूप से यह स्वीकार किया गया है कि मन ही हमारे उच्चारों की मूल प्रेरक शक्ति है, अतः हमारे उच्चारों पर उसका व्यक्त प्रभाव रहता है।

इसके अतिरिक्त हम देखते हैं कि भाषाओं में प्रायः ध्वनि परिवर्तन या अर्थ परिवर्तन हो जाया करता है अथवा एक ही शब्द का अनेक अर्थों में प्रयोग किया जाने लगता है। ऐसा क्यों होता है, इसका उत्तर ढूंढने में भी मनोविज्ञान हमारी पूरी सहायता करता है।

भाषिकी का कतिपय अन्य विद्वानों से सम्बन्ध—शास्त्रीय विश्लेषणों के रूप में सार्वभौम रूप से मान्यताप्राप्त भाषिकी की उपर्युक्त शाखाओं के अतिरिक्त अनुसन्धान एवं व्यावहारिक उपयोगिता के कतिपय अन्य विषय भी हैं जिनमें कि भाषिकी का ज्ञान प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप में सहायक होता है। इनमें से प्रमुख हैं बोली-विज्ञान तथा कोश-विज्ञान।

बोली विज्ञान (*Dialectology*)—इसके अन्तर्गत भाषा के जिन पक्षों का अध्ययन किया जाता है, वे हैं—किसी विस्तृत भाषा क्षेत्र में बोली जा रही अनेक भाषाओं या उपभाषाओं के प्रसार-क्षेत्रों का निर्धारण करना, उनमें से प्रत्येक के

व्यवहार-क्षेत्र का तथा उनमें व्यवहृत होने वाले भाषिक रूपों का विवरण प्रस्तुत करना, उनका भौगोलिक वितरण करना अथवा विभिन्न भाषिक तत्वों—ध्वनि, रूप, शब्दार्थ में साम्य एवं वैषम्य को निरूपित करने वाले मानचित्रों (Maps) तथा समभाषाश सीमारेखाओं (Isoglosses) को प्रस्तुत करना, उनके सीमा क्षेत्रों में पाये जाने वाले पारस्परिक प्रभावों का तथा उनकी भाषिक निकटता अथवा दूरी के आधार पर उनका वर्गीकरण करना आदि-आदि। इसे बोली भूगोल (Linguistic Geography) भी कहा जाता है। किन्तु बोली-भूगोल की अपेक्षा बोली-विज्ञान का क्षेत्र अधिक विस्तृत होने से इसे बोली-विज्ञान कहना ही अधिक उपयुक्त होगा।

कोशविज्ञान—भाषा विशेष में प्रयुक्त होने वाले सभी सार्थक शब्दों का वर्णानुक्रम में संकलित रूप ही कोश कहलाता है। इसके संकलन तथा व्यवस्थापन के सम्बन्ध में वैज्ञानिक जानकारी प्रस्तुत करना कोश विज्ञान का कार्य होता है और इसका विवेच्य होता है—शब्दों के मूल स्रोतों का, उनकी व्युत्पत्तियों का तथा उनके अर्थों की पूर्वापरता का निर्धारण करने के प्रकारों तथा उनके आधारों का सैद्धान्तिक विवेचन। इन विषयों का परिगणन यद्यपि भाषिकी के प्रमुख विवेच्य विषयों में नहीं किया जाता है फिर भी इसका सम्बन्ध भाषा के साथ होने तथा इसकी प्रवृत्तियों का सम्बन्ध भाषा के ऐतिहासिक, तुलनात्मक तथा सामाजिक, सांस्कृतिक सभी रूपों में होने के कारण भाषिकी की इन शाखाओं का ज्ञान इसे वैज्ञानिक रूप में प्रस्तुत करने में सहायक हो सकता है। उल्लेख्य है कि कोश रचना के क्षेत्र में वैदिक शब्दकोशों (निघण्टुओं) का निर्माण विश्व के कोश-निर्माण-कला का प्राचीनतम रूप माना जाता है।

6

भाषिकी के अन्तर्विद्यिक सम्बन्ध

मानव के साथ भाषा का अन्योन्याश्रित सम्बन्ध होने तथा अधिकांश शास्त्रों एवं विज्ञानों के अध्ययन का केन्द्र बिन्दु मानव ही होने के कारण भाषिकी का सम्बन्ध अन्य शास्त्रों के साथ सहज ही जुड़ जाता है। किन्तु भाषिकी तथा अन्य शास्त्रों के साथ पाये जाने वाले ये सम्बन्ध तथा किन्हीं स्थितियों में सापेक्ष किन्हीं में निरपेक्ष तथा किन्हीं में पूरक हुआ करते हैं। इन्हीं में से उन कतिपय सम्बन्धों के विषय में हम ऊपर चर्चा कर ही चुके हैं जहाँ पर कि वे अध्ययन की एक विशेष शाखा के रूप में स्वतन्त्र रूप से विकसित हो चुके हैं। यहाँ पर अब हम कतिपय उन सम्बन्धों पर प्रकाश डालने का यत्न करेंगे जो कि पूरक रूप में एक-दूसरे के साथ सहयोग करते हैं।

1 व्याकरण—भाषिकी और व्याकरण के बीच अति निकट का एवं घनिष्ठ सम्बन्ध है जिसे अंगांगी भाव सम्बन्ध के नाम से परिभाषित किया जा सकता है अर्थात् भाषिकी अंगी है और व्याकरण उसका एक अंग। इसीलिए भाषिकी को कभी-कभी 'व्याकरण का व्याकरण' भी कह दिया जाता है। भाषिकी के बिना व्याकरण अन्धा एवं विवेकहीन होता है। वह भाषा के बाह्य विवेचन के स्वरूप का

व उसे व्यवहार सगत बनाने वाले नियमों की व्यवस्था तो कर सकता है तथा उस भाषा का प्रयोग करने वालों के लिए आख मूदकर उनका अनुसरण करने का आदेश भी करता है किन्तु वह यह नही बता सकता कि भाषिक व्यवहार के लिए मान्य वे रूप कब, क्यों, कैसे प्रयोग में *आये। इसीलिए व्याकरण को वर्णनात्मक* भाषा विज्ञान भी कहा जाता है क्योकि उसका कार्य है भाषा के निष्पन्न रूपो का विवरण प्रस्तुत करना । किन्तु भाषिकी का कार्य है भाषा के इन रूपों की निष्पन्नता के पीछे कार्यशील भाषिक नियमो का पता लगाना। कहना न होगा कि यदि व्याकरण भाषा विशेष की अभिरचनाओ मे कार्यशील भाषिक नियमो की खोज व व्यवस्था करता है तो भाषिकी उन नियमो के मूल मे कार्यशील भाषिक प्रवृत्तियो के इतिहास की व सिद्धान्तो की व्याख्या करती है। प्रत्येक भाषा मे अनेक ऐसे *शब्दरूप प्रयुक्त होते हैं जिनके सम्बन्ध में व्याकरण उनकी साधुता का प्रमाण* पत्र तो दे देता है किन्तु उनमें पायी जाने वाली विसंगतियो का उसके पास कोई उत्तर नहीं होता। यह उत्तर मिल सकता है भाषिकी से । उदाहरणार्थ, संस्कृत मे सामान्य धातु-प्रत्यय व्यवस्था के अनुसार अस् धातु के लट् लकार अन्य पुरुष के रूप बनने चाहिए थे—अस्ति, अस्तः, असन्ति, किन्तु बनते हैं अस्ति, स्तः, सन्ति। इसी प्रकार प्रथम पुरुष सर्वनाम के कर्त्ता के तीनो रूपो में तीन पृथक्-पृथक् मूल देखे जाते हैं अहम्, आवाम्, वयम्। इसी प्रकार अन्य पुरुष सर्वनाम का कर्त्ता एक वचन में *तो रूप बनता है सः किन्तु द्वि० व० और बहु० व० मे तौ, ते।* व्याकरण के पास इन दृश्यमान विसगतियो का कोई तर्क-सगत उत्तर नही। आगम, लोप आदि का विधान एक अवैज्ञानिक व्यवस्था मात्र है। इसका वैज्ञानिक एव तर्क-सगत उत्तर पाने के लिए हमें इनके ऐतिहासिक विकास को *तथा समय-समय पर कार्यशील* ध्वनि नियमो को देखना होगा जो कि भाषिकी का अपना विषय है। इसीलिए भाषिकी को भाषा की आंख भी कहा जाता है।

इस सम्बन्ध मे यह भी स्मरणीय है कि व्याकरण का क्षेत्र सीमित तथा दृष्टिकोण रूढ़िवादी होता है, जबकि भाषिकी का क्षेत्र अत्यन्त विस्तृत तथा दृष्टिकोण प्रगतिवादी अर्थात् व्याकरण का क्षेत्र किसी भाषा विशेष तक तथा उसके परम्परागत रूपों तक ही सीमित होता है, परम्परा से हटकर बने हुए रूपो *को वह अशुद्ध एवं अपभ्रंश कहकर उनका बहिष्कार कर देता है; किन्तु भाषिकी* का विवेच्य विषय क्षेत्र विश्व की कोई भी भाषा या भाषाएं हो सकती हैं। वह व्याकरण की भांति भाषाओं में साधु-असाधु, सभ्य-असभ्य आदि का भेद नही *करती। उसका दृष्टिकोण उदार एव सार्वभौम* होता है, उसकी दृष्टि में भाषा में विकसित रूप भी उतने ही ग्राह्य होते है जितने कि मूल रूप। उदाहरणार्थ, भाषिकी के लिए 'उपरोक्त' शब्द भी उतना ही ग्राह्य है जितना कि उपर्युक्त,

किन्तु रूढ़िवादी व्याकरण 'उपरोक्त' रूप को मान्यता देने के लिए तैयार नहीं होगा।

2 भाषिकी और साहित्य—साहित्य तथा भाषिकी के विषय क्षेत्रों में पर्याप्त अन्तर होते हुए भी दोनों काफी मात्रा में एक-दूसरे के सहायक हो सकते हैं। साहित्य का स्थूल आधार भाषा है और भाषा का शुद्ध एवं संगत प्रयोग करने के लिए भाषिकी की एक प्रमुख शाखा वर्णनात्मक भाषिकी का ज्ञान अपेक्षित होता है। इसके अतिरिक्त भाषिकी की ऐतिहासिक एवं काल-क्रमिक दृष्टि से तुलनात्मक शाखाओं का अध्ययन तो साहित्य की आधारभूत सामग्री के बिना हो ही नहीं सकता। यदि हमारे पास वैदिक संस्कृत, साहित्यिक संस्कृत, पाली, प्राकृत, अपभ्रंश आदि का साहित्य न होता तो हमारे लिए भारतीय आर्य भाषाओं का या भारत-ईरानी वर्ग की भाषाओं का ऐतिहासिक एवं तुलनात्मक अध्ययन करना कठिन ही नहीं अपितु असम्भव भी होता। भारत में ही आग्नेय व तिब्बत-बर्मी परिवार की अनेक भाषाएं ऐसी हैं जिनका कोई पिछला साहित्य उपलब्ध न होने से उनके ऐतिहासिक या तुलनात्मक अध्ययन की बात सोची भी नहीं जा सकती है।

वस्तुतः भाषिकी के इतिहास पर दृष्टिपात करने पर सहज ही देखा जा सकता है कि विज्ञान की इस शाखा के विकास के मूल में संस्कृत, ग्रीक, लैटिन आदि का साहित्य ही था जिसने कि सर्वप्रथम इसकी तुलनात्मक शाखा (Comparative philology) को जन्म दिया था तथा इसी साहित्य के सहारे इसकी ऐतिहासिक शाखा का विकास हुआ। जिसके फलस्वरूप हम भारोपीय भाषा परिवार की स्थापना तथा उसके मूल रूप की पुनर्रचना के कार्य में सफल हुए।

यदि साहित्य उपर्युक्त रूप में भाषिक अध्ययनों में सहायक होता है तो भाषिकी भी अनेकत्र साहित्यिक अध्ययनों व विश्लेषणों में उसकी सहायक बनती है। भाषा के अनेक रूप व अर्थ ऐसे हैं जो कि अपने पुरातन रूपों एवं अर्थों से पर्याप्त भिन्न रूपों में और कभी-कभी तो विपरीत रूपों में भी विकसित हो गये हैं, यथा वैदिक 'असुर' प्राणवान् (असु+र) का अर्थ बाद के साहित्य में 'राक्षस' हो गया या 'अरि' पड़ोसी का अर्थ 'शत्रु' हो गया। अर्थ परिवर्तन की इस प्रकार की समस्याओं का समाधान मात्र भाषिकी की अन्यतम शाखा 'अर्थविचार' के द्वारा ही हो सकता है। इसी प्रकार की स्थिति अनेक शब्द-रूपों की भी है। इसके अतिरिक्त कई बार हम भाषिकी की सहायता से पुरातन साहित्य के भ्रष्ट पाठों का संशोधन भी कर सकते हैं। इस प्रकार हम देख सकते हैं कि साहित्य तथा भाषिकी दोनों ही अनेक दृष्टियों से एक-दूसरे के साथ पूरी तरह सम्बद्ध तथा एक-दूसरे के लिए उपयोगी भी हैं।

3. भाषिकी और दर्शन शास्त्र—दर्शनशास्त्र के साथ यद्यपि भाषिकी का वैसा गहन एवं अन्योन्याश्रित सम्बन्ध नहीं है जैसा कि व्याकरण व साहित्य शास्त्र

के साथ, फिर भी एक तो सम्पूर्ण दार्शनिक विज्ञान व तर्क-वितर्क का कार्य भाषा के ही माध्यम से चलता है तथा दूसरे प्राचीन काल मे भाषा, विशेष कर शब्दार्थ सम्बन्ध, का तात्विक विवेचन दर्शन शास्त्रीय अध्ययनो से ही प्रारम्भ हुआ था। ग्रीक विद्वानों—प्लेटो, अरस्तू आदि—ने सर्वप्रथम शब्दार्थ के सम्बन्धों के विषय में गहन विवेचन की शुरुआत की थी। भारतीय दार्शनिक चिन्तन-परम्परा में भी वैयाकरणो के स्फोटवाद, बौद्धों के अपोहवाद, नैयायिकों के जातिवाद, मीमासकों के शब्द के नित्यानित्यत्व के चिन्तन का सम्बन्ध शब्दार्थ सम्बन्ध के विवेचन के साथ ही जुडा हुआ है। आचार्य पतजलि और भर्तृहरि ने तो व्याकरण को भी दर्शन की परिधि मे खडा कर दिया है।

भारतीय तंत्र शास्त्रियों ने तो भाषिकी के अन्यतम रूप स्वनिकी के पक्ष को ही विशेष महत्त्व दिया है। विभिन्न ध्वनियो का अनुक्रमिक विन्यास ही इसका मूलाधार है। उनके अनुसार एक विशिष्ट अनुक्रम से उच्चरित ध्वनिया अभिप्रेत कार्य की सिद्धि मे समर्थ अलौकिक प्रभावो को उत्पन्न करने मे समर्थ होती हैं।

4. भाषिकी और काव्यशास्त्र—इस देश के मनीषियों द्वारा किये गये भाषिक चिन्तनों और अनुसन्धानों के विषय मे जो विशेष रूप से उल्लेखनीय बात है वह यह कि यहा पर इस विषय का चिन्तन केवल वैयाकरणों व दार्शनिको तक ही सीमित नही रहा वरन् विचारको के सभी सम्प्रदायो ने अपने-अपने दृष्टिकोण से भाषा के स्वरूप एवं प्रकार्य के रहस्य का उद्घाटन करने का यत्न किया। फलत यहां पर भाषाशास्त्रीय चिन्तनो के विकास मे सभी शास्त्रीय परम्पराओं का योगदान रहा है।

इस दिशा में भारतीय काव्यशास्त्रियो का योगदान भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं। साहित्य का विज्ञान होने के नाते काव्यशास्त्र भी अपने विवेच्य विषयो के विविध सन्दर्भों में उनमे सम्बद्ध भाषिक तत्त्वो पर विचार करता रहा है। शब्द और अर्थ के समुचित प्रयोग को काव्यतत्त्व का मूलाधार मानने वाले काव्यशास्त्रियो के लिए अनेक भाषिक तत्त्वों को अपने विवेचनो का आधार बनाना सर्वथा अपरिहार्य कार्य था। उनके द्वारा विवेचित विभिन्न काव्य तत्त्वो का निकट से परीक्षण करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि उन्होंने भाषा के प्रश्न को कभी भी काव्यालोचन के पक्ष से पृथक् रूप मे नही देखा। उनके तो शास्त्रो का प्रारम्भ ही 'शब्दार्थ' की चर्चा से होता है वह चाहे छठी शताब्दी के आचार्य भामह का **'शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्'** हो या सोलहवीं शताब्दी के आचार्य पण्डितराज जगन्नाथ का **'रमणीयार्थ प्रतिपादकः शब्दः काव्यम्'** हो।

इन आचार्यों ने केवल काव्यभाषा पर ही विचार किया हो, ऐसी बात नहीं। अपितु उसके सामान्य व्यावहारिक पक्ष पर भी पूरा ध्यान दिया है। आचार्य

दण्डी ने भाषा के सर्वसामान्य महत्त्व को उद्घोषित करते हुए स्पष्ट शब्दों में कहा—

वाचामेव प्रसादेन लोकयात्रा प्रवर्तते (काव्यादर्श 1/3)

अर्थात् भाषा की आवश्यकता हमें केवल उच्च दार्शनिक चिन्तन एवं काव्यात्मक रसास्वाद के लिए ही नहीं, अपितु अपनी सामान्य लोक-यात्रा के लिए भी आवश्यक है। इतना ही नहीं अपितु इस सम्बन्ध में उनका यह भी कहना है कि *यदि शब्द स्वरूपात्मक भाषा का प्रकाश न होता तो यह सारा विश्व ही अन्धकार के गर्त में डूबा रहता।*

इदमन्धंतमः कृत्स्नं जायेत भुवनत्रयम्।
यदि शब्दाह्वयं ज्योतिरासंसारं न दीप्यते॥

भाषा के सम्बन्ध में जब आचार्यों ने कितना गहन चिन्तन एवं विवेचन किया है, इसका अनुमान तो इसी बात से लगाया जा सकता है कि भाषा के सम्बन्ध में आधुनिक विद्वान स्तुत्वा के द्वारा प्रदत्त तथा विश्व के अधिकतम भाषाशास्त्रियों द्वारा स्वीकृत परिभाषा से लगभग 1200 वर्ष पूर्व ही आचार्य भामह निम्नलिखित परिभाषा दे चुके थे, जिसके प्रकाश में स्तुत्वा द्वारा प्रदत्त परिभाषा उसकी छाया-सी लगती है। देखो पृष्ठ···

काव्यशास्त्रियों ने भाषा के मूलभूत अंगों—पद, वाक्य आदि—की जो परिभाषाएं दी हैं वे इतनी पूर्ण तथा युक्तिसंगत हैं कि उनसे अधिक संगत परिभाषाएं कहीं दृष्टिगोचर भी नहीं होती हैं। आचार्य विश्वनाथ ने पद के विषय में लिखा है कि—**वर्णाः पदं प्रयोगार्हानन्वितैकार्थबोधकाः** तथा वाक्य को परिभाषित किया है—**वाक्यं स्याद्योग्यताकांक्षासक्तियुक्तः पदोच्चयः।** *आज का कोई भी भाषाशास्त्री* प्रमाणित कर सकता है कि अभी तक कोई भी इनसे अधिक उपयुक्त परिभाषाएं प्रस्तुत नहीं कर सका है। यही बात वाक्यार्थ विचार तथा पद-पदार्थ सम्बन्ध विचार के विषय में भी देखी जाती है। काव्यशास्त्रियों के द्वारा अर्थ के सम्बन्ध में किया गया शब्दशक्ति-विचार तो विश्व-विश्रुत है ही, किन्तु रस, ध्वनि, रीति, गुण, *अलंकार आदि के प्रसंग में भाषा की स्वरीय ध्वनियों तथा उपर्युक्त काव्य-*तत्त्वों के बीच पाये जाने वाले जिन आन्तरिक सम्बन्धों का रहस्योद्घाटन इन काव्य शास्त्रीय ग्रन्थों में हुआ है, वह उनके भाषा सम्बन्धी सूक्ष्म पर्यवेक्षण का ही परिणाम है।

इस सम्बन्ध में सर्वाधिक उल्लेखनीय प्रसंग है भाषिकी के शैली वैज्ञानिक पक्ष का विवेचन। रीतियों के विवेचन के प्रसंग में इन आचार्यों ने काव्यभाषा के *वैज्ञानिक विश्लेषण की जो विधाएं प्रस्तुत की हैं वे आज के शैली विज्ञान के लिए* ***मार्गदर्शक हो सकती हैं। शैली विज्ञान के क्षेत्र को भारतीय काव्यशास्त्र की यह एक*** **अभूतपूर्व देन है।** अधिक विस्तार के लिए देखिए—हरियाणा साहित्य अकादमी

द्वारा प्रकाशित लेखक का शोध पत्र—'संस्कृत काव्यशास्त्र का भाषा शास्त्रीय आधार।'

95305

•5 भाषिकी और इतिहास—भाषिकी और इतिहास दोनों ही परस्पर एक-दूसरे के उपकारक होते है। यो तो पुरातन इतिहास के निर्माण मे भाषा के माध्यम से सुरक्षित अभिलेखो, शिलालेखों तथा मुद्रालेखों का महत्त्वपूर्ण स्थान होता ही है किन्तु इनके अतिरिक्त भी किसी देश या काल की भाषा का विश्लेषण उसके अज्ञात इतिहास पर प्रकाश डालने का महत्त्वपूर्ण कार्य करता है। अनेक बार भाषा विशेष में सुरक्षित शब्दावली का विश्लेषण ऐसे ऐतिहासिक तथ्यो पर प्रकाश डालता है जो कि अन्यथा सुलभ नहीं हो सकते। उत्तरी सीरिया में अचिरपूर्व में प्राप्त हित्ती भाषा के अभिलेखो की भाषा के विश्लेषण ने प्रथम बार इतिहास के इस पृष्ठ का उद्घाटन किया कि वैदिक आर्यों तथा हित्ती भाषियो के पूर्वज एक ही थे। वे दोनो ही सूर्य, इन्द्र, अग्नि, मित्र, अर्यमा आदि के उपासक थे। इसी प्रकार अवेस्ता और वैदिक संस्कृत की असाधारण समता ने यह व्यक्त किया कि वैदक आर्य तथा अवेस्ता के मानने वाले ईरानी एक ही भाषाई परिवार के व्यक्ति थे और वैदिक काल से अचिर पूर्व में ही एक-दूसरे से पृथक् हुए थे। संस्कृत भाषा की पुरातन शब्दावली में द्रविड तथा मुण्डा भाषा के अनेकानेक शब्दो का पाया जाना भी इस बात का द्योतक है कि आर्य, द्रविड, कोल आदि वर्ग के लोग अति प्राचीन काल मे ही एक-दूसरे के सम्पर्क में आ चुके थे। प्रत्येक भाषा के भाषिक व्यवहारो मे ऐसे अनेक शब्द-रूप सुरक्षित होते है जो कि उस भाषा के बोलने वाले जन-समूह के ऐतिहासिक एवं भौगोलिक सम्बन्धो पर अद्भुत प्रकाश डालने मे समर्थ होते है। संस्कृत का 'चीनांशुक' भारत चीन सम्पर्क को तथा 'यवनिका' 'ज्यामिति', होडाचक्र आदि शब्द भारत यूनान सम्बन्धो को व्यक्त करने मे सर्वथा सशक्त हैं।

यदि भाषिक विश्लेषण ऐतिहासिक विश्लेषणो के लिए उपादेय हो सकता है तो ऐतिहासिक तथ्य भाषिक विश्लेषणों मे सहायक हो सकते है। किसी एक दूरवर्ती भाषा मे किसी अन्य दूरवर्ती भाषा के शब्द कब (किस काल में) तथा कैसे आये, इसका समाधान इतिहास ही करता है। अपने ज्ञात भारतीय इतिहास के सन्दर्भ मे हम बता सकते है कि यहा पर हमारी भाषाओं मे अरबी, फारसी, फ्रेंच, पुर्तगाली, अंग्रेजी आदि के शब्दो का आदान किन-किन शताब्दियो मे हुआ होगा। इसी प्रकार बृहत्तर भारत के इतिहास के प्रकाश मे हम देख सकेंगे कि हिन्देशिया की बहुत-सी भाषाओं जावा, बाली, सुमात्रा आदि—में संस्कृत शब्दावली कब और कैसे पहुंची। ऐसे ही तिब्बती भाषा मे सिंह, पद्म जैसे अनेक शब्दो की विद्यमानता भारत तिब्बत के प्राचीन सम्बन्धो तथा इन सम्बन्धो की स्थापना के

काल पर प्रकाश डालती है। इसे किसी भी देश के इतिहास के एक विश्वसनीय एवं प्रामाणिक पक्ष का पोषक तत्त्व कहा जा सकता है।

6 **भाषिकी और भूगोल**—भाषिकी और भूगोल के बीच घनिष्ठ सम्बन्ध तो है पर उतनी स्थिति वहां नहीं जो कि इतिहास एवं भाषिकी की है। यह सम्बन्ध अधिकांश में एक पक्षीय है अर्थात् भौगोलिक स्थितियां भाषिक तत्त्वों को तो प्रभावित करती हैं किन्तु भाषा भौगोलिक स्थितियों को नहीं। यथा—उष्ण, शीत आदि भौगोलिक परिवेशों में प्रयुक्त की जाने वाली अनेक भाषाओं के विश्लेषण से देखा गया है कि उनमें पाये जाने वाले ध्वन्यात्मक विभेदों, यथा—सघुनता, महाप्राणता, अल्पप्राणता, स्पष्टोच्चार-अभिनिधान, निर्घोषोच्चार, कण्ठावरोध आदि का कारण उन स्थानों की भौगोलिक स्थिति एवं तज्जन्य वातावरण ही होता है। समस्त हिमालयीय क्षेत्र की भाषाओं में विवृत ध्वनियों एवं महाप्राण ध्वनियों का अभाव, शब्दान्त ध्वनियों के अस्पष्ट या कण्ठावरोधी उच्चारण आदि के पीछे इन प्रदेशों का शीत प्रधान भौगोलिक वातावरण ही प्रमुख कारण होता है। इसके विपरीत उष्ण प्रधान क्षेत्रों में इनसे भिन्न रूपों की सत्ता भी वहां की भौगोलिक स्थितियों के कारण ही कही जा सकती है, यद्यपि उष्ण प्रदेशीय द्रविड़ भाषाओं में भी महाप्राण ध्वनियों के अभाव का कारण भौगोलिक स्थितियों में नहीं, ऐतिहासिक स्थितियों में ढूंढना होगा।

इसी प्रकार मैदानी भागों की भाषाओं की अपेक्षा पर्वतीय क्षेत्रों की भाषाओं में थोड़ी-थोड़ी दूरी पर अबोधगम्य भाषाई विभेदों की स्थिति का कारण भी वहां की भौगोलिक स्थितियां ही होती हैं, जिनमें बीच-बीच में आ पड़ने वाले अलंघ्य पर्वतों, तीव्रगामी नदियों एवं सघन वनों के कारण पारस्परिक आदान-प्रदान व सचार की संभावनाएं न्यूनतम हो जाती हैं।

इसके अतिरिक्त अनेक भाषिक प्रयोग उनके प्रयोक्ताओं की भौगोलिक स्थिति के परिचायक होते हैं। यथा—हिमालय की कतिपय बोलियों में पके हुए चावलों (भात) को 'अन्न' कहा जाता है जबकि मैदानी क्षेत्रों में अन्न से सभी प्रकार के अन्नों (अनाजों) का सतेन बोध होता है। उसका कारण यह है कि इन क्षेत्रों में चावल ही मुख्य भोज्य पदार्थ होता है। इसी प्रकार संस्कृत के 'उष्ट्र' शब्द के सम्बन्ध में भी समझा जाता है कि वैदिक काल में आर्य जिस प्रदेश में रहते थे उसमें भूरे रंग का बृहत्काय जीव भैंसा होता था अतः वहां यह उसी का संकेतक था, किन्तु जब वे उष्ण प्रदेशों के सम्पर्क में आये तो उन्हें इस वर्ण का एक अन्य दीर्घकाय जीव भी देखने को मिला अतः उन्होंने ऊंट को भी इसी नाम से अभिहित करना प्रारम्भ कर दिया। संस्कृत में नमक को 'सैन्धव', केसर को 'कश्मीरज', रेशम को 'चीनांशुक' या 'पौण्ड्रक', चन्दन को 'मलयज,' उड़द को

'कम्बोज' आदि के नामो से अभिहित करना भाषा एवं भूगोल के इसी पारस्परिक आदान-प्रदान के परिणाम हैं।

कभी-कभी भाषा दो निकटवर्ती प्रदेशों की भौगोलिक सीमाओं के निर्धारण में भी महत्त्वपूर्ण योगदान करती है, उदाहरणार्थ, उत्तर प्रदेश का पर्वतीय क्षेत्र उत्तराखण्ड एक भौगोलिक इकाई है और इसके दो उपखड हैं जिन्हें प्राचीन काल में केदारखण्ड तथा मानसखण्ड के नाम से जाना जाता था, किन्तु आधुनिक काल में गढ़वाल मण्डल तथा कुमाऊ मण्डल के नामो से जाना जाता है। इन दोनों के बीच कोई प्राकृतिक व सास्कृतिक सीमा के न होने से भाषा ही वह आधार है जिसमे इनकी भौगोलिक सीमाओ का निर्धारण किया जाता है। यही स्थिति हरियाणा और पजाब की भी है। यहा पर भी भाषिक विभेद ही दोनों की सीमाओं का सही-सही निर्णय देने मे समर्थ हो सकते हैं। राजीव-लोंगोवाल समझौते को लागू करने के लिए परस्पर भूमि के आदान-प्रदान के लिए इसी को आधार बनाया गया था। अनेक राज्यो की सीमा सम्बन्धी विवादो को हल करने के लिए भी विवादास्पद क्षेत्र की भाषा को ही सबसे अधिक निर्णायक आधार माना जाता है।

7 **भाषिकी और नृविज्ञान**—भाषिकी के समान ही नृविज्ञान का विवेचन क्षेत्र भी बहुआयामी और मानव-केन्द्रित है। भाषिकी की भांति उसकी भी अनेक शाखाएं हैं। उसकी जिस शाखा के साथ भाषिकी का निकट सम्बन्ध बनता है वह है उसकी सांस्कृतिक शाखा, जिसे सास्कृतिक नृविज्ञान (Cultural Anthropology) कहा जाता है। भाषिक तथा नृवैज्ञानिक अध्ययनों का परस्पर इतना निकट सम्बन्ध है कि सांस्कृतिक नृविज्ञान के अनुसन्धाता या अध्यापक के लिए भाषाविज्ञानी होना भी अनिवार्य है। और इन अन्तःशास्त्रीय (Inter disciplinary) अध्ययनों के फलस्वरूप भाषिकी की एक पृथक् शाखा नृविज्ञान भाषिकी (Anthropolinguistics) का विकास हो गया है। जिसके अन्तर्गत भाषिक सामग्री के आधार पर किसी भाषिक जनसमुदाय के विकास की विभिन्न अवस्थाओं, एव उनकी सभ्यता, संस्कृति आदि का अध्ययन किया जाता है। असभ्य एवं आदिम जनजातियो की जीवन-पद्धति, चिन्तन-प्रक्रिया, सामाजिक संगठन आदि को समझने मे उनकी भाषिक सामग्री से बडी महत्त्वपूर्ण एवं अधिकृत सूचनाएं प्राप्त की जाती हैं। अनेक बातों में पृथक्ता रखते हुए भी इस प्रकार के अध्ययन समाज भाषिकी के साथ कई क्षेत्रो मे एक रूप हो जाते हैं।

भाषिकी और समाज विज्ञान तथा भाषिकी और मनोविज्ञान के सम्बन्धो के विषय मे हम भाषिकी की प्रमुख शाखाओ के विवेचन के प्रसंग में पर्याप्त प्रकाश डाल ही चुके हैं। उसकी पुनरावृत्ति की आवश्यकता नही। इसे उन्ही प्रसगों में देख लेना चाहिए।

8. **भाषिकी और गणित**—भाषिकी और गणित के बीच परस्परोपकारता या अन्योन्याश्रय सम्बन्ध तो नहीं, फिर भी एक पक्षीय सम्बन्ध अवश्य है। आधुनिक युग में गणितीय अध्ययन प्रणाली का प्रभाव भाषिकी पर इतना अधिक हो चुका है कि भाषिकी की एक नवीनतम शाखा गणितीय भाषिकी (Mathematical linguistics) का विकास हो चुका है। गणितीय सूत्रों की सहायता से भाषा विज्ञान के नियमों व सिद्धान्तों को संक्षिप्त प्रतीकात्मक रूपों में अभिव्यक्त करने का प्रयास किया जा रहा है। प्रजनक व्याकरण से सम्बद्ध प्रणालियों में इसका विशेष रूप से उपयोग किया जा रहा है। भाषिकी की एक *आधुनिकतम शाखा भाषा काल-क्रम-विज्ञान (Glottochronology)* का सम्बन्ध भी गणितीय आकलनों से ही होता है।

9 **भाषिकी और अभियान्त्रिकी**—ये दोनों ही परस्परोपयोगी ज्ञान हैं। विशेष कर सचार अभियान्त्रिकी में सचार यन्त्रों—रेडियो, टेलीफोन आदि—के निर्माण के लिए स्वनविज्ञान का ज्ञान अत्यन्त सहायक होता है। ध्वनिगुणों की अभिरचनाओं का ज्ञान इन यन्त्रों के विकास में तथा उनमें निरन्तर किये जा रहे सुधारों के सम्बन्ध में बड़ा उपयोगी सिद्ध हुआ है। दूसरी ओर अभियान्त्रिकी ने भाषिकी को अनेक ऐसे यन्त्र सुलभ कराये हैं जिनकी सहायता से ध्वनियों के उत्पादन, ग्रहण, तथा ध्वनि गुणों के वैज्ञानिक विश्लेषण की प्रक्रियाओं को समझने में बड़ी सहायता मिली है यथा एक्सरे, लैरेंजोस्कोप, टोनएनेलाइजर, स्पेक्ट्रोग्राफ, कम्प्यूटर, आदि। यान्त्रिक अनुवाद के लिए आविष्कृत किये जा रहे यन्त्रों के निर्माण में भाषिकी का पूरा-पूरा उपयोग किया जा रहा है। इसके बिना इन यन्त्रों का निर्माण संभव ही नहीं।

10 **भाषिकी और भौतिकी**—भाषिकी और भौतिकी के मध्य सम्बन्ध जोड़ने वाला मुख्य विषय है ध्वनि-संचार। ध्वनि-तरंगों के सचरण व ग्रहण की प्रक्रियाओं का अध्ययन व विश्लेषण एक ऐसा विषय है जिसमें इन दोनों विज्ञानों *की समान अभिरुचि होती है। वक्ता के कण्ठ से निसृत वाग्ध्वनियां किस प्रकार श्रोता तक पहुंचती हैं,* इसका विश्लेषण भौतिकी के विषय क्षेत्र के अन्तर्गत आता है। वही हमें बताती है कि आकाश में वह कौन-सा तत्त्व है जो कि ध्वनि-तरंगों को एक स्थान से दूसरे स्थान तक पहुंचाता है, उसका सचरण किस प्रकार होता है, उनकी गति का नियन्त्रण हो सकता है या नहीं? सामान्यत. जो ध्वनियां थोड़ी दूर के बाद विलीन हो जाती हैं वे किस प्रकार सांचारिकी से सम्बद्ध यन्त्रों—बेतार के तार, टेलिफोन, रेडियो आदि—के द्वारा हजारों मीलों की दूरी पर स्पष्ट सुनाई *देती हैं। अतः स्पष्ट है कि भाषा के सम्प्रेषण पक्ष का ज्ञान भौतिकी की सहायता के बिना नहीं हो सकता,* दूसरी ओर भौतिकी के कार्य को भाषा विज्ञान ने जो साहाय्य

किया वह यही कि इसने उसे ध्वनि-संचार से सम्बद्ध यन्त्रो के निर्माण मे ध्वनियो के गुणों व प्रकृति के ज्ञान से अवगत कराकर उन्हे अधिक वैज्ञानिक एव उपयोगी बनाने में योग दिया है।

11. भाषिकी और शरीर विज्ञान—भाषिकी और शरीर विज्ञान का निकट का सम्बन्ध तो है किन्तु यह केवल उसकी स्वन वैज्ञानिकी (phonetics) तक ही सीमित है। भाषिक वाग्व्यवहार मे वक्ता तथा श्रोता दोनों के द्वारा की जाने वाली वाचिक क्रिया-प्रतिक्रियाओं का सम्बन्ध हमारे शरीर के वागगो के साथ हुआ करता है, अर्थात् भाषा के मौखिक व्यवहार अथवा उच्चार मे वक्ता के शरीर के कौन-कौन से अग किन-किन रूपो मे कार्यशील होकर ध्वनियो की अभिव्यक्ति करते है तथा श्रोता के कौन से अग उन ध्वनियो को ग्रहण करके उन्हे बोधगम्य बनाते हैं, इस सबका विवरण शरीर वैज्ञानिक अध्ययनो की सहायता से ही प्राप्त किया जा सकता है। इन सबका विशेष विवरण स्वन विज्ञान के विवेचन के प्रसग मे दिया जायेगा। यहा पर तो इस प्रक्रिया के सम्बन्ध मे बस इतना जान लेना पर्याप्त है कि भाषा की व्यक्त ध्वनियों (Articulated Sounds) के उत्पादन एव ग्रहण मे जिन एकाधिक विज्ञानो का योग अपेक्षित होता है वे हैं मनोविज्ञान, शरीर विज्ञान तथा भौतिकी। हम जानते हैं कि ध्वनि वागुच्चार से पूर्व वक्ता के मन मे तत्सबधी विचार उत्पन्न होता है। इसी विचार को श्रव्यात्मक अभिव्यक्ति प्रदान करने के लिए वह अपनी वागिन्द्रियो को कार्यशील करता है जिसके फलस्वरूप भाषिक ध्वनिया उत्पन्न होती हैं और वे वायु-तरगों को तरगित करके उसके माध्यम से श्रोता के कर्ण-कुहर तक पहुचने में सफल होती है। तदनन्तर उसके कर्ण-कुहर से सम्बद्ध स्नायु-मडल उन्हे मस्तिष्क तक पहुचाता है जहां पर उन ध्वनियो से सकेतित अर्थ का बोध होता है और तदनुरूप ही श्रोता की प्रतिक्रिया की अभिव्यक्ति भी। इस प्रकार हम देख सकते हैं कि वक्ता से श्रोता तक ध्वनियों के पहुंचने मे जो मुख्य क्रियाएं होती हैं वे हैं—ध्वनन, प्रेषण एव ग्रहण। ध्वनन की इस सम्पूर्ण प्रक्रिया को समझने तथा भिन्न-भिन्न व्यक्त ध्वनियो मे भिन्न-भिन्न मात्राओ मे भिन्न-भिन्न प्रकार के ध्वनि गुणो—घोषत्व, अघोषत्व, महाप्राणत्व, ह्रस्वत्व, दीर्घत्व, तारत्व, मन्द्रत्व, आदि—के रहस्य को समझने के लिए हमारे शरीर के प्रकृति-प्रदत्त अगों की बनावट तथा उनकी कार्य-प्रक्रिया को समझना आवश्यक है और यह ज्ञान हमें प्राप्त हो सकता है शरीर विज्ञान के अध्ययन से ही।

जिस प्रकार व्यक्त ध्वनियो की ध्वनन-प्रक्रिया को समझने के लिए वागुच्चार से सम्बद्ध शरीरांगो का ज्ञान आवश्यक है उसी प्रकार ध्वनि-ग्रहण की प्रक्रिया को समझने के लिए श्रवणेन्द्रिय की बनावट तथा मस्तिष्क के साथ उनकी संचार-व्यवस्था का ज्ञान भी आवश्यक है। कहना न होगा कि यह ज्ञान भी हमे शरीर के

द्वारा ही प्राप्त होता है। यहा यह स्मरणीय है कि इन दोनो शारीरिक क्रियाओ मे योजन का कार्य करने वाली प्रक्रिया प्रेषण के ज्ञान का सम्बन्ध शरीर विज्ञान के साथ न होकर भौतिकी के साथ होता है।

उपर्युक्त विवेचनो से यह स्पष्ट है कि भाषिकी के सभी पक्षो का विस्तृत ज्ञान प्राप्त करने के लिए इन सभी शास्त्रो का थोडा-बहुत ज्ञान नितान्त आवश्यक है।

7

भाषिकी के उपफल

पहले कहा जा चुका है कि भाषिकी का उपयोग भाषाओं के साधन के रूप में किया जाता है अर्थात् इन अध्ययनों में भाषिकी साधन तथा भाषिक विश्लेषण साध्य होता है, किन्तु इन साध्यों को प्राप्त कर लेने मात्र से ही भाषिकी की उपलब्धियाँ पूर्ण नहीं हो जाती, वह इनके साथ-साथ हमें उस बृहत्तर साध्य की उपलब्धि में भी सहायक होती है जो कि भिन्न-भिन्न साध्यों के उपफलों (by-products) के रूप में हमें प्राप्त होते हैं।

भाषिकी की भिन्न-भिन्न अध्ययन प्रणालियों के माध्यम से किए गये अध्ययनों के फलस्वरूप हमें जिन उपफलों की प्राप्ति हुई है उनमें से प्रमुख हैं भाषिक वर्गीकरण, भाषिक पुनर्रचना तथा ध्वनि नियमों की खोज। इनमें से भाषिक वर्गीकरण हमें दो रूपों में प्राप्त होता है, एक आकृतिमूलक वर्गीकरण जो कि वर्णनात्मक अध्ययनों का उपफल है, तथा दूसरा पारिवारिक वर्गीकरण जो कि ऐतिहासिक अध्ययनों का उपफल है, इसी प्रकार भाषिक पुनर्रचना तथा ध्वनि-नियमों की खोज का श्रेय तुलनात्मक अध्ययनों को जाता है।

भाषिकी की वर्णनात्मक तथा ऐतिहासिक अध्ययन प्रणालियों के आधार पर

किये गये अध्ययनो के फलस्वरूप भाषा विज्ञानियो के लिए यह देख पाना सम्भव हो सका है कि विश्व की कौन-कौन-सी भाषाए ऐसी है जो कि अपनी भाषिक सामग्री मे समरूपी या अनुरूपी रूपात्मक तथा अर्थात्मक तत्त्वो का उपयोग करती हैं।

भाषिक वर्गीकरण

यहा पर यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि भाषाओ का वर्गीकरण भाषिकी का साक्षात रूप मे विवेच्य विषय नही, किन्तु उसके अध्ययनो का एक महत्त्वपूर्ण उपफल है। इसी दृष्टि से भाषिकी के विवेच्य विषयो के साथ इसका विवेचन किया जाता है।

उपर्युक्त प्रकार के भाषिक अध्ययनो मे प्राप्त परिणामो के आधार पर भाषा विज्ञानियों ने विश्व की भाषाओ को जिन रूपों मे विभाजित करने का यत्न किया है उनमें से एक का नाम है—आकृतिमूलक वर्गीकरण, तथा दूसरे का पारिवारिक वर्गीकरण, प्रत्येक वर्ग के अनेक उपवर्ग बनाये गये हैं। जिनका सक्षिप्त विवरण निम्नलिखित रूप मे प्रस्तुत किया जा सकता है।

(क) आकृतिमूलक वर्गीकरण (Morphological classification)

इस वर्गीकरण का मुख्य आधार है भाषा के अवयवीभूत पदो मे पाया जाने वाला सरचनात्मक सादृश्य। पदो के सघटक—तत्त्वों रूपतत्त्वो (morphemes) पर आधारित होने के कारण इसे रूपरचनात्मक वर्गीकरण भी कहा जाता है। इसमें सन्दर्भगत भाषाओ के आन्तरिक तत्त्वो (अर्थतत्त्वो) को विशेष महत्त्व न देकर उनकी पदरचनात्मक प्रक्रियाओं पर ही मुख्य रूप से विचार किया जाता है, अर्थात् पद-रचना मे (उपसर्ग) प्रकृति प्रत्यय के सयोग की प्रक्रिया व स्वरूप को ही वर्गीकरण का आधार बनाया जाता है। पदाकृति ही वर्गीकरण का मुख्य आधार होने के कारण उसे 'आकृतिमूलक वर्गीकरण' कहा जाता है।

विश्व की भाषाओ के वर्णनात्मक विश्लेषण मे देखा गया है कि उनमे मुख्यतः पद रचना दो प्रकार से की जाती है एक प्रकृति और प्रत्यय के योग से तथा दूसरी बिना किसी प्रत्यय के योग के अर्थात् मात्र प्रकृति से ही। भाषा विज्ञान की पारिभाषिक शब्दावली मे प्रथम प्रकार की सरचना को योगात्मक तथा दूसरी प्रकार की रचना को अयोगात्मक कहा जाता है।

अयोगात्मक (Isolating)—जैसाकि इस नाम से ही स्पष्ट है कि इस वर्ग की भाषाओं मे पद-रचना के लिए प्रकृति के साथ किसी अन्य तत्त्व का योग नहीं होता। इस दृष्टि से इसे 'निरवयव' भी कहा जाता है। इस वर्ग मे सम्बन्ध रखने वाली भाषाओ मे यह भी देखा जाता है कि ये पद प्राय धातु रूप एव एकाक्षरिक

(monosyllabic) होते है। अत. इस आधार पर कभी-कभी इन्हें 'धातुप्रधान' या 'एकाक्षरिक' भी कहा जाता है।

इन भाषाओं मे प्रत्येक पद का अपना एक निश्चित रूप होता है। और उसे उसी रूप मे वाक्य मे कही भी अभिप्रेत अर्थ के द्योतन के लिए प्रयुक्त किया जा सकता है। उनकी न कोई व्याकरणिक कोटि होती है और न तदनुशासित रूप ही। एक ही शब्द को संज्ञा, सर्वनाम विशेषण, क्रिया या क्रिया विशेषण के रूप मे प्रयुक्त किया जा सकता है तथा उसके इन प्रकार्यों का निर्धारण इस बात से किया जाना है कि वाक्य-रचना मे उसे किस स्थान पर रखा गया है। किसी शब्द के अर्थ-निर्धारण मे वाक्यान्तर्गत उसके स्थान का महत्त्व होने के कारण कभी-कभी इन्हे 'स्थान-प्रधान' भाषाए भी कहा जाता है। वाक्यान्तर्गत पद के स्थान के अतिरिक्त सुर (tone) भेद भी इनके अर्थों का नियामक होता है। किसी पद के अर्थ-निर्धारण के लिए कभी-कभी 'स्थान' और 'सुर' के अतिरिक्त विशेष निपातों का भी सहारा लिया जाता है। संक्षेप मे कहा जा सकता है कि इन भाषाओ मे—

1 पदो मे व्याकरणिक कोटियो का अभाव होता है।
2 वाक्य मे पदो के स्थान का अर्थपरक व व्याकरणपरक महत्त्व होता है।
3. स्थान के अतिरिक्त पद विशेष का सुर भी उसके अर्थ का नियामक होता है।
4 निपातो का भी पदो के अर्थ-निर्धारण मे विशेष योग होता है।

यद्यपि ऊपरनिर्दिष्ट भाषिक विशेषताए न्यूनाधिक मात्रा मे तिब्बत, बर्मी, स्यामी, सूडानी आदि मे भी पायी जाती है किन्तु इसका आदर्शतम रूप प्रस्तुत करती है चीनी भाषा, जिसमे कि स्थान और सुर तत्त्व का महत्त्व सर्वोपरि है। इसे निम्नलिखित बहुप्रचलित उदाहरणों द्वारा दिखाया जा सकता है।

वो काङ्नी "मैं तुझे ! तुम्हें देखता हूं।"
नी कांङ् वो "तुम मुझे देखते हो।"

अथवा : **ता लेन "बड़ा आदमी (है)।"**
लेन ता "आदमी बड़ा (है)"
नाओ जेन 'भला आदमी'
जेन नाओ 'आदमी की भलाई'

सुर—चीनी एक सुर प्रधान भाषा है। सुर प्रधान भाषाओ मे 'सुर' पद तथा वाक्य दोनो स्तरो पर अर्थभेदक होता है। चीनी मे चार प्रकार के सुर है। इनके आरोह-अवरोह क्रम से एक ही पद अथवा वाक्य के अनेक अर्थ हो जाते हैं। सुर-भेद से अर्थ-भेद का एक प्रसिद्ध उदाहरण है—व ब व ब। इसमे चारो पदो का उच्चारण उनके अर्थनिर्धारक भिन्न-भिन्न सुरो से करने पर अर्थ अ होता है "तीन महिलाओ

ने राजा के कृपापात्र के कान उमेठे।' इसी प्रकार सुर-भेद से 'येन' शब्द के चार अर्थ—हम, धुआ, नमक और आख हो जाया करते हैं और 'मु' के 'माता', जंगल आदि कई अर्थ। इन अनेकार्थक पदों या सन्दर्भ विशेष में कौन-सा अर्थ अभिप्रेत है इसका निर्धारण सुर विशेष से किया जाता है। यह प्रक्रिया इतनी सूक्ष्म है कि इसे लिखित रूप में समझ पाना कठिन है।

निपात—इन भाषाओं में पदों के अर्थ निर्धारण में निपातों का भी महत्त्वपूर्ण स्थान होता है। उदाहरणार्थ, चीनी में चु एक निपात है। स्वतन्त्र रूप में उसका अपना कोई अर्थ नहीं होता, किन्तु जब वह किसी पद के साथ प्रयुक्त होता है तो वह भाववाचक का बोधन कराता है—जैसे हाउ अच्छा किन्तु हाउच अच्छाई, चाङ् 'लम्बा' किन्तु चाङ्चु 'लम्बाई।'

अयोगात्मक वर्ग की भाषाओं में इन सभी तत्त्वों को समान रूप से महत्त्व दिया जाता हो, ऐसी बात नहीं। इनके बलाबल के प्रति प्रत्येक का अपना-अपना रूप है, यथा—चीनी में स्थान और सुर का अधिक महत्त्वपूर्ण स्थान है तो तिब्बत बर्मी में निपात का। इसी प्रकार स्यामी में अधिक महत्त्व सुर का है तो सूडानी में स्थान का।

योगात्मक—जैसा कि इसके नाम से ही स्पष्ट है, इसमें पद-रचना का आधार प्रकृति और प्रत्यय का योग हुआ करता है। अर्थतत्त्व व रूपतत्त्व के सयोग के रूप व मात्रा की भिन्न-भिन्न स्थितियों के कारण इसका उप-विभाजन निम्नलिखित तीन उपवर्गों में किया जाता है—

1 अश्लिष्ट योगात्मक या विभक्ति प्रत्यय प्रधान (Agglutinating)
2 श्लिष्ट योगात्मक या विभक्ति प्रधान (Inflectional)
3 *प्रश्लिष्ट योगात्मक या समासप्रधान (Incorporating)*

इनके भी अपने-अपने उप-विभाग होते हैं जिनका संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है—

1 अश्लिष्ट योगात्मक/प्रत्यय प्रधान भाषाएं—जैसा कि इनके वर्गीय नाम से ही स्पष्ट है कि इन भाषाओं में प्रकृति (अर्थतत्त्व) तथा प्रत्यय (रूपतत्त्व) का योग तो होता है किन्तु वह एक-दूसरे में इतना श्लिष्ट (चिपका हुआ) नहीं है कि दोनों को पृथक्-पृथक् रूप में देख पाना या पहचान पाना कठिन हो। वैसे तो इस वर्ग का आदर्श उदाहरण तुर्की भाषा में देखने को मिलता है किन्तु हमारी आर्य भाषाओं में भी इसके रूप देखे जा सकते हैं। यथा मनुष्य+त्व, लघु+ता, लड़का+पन आदि। इनमें मनुष्य आदि में मूल प्रकृति तथा उनके साथ होने वाला प्रत्यय का योग स्पष्ट रूप में देखा जा सकता है। यह योग 'प्रकृति' से पूर्व में, मध्य में या अन्त में किसी भी स्थिति में हो सकता है। प्रत्यय की स्थिति के आधार पर इसे भी

तीन उपवर्गों मे विभक्त किया जाता है। इनमे निम्नलिखित उदाहरणों से स्पष्ट किया जा सकता है।

पूर्वप्रत्ययोगी (Prefix-aglutinating)—पूर्व योग (प्रत्यय+प्रकृति) के उदाहरण दक्षिण अफ्रीका मे बोली जाने वाली बन्तू परिवार की जुलू और काफिरी भाषाओं मे मिलते है। काफिरी का एक उदाहरण है=कुति (कु 'को/के लिए'+ति 'हम=हमको/हमारे लिए, कुनि=कु 'को/लिए'+नि 'वे, उनको/उनके लिए', ऐसे ही कुजे (कु+जे) 'वह'='उसको/उसके लिए'। इसी वर्ग की अन्य भाषा तुलू का उदाहरण है उमुन्तु (=उमु एक+न्तु मनुष्य)=एक आदमी (एकवचन) अबन्तु (अब अनेक+न्तु मनुष्य)=अनेक आदमी (बहु व) ड, उमुन्तु 'एक आदमी के साथ', ड अबन्तु 'कई आदमियों के साथ'।

मध्य प्रत्यय योगी (Infix-agglutinating)—जैसा कि नाम से ही व्यक्त है कि इसमें प्रत्यय का योग प्रकृति (प्रातिपदिक) के मध्य मे होता है। इसके उदाहरण विशेषत आग्नेय परिवार की भाषाओ—मुण्डारी, सथाली आदि—मे तथा उससे सम्बद्ध तिब्बत-हिमालय परिवार की भाषाओ—किन्नौरी, लाहौली आदि मे पाये जाते हैं। यथा बिहार की संथाली— मंझि 'मुखिया' (एक वचन), किन्तु मपंझि (मं+प+झि) 'मुखिया लोग (ब. व) मुण्डारी—तोल' बाधना' तोनोल 'बन्धन/गांठ'

ओम 'देना' : ओयोम् 'उपहार', भेंट
जो ? 'झाड़ू देना' जोनो 'झाड़ू'
मरड्—महान् : मनरड्—महत्ता

किन्नौरी-स्यामिग् 'देखना' : स्याचिमिग (स्या+चि+मिग्) मिलना/परस्पर देखना। (यह हि प्र. के किन्नौर क्षेत्र की बोली है) तोड् मिग् 'पीटना' : तोड् शि-मिग् 'एक-दूसरे को पीटना)

खडिया—रब 'गाडना' रनब कब्रिस्तान
जोग 'मरना', गोनोज 'मृत्यु'
गोज 'झाड़ू देना' : जोनोग 'झाड़ू'

परप्रत्यय योगी (Suffix-agglutinating)—इनमे प्रत्यय की सर्वथा स्वतत्र सत्ता होती है और वह शब्द के अन्त मे जोड़ा जाता है, इस वर्ग मे आने वाले प्रमुख भाषा-परिवार हैं, यूराल अलताई और द्रविड। अलताई परिवार की भाषा तुर्की इस वर्ग की प्रतिनिधि भाषा कही जा सकती है जिसमे कि सर्वत्र ही प्रकृति और प्रत्यय की स्थिति बहुत स्पष्ट रूप मे देखी जाती है। उदाहरणार्थ अतलरी=अत (घोडा) +लर (बहुवचन बोधक प्रत्यय) +ई (कर्म बोधक प्रत्यय)=घोड़ो को, एव-इम-देन=एव (घर)+इम मेरा+देन से=मेरे घर

से, एवलेर-इम-देन=एव (घर)+लेर (ब. व. प्रत्यय)+इम (मेरा)+देन (से) =मेरे घरों से।

द्रविड भाषाओं में भी विभक्ति प्रत्ययों के योग में लगभग ऐसी ही स्पष्ट स्थिति पायी जाती है, यथा (कन्नड)—'सेवक-नन्नु (सेवक को)' सेवक-रन्नु (सेवकों को,), सेवक-निने (सेवक के लिए), सेवक रिगे (सेवकों के लिए)।

आद्यन्त प्रत्यय योगी (Prefixo-suffixal agglutinating)—इस वर्ग की कतिपय भाषाएं ऐसी भी हैं जो कि अपनी पद-रचना में प्रकृति से पूर्व तथा बाद में दोनों ही स्थानों पर प्रत्ययों का आदान करती हैं। इस प्रकार की पूर्वान्त योगात्मक भाषाओं में न्यूगिनी की 'मफोर' भाषा का नाम प्रमुख रूप से लिया जाता है। इसका एक प्रायेण उद्धृत उदाहरण है—ज-मुनफ्+=उ (ज) (मैं)+म्नफ (सुनता)+उ (तू)=मैं सुनता हूं तुझे।

सर्वप्रत्यय संयोगी—इसके अतिरिक्त कतिपय भाषाएं ऐसी भी हैं जिनकी पद-रचना में प्रकृति से पूर्व, मध्य तथा अन्त सभी स्थानों पर उपसर्गों एवं प्रत्ययों का योग सम्भव है। इसके उदाहरण मिलते हैं मलेशिया की 'मलायी' भाषाओं में।

2 **श्लिष्ट योगात्मक/विभक्ति प्रधान भाषाएं**—इस वर्ग की भाषाओं में प्रकृति तत्त्व के साथ प्रत्यय का योग होने पर कभी-कभी उसके मूल रूप में यत् किंचित् परिवर्तन तो हो जाता है किन्तु अर्थतत्त्व व रूपतत्त्व का पार्थक्य भी स्पष्टतः देखा जा सकता है, यथा नीति से नैतिक, सुन्दर से सौन्दर्य और मधुर से माधुर्य। इस वर्ग की भाषाओं की संख्या व प्रसार-क्षेत्र सर्वाधिक है। विश्व के सर्वाधिक समुन्नत भाषा-परिवार सामी (सेमेटिक), हामी (हेमेटिक) तथा भारोपीय इसी वर्ग से सम्बन्ध रखते हैं। इसमें सामी परिवार की भाषा अरबी का एक उदाहरण है क्-त्-ब् प्रकृति तत्त्वों से बनने वाले शब्द, यथा—'किताब' (पुस्तक), कुतुब (पुस्तकें), कातिब (लिखने वाला,) कुतबा (लेख), मकतब (पाठशाला=जहां लिखना सिखाया जाए), मक्तूब (लिखित), मकतूबात (लिखित ब व) आदि। ऐसे ही एक उदाहरण है स्-ल्-म् तथा इससे बनने वाले शब्द हैं सलीमा, सलाम, इस्लाम, मुस्लिम, मलीम तथा सुलेमान आदि।

भारोपीय परिवार की सभी भाषाएं—संस्कृत, अवेस्ता, ग्रीक, लैटिन, लिथुआनिअन, स्लाव आदि इसी वर्ग से सम्बद्ध हैं। किन्तु सेमेटिक भाषाओं में यह प्रत्यय योग प्रकृति तत्त्वों के बीच में होता है (देखो ऊपर) और भारोपीय में उसके अन्दर तथा बाहर दोनों ही स्थानों पर, यथा विवाह से वैवाहिक, लवण से लावण्य आदि में संस्कृत के शब्द रूपों—बालकाय, बालकस्य तथा क्रिया रूपों पठिष्यति *पाठयति आदि में प्रकृति और प्रत्यय पर योग श्लिष्ट होने पर भी विश्लेष्य है।* कुछ लोगों ने इस वर्ग की भाषाओं की प्रत्यय योजना की स्थिति के आधार पर इन्हें अन्तर्मुखी (अरबी) तथा बहिर्मुखी (हिब्रू, ग्रीक, लैटिन आदि) दो वर्गों में

रखने का आग्रह किया है, किन्तु प्राधान्य होने पर भी संस्कृत आदि भारोपीय वर्ग को सर्वथा बहिर्मुखी मानना सगत नही। उपर्युक्त *वैवाहिक* या *पाठ्यति* जैसे उदाहरणों मे स्पष्ट देखा जा सकता है कि प्रत्यय योगजन्य रूपात्मक परिवर्तन दोनो ही स्थितियों मे हुआ है।

प्रश्लिष्ट योगात्मक/समासप्रधान भाषाएं—इस वर्ग की भाषाओ मे प्रकृति (अर्थ तत्त्व) एव प्रत्यय (रूप तत्त्व) का ऐसे संश्लिष्ट रूप मे मिश्रण हो जाता है कि दोनो को पृथक्-पृथक् रूप मे पहचान पाना कठिन ही नहीं, असम्भव भी हो जाता है। वस्तुत इनमे भाषा की इकाई पद नही अपितु सम्पूर्ण वाक्य होता है जो कि भिन्न पद्यांशो के योग से बनता है। सस्कृत यद्यपि इस वर्ग की भाषा नही है फिर भी उसके कतिपय रूपों, विशेषकर सन्नन्त क्रिया रूपो से, भाषा की इस स्थिति को कुछ-कुछ स्पष्ट किया जा सकता है। उदारणार्थ, **चिकीर्षति** रूप को लिया जा सकता है। इसमे व्याकरणिक विश्लेषण की दृष्टि से कर्ता, क्रिया, इच्छा, काल पुरुष, संख्या आदि अनेक कोटियो के अभिव्यंजक तत्त्वो का सश्लेषण तो है किन्तु उन्हे पृथक्-पृथक् रूप मे बता सकना या देख पाना सम्भव नही।

इस वर्ग की प्रमुख भाषाए हैं—उत्तरी अमेरिका की चेरोकी, ग्रीनलैंड की 'ऐस्किमो' तथा पिरिनीज़ पर्वत श्रेणियों की बास्क। इन्हे समास प्रधान कहने का अभिप्राय यह होता है कि इनमे किसी वाक्य से सम्बद्ध सभी तत्त्व—संज्ञा, सर्वनाम, विशेषण एवं कर्त्ता, क्रिया, कर्म सक्षिप्त होकर एक समस्त पद के रूप मे सिमट जाते हैं। चेरोकी का एक प्रसिद्ध उदाहरण है—**नाधोलिनिन** जिसका अर्थ होता है 'हमारे लिए एक नौका लाओ' इसमे तीन पदो का मिश्रण माना जाता है—नतेन 'लाना' (क्रिया), अमो खोल 'नौका' (संज्ञा कर्म) तथा निन 'हम' (सर्वनाम, सम्प्रदान) किन्तु वाक्यांशो के रूप मे न तो यह बता पाना सरल है कि इनमे से किसका कितना अश किस रूप मे लिया गया है और न ही यह ही कि इन अशो का पृथक् रूप से कोई अर्थ होता भी है या नही।

इतना ही नही, कई बार तो अनेक वाक्य ही सिमट कर एक वाक्य बन जाते हैं जिसे वाक्य समास की संज्ञा दी जा सकती है। एल० एच० ग्रे ने अपनी पुस्तक 'फाउण्डेशन ऑफ लैंग्वेज' (पृ० 300) मे ग्रीन लैंड की ऐस्किमो भाषा का एक उदाहरण दिया है जो कि इस प्रकार है—**तकुसर-इअर्तोर-उम-गलुअर-मेर्प-आ?** जिसका अर्थ है 'क्या तुम सोचते हो कि वह वस्तुत. इसकी देख-रेख करने को जाना चाहता है? किन्तु उपर्युक्त वाक्य मे समेकित विभिन्न पद स्वयं में पृथक्-पृथक् वाक्यो का अर्थ रखते हैं जिन्हे इस प्रकार बताया गया है—

तकुसर=वह उसके साथ व्यस्त होता है।
इअर्तोर=वह जाता है।
उम=वह चाहता है।

गलुअर्=वह कैसा करता है।
नेर्पे=किन्तु।
आ=क्या तुम सोचते हो।

पिग्नीज पर्वत श्रेणियों में बोली जाने वाली बास्क भी यद्यपि इसी वर्ग की भाषा है किन्तु प्रश्लिष्टता की स्थिति वह नहीं जो कि ऐस्किमो में देखी जाती है। इसे आंशिक रूप से प्रश्लिष्ट भाषा कहा जाता है। यथा 'हर्कात्' मैं तुझे ले जाता हू, 'नर्कामु' तू मुझे ले जाता है, 'दकार्कोइत' मैं इसे उसके पास ले जाता हू आदि। यह स्थिति लगभग 'चिकीर्षति' (वह काम करना चाहता है) तथा जिगमिषामि (मैं जाना चाहता हू) जैसी ही है। भारत के हिमालयीय क्षेत्रों में भी सर्वनामिक वर्ग की कुछ भाषाएं ऐसी हैं जिनमें वाक्य के विभिन्न अंशों का समासीकरण पाया जाता है, यथा-किन्नौरी—स्याक् 'मैंने उसे देखा', स्याचिद 'उसने मुझे देखा', स्याओतोक् 'मैं उसे देख रहा हू', स्याचिद् वह मुझे देख रहा है, 'स्याचक्' मैं तुझे देखता हू, 'स्याचन' तू मुझे देखता है।

लिम्बू—हिप्ताट् 'उसने मुझे पीटा', हिप्तुड् 'मैंने उसे पीटा', नीसाड्, 'उसने मुझे देखा', नीसुड् 'मैंने उसे देखा।

विभिन्न भाषा विज्ञानियों ने भाषाओं के उपर्युक्त प्रकार के वर्गीकरण को लेकर इसके पक्ष तथा विपक्ष में अपने मत दिये हैं। हमें यहां इस विवाद में नहीं पड़ना चाहिए, फिर भी यह तो स्पष्ट है कि इस प्रकार के अध्ययनों में भाषाओं के संरचनात्मक रूपों के अनेक अंशों पक्ष हमारे सामने आते हैं।

(क) पारिवारिक वर्गीकरण

भाषिक परिवार की संकल्पना—भाषाओं के सम्बन्ध में परिवार की संकल्पना एक प्रतीकात्मक संकल्पना है। विश्व की अनेक भाषाओं का ऐतिहासिक विश्लेषण करने पर देखा गया कि इनमें से अनेक ऐसी हैं जो कि एक ही मूल से विकसित होकर उसी प्रकार भिन्न-भिन्न कालों में भिन्न-भिन्न रूपों को प्राप्त हुई हैं जिस प्रकार कि एक ही मूल पुरुष से उत्पन्न सन्तान पिता-पुत्र-पौत्र-प्रपौत्र अथवा माता-पुत्री-दौहित्री आदि के रूप में विकसित होती हैं। किन्तु इस सादृश्य में एक स्मरणीय बात यह है कि मानव समाज में जहां दो या तीन पीढ़ियों के लोगों का सह-अस्तित्व एक सामान्य बात है वहां भाषाओं में यह स्थिति नहीं हो सकती। वहां तो भाषा के एक रूप में जब दूसरे रूप का विकास होता है तो पूर्व रूप की सत्ता समाप्त हो जाती है, अर्थात् पूर्व रूप की सत्ता की समाप्ति के साथ ही नवीन रूप अपने अस्तित्व में आता है अथवा यह कह सकते हैं कि पूर्वकालिक भाषा ही विकसित होकर मानकालिक भाषा के रूप में अस्तित्व में आती है।

पारिवारिक वर्गीकरण का आधार—पारिवारिक वर्गीकरण का मुख्य आधार

है विभिन्न भाषाओ के बीच पाये जाने वाला आनुवशिक तथा ऐतिहासिक सम्बन्ध। इन सम्बन्धों की पुष्टि के लिए साक्ष्य के रूप मे जिन तत्त्वों पर विचार किया जाता है वे हैं—ध्वन्यात्मक तथा रूपरचनात्मक अनुरूपताएं, तथा इतिहास, पुरातत्त्व एवं इसी प्रकार के अन्य स्रोतो से पुष्ट पारस्परिक सम्बन्ध। इसके मूल मे निहित ऐतिहासिक सम्बन्धों तथा भाषा के काल-क्रमिक विकास सम्बन्धी अध्ययनों के प्राधान्य के कारण इसे 'ऐतिहासिक वर्गीकरण' भी कहा जाता है।

इस प्रकार के भाषिक वर्गीकरणो के लिए भाषा-विज्ञानियो द्वारा भाषा के जिन पक्षो पर विचार किया जाता है वे हैं—(1) ध्वनि प्रक्रियात्मक अनुरूपता, (2) रूपात्मक अनुरूपता, (3) रूप रचनात्मक पद्धतियो की अनुरूपता तथा (4) शब्दावली की अनुरूपता।

1. ध्वनि प्रक्रियात्मक अनुरूपता (Phonological Correspondences)—ध्वनि प्रक्रियात्मक अनुरूपता से अभिप्राय है किसी समान अर्थ के द्योतक शब्दों में पायी जाने वाली ध्वनियो मे परस्पर एक ही मूल से विकसित होने का साक्ष्य। यद्यपि अपने विकास-क्रम मे एक ही मूल से विकसित होने वाली ध्वनियो में भी काफी अन्तर आ जाता है किन्तु वे अन्तर ऐसे होते हैं जिनकी संगति उन भाषाओं की ध्वनि विकास की प्रक्रिया के आधार पर सरलतापूर्वक बैठाई जा सकती है। उदाहरणार्थ, भारोपीय परिवार के अन्तर्गत परिगणित भाषाओं के संख्यावाचक शब्द 'दस' को लिया जा सकता है जिसका रूप इस परिवार की भाषाओं के विभिन्न वर्गों की भाषाओ मे इस रूप में पाया जाता है—

जर्मन वर्ग—आधुनिक तथा प्रा० उ० जर्मन-त्सेहन् (zehn), गाथिक-तइहुन (taihun), प्रा० सेक्सन-तेहन् (tehan), ऐंग्लो सेक्सन-तिएन (tien), आधुनिक अंग्रेजी-तेन (ten)

लातिन वर्ग—लातिन—देकेम् (decem), इतालियन-दिएकि (dieci), फ्रेंच-दिस (dix) ग्रीक-देका (deka)

भारत ईरानी वर्ग—संस्कृत-दश, अवेस्ता-दस आदि। इनमे ध्वन्यात्मक अनुरूपता की दृष्टि से हम देखते हैं कि सभी मे प्रारम्भिक ध्वनि दन्त्य है जो कि त् ⇌ त्स् या द् के रूप मे पायी जाती है। क्योंकि अन्यत्र तुलनात्मक अध्ययनों के आधार पर देखा गया है कि संस्कृत तथा ग्रीक में मूल ध्वनियों का सरक्षण अधिक मात्रा मे हुआ है अत अनुमान किया जाता है कि मूल भारोपीय मे इस शब्द की प्रारम्भिक ध्वनि 'द्' ही रही होगी।

क्योंकि इस उदाहरण मे दिए गए शब्द के समान और भी सैकड़ो शब्द हैं जिनमे ये भाषाएं ध्वन्यात्मक तथा अर्थात्मक दृष्टि से निकट अनुरूपता दिखाती हैं। अतः माना जाता है कि ये सभी एक ही मूल से विकसित हुई हैं अर्थात् एक ही परिवार की हैं।

इस सम्बन्ध में इतना और भी ध्यान रखने की बात है कि प्रत्येक भाषा की *ध्वनि-विकास सम्बन्धी अपनी स्वतन्त्र प्रक्रिया होती है।* उसमें होने वाले ध्वनि-विकास उन्हीं नियमों से नियमित होते हैं। फलत: कई बार एक ही मूल से नि:सृत शब्द के भिन्न-भिन्न भाषाओं में भिन्न-भिन्न ध्वनि रूप भी पाये जा सकते हैं। *उदाहरणार्थ, ग्रीक शब्द 'बोउस' तथा संस्कृत शब्द 'गोम' (गौ)* परस्पर सम-स्त्रोतीय/समजातीय होने पर भी पृथक्-पृथक् ध्वन्यात्मक रूपों में देखे जाते हैं। दोनों का विकास मूल भा.योपीय गाउस् से माना जाता है। पर साथ ही दूसरी ओर *यह भी द्रष्टव्य है कि समान ध्वनि वाले होने पर भी दो भिन्न-भिन्न भाषाओं के* शब्दों का सजातीय (cognete) होना आवश्यक नहीं, यथा संस्कृत का 'श्लोकम्' तथा अंग्रेजी का 'स्लोगन' अथवा अंग्रेजी का 'कॉल' (call) तथा ग्रीक का 'कॉलो' (calo) अर्थ तथा ध्वनि की दृष्टि से एक-दूसरे के अति निकट होने पर भी एक स्त्रोतीय नहीं। अत: इस प्रकार के साम्यों के आधार पर भाषाओं का वर्गीकरण करते समय अत्यन्त सावधानी तथा विवेक बुद्धि की आवश्यकता होती है।

2 रूपात्मक अनुरूपता (Formal Correspondences)—यदि हम किन्हीं भाषाओं अथवा भाषा वर्गों के कतिपय शब्द-समूहों का परीक्षण करें तो हमें उनसे अनेक शब्द या शब्द रूप ऐसे मिल सकते हैं जो कि रूपात्मक दृष्टि से तथा उनमें संकेतित अर्थों की दृष्टि से यत्किंचित् अन्तर की स्थिति में होने पर भी उन रूपों को किसी ऐसे मूल रूप से जोड सकते हैं जो कि उन सभी के साथ अर्थ सम्बन्धी एकरूपता रखता हो। *यहां तक कि बड़ी संख्या में शब्द रूपों की तुलना से यह भी* देखा जा सकता है कि उन सबमें कुछ ऐसी नियमित समानताएं पायी जाती हैं जिनके आधार पर उनकी रूपात्मक अनुरूपताओं की स्थापना की जा सकती है। वस्तुत: ध्वन्यात्मक अनुरूपताओं का निर्धारण भी रूपात्मक समानताओं के निर्धारण के उपरान्त ही हुआ है।

3 रूप रचनात्मक अनुरूपता (Morphological Correspondences)—यह एक सामान्य अनुभव की बात है कि जब एकाधिक भाषिक समुदायों के लोग दीर्घकाल तक एक-दूसरे के सम्पर्क में रहते हैं तो उनमें विभिन्न वर्गों के शब्दों का आदान-प्रदान होता रहता है। फलत: भिन्न पारिवारिक सम्बन्धों वाली भाषाओं में भी शाब्दिक आदान-प्रदान न्यूनाधिक मात्रा में पाया जाता है, यथा प्राचीन भारत में ही संस्कृत-द्रविड तथा मुण्डा परिवार की भाषाओं में। अर्थात् संस्कृत में सैकड़ों शब्द इन अन्य दो परिवारों की भाषाओं से सम्मिलित हो गये तथा इसी प्रकार संस्कृत के सैकड़ों शब्दों को इन वर्गों की भाषाओं में आत्मसात् कर लिया। इतनी बड़ी मात्रा में शब्दों में अनुरूपता के बावजूद भी इन्हें एक वर्ग में नहीं रखा जा सकता, क्योंकि किसी भाषा की वर्गीयता का निर्धारण करने के लिए उसके शब्दों के रूपात्मक तथा ध्वन्यात्मक पक्षों के अतिरिक्त उनके रूप-रचनात्मक पक्षों

का परीक्षण भी आवश्यक होता है। वस्तुतः यही वह पक्ष है जो कि अधिकृत रूप से किन्ही एकाधिक भाषिक रूपों की वर्गीयता का निर्धारण करता है, जैसाकि *ऊपर बताया गया है, शब्दों का आदान-प्रदान तो निर्बाध रूप से भी हो सकता* है, ध्वनियां भी बाह्य प्रभावों से प्रभावित होकर इतनी अधिक बदल सकती हैं कि उन्हें पहचानना भी कठिन हो सकता है, किन्तु व्याकरणिक तत्त्वों पर बाह्य प्रभाव नगण्य हुआ करता है, क्योंकि कोई भी भाषिक वर्ग अन्य भाषिक वर्ग की रूप-रचना का आदान कभी नही करता है। अत. किसी भाषा की व्याकरणिक कोटियों *एवं उनकी रूप-रचनात्मक प्रणाली मे पायी जाने वाली समरूपताओ के आधार* पर उनकी एक स्रोतीयता का निर्धारण अधिक विश्वसनीय होता है। इसीलिए ऐतिहासिक दृष्टि से एक ही मूल स्रोत से विकसित होने वाली भाषाओं मे रूप-रचनात्मक समरूपता की स्थिति अधिक सुदृढ रूप मे पायी जाती है।

4 **शब्दावली की अनुरूपता**—परस्पर सम्बद्ध भाषाओ में, विशेषत सर्वनामों, संख्या वाचक शब्दों, नाते-रिश्ते के वाचक शब्दो, दैनंदिन व्यवहार मे आने *वाली वस्तुओं तथा क्रियाकलापो, पालतू पशुओं अथवा अत्यधिक प्रयोग में आने* वाली धातुओ आदि की संकेतक शब्दावली में समरूपता का पाया जाना एक सामान्य बात है। किन्ही भाषाओ के पारस्परिक पारिवारिक सम्बन्धो की स्थापना में शब्दावली की समरूपता का भी योगदान होता है। यहां तक कि उस वर्ग की ऐसी भाषाओ की अनुरूपी शब्दावली के आधार पर उस मूल भाषा के शब्द रूपों *की पुनर्रचना भी की जा सकती है जो कि अपने मूल मे किसी भी भाषा मे* प्रचलित नहीं होते।

विभिन्न भाषाओ के पारिवारिक सम्बन्धों के सूचक इस आधार को निम्न शब्द सारिणी से स्पष्ट किया जा सकता है।

संस्कृत	अवेस्ता	ग्रीक	लैटिन	प्रा उ. जर्मन		गॉथिक	अंग्रेजी	मूल भारो
अहम्	अजम्	एगो	एगो	………		इक्	आई	*एघ्वो/एग्वो
कस् (क.)	को	होम्	क्विस्			ह्वस्	ह्व	*गो-स्
पञ्च	पेन्ते	पन्ते	क्विंके	फ़ून्फ		फिन्फ	फाइव	*पेंके
सप्त	हप्त	हेप्ता	सेप्तेम्	जीबुन (मीबुन)		जीबुन	सेवेन	*सेप्तम्
पितृ	...	पत्रोम्	पतेर	फातेर		फादेर	फादर	*पतेर
मातृ	...	मात्रोम्	मातेर	मुनेर	...	मुत्तेर	मदर	*मातेर
भ्रातृ (भ्राता)	ब्राता	...	फ्रातेर	ब्रदर	...	ब्रूदर	ब्रदर	*ब्रातेर
अश्व	अस्प	हिप्पोम्	एक्वोम्	...	...	अइहव	हार्स	*एक्वोस

वृकस् (वृक)	वह्रको	लुकोस्	लुपुए	वुल्फ	···	वुल्फस्	वुल्फ	*उल्कुओस्
अयस् (अय)	अयह्	···	···	इसर्न	···	आइसर्न	आइरन्	*आइओम्
भूर्ज	···	···	···	फँक्सिमुस	बिर्च	···	बिर्च	*भर्गस्
मधु	मधु	मेपु	···	मेतु	···	···	मीद	*मेधु
अस्ति	अस्ति	एस्ति	एस्त	इस्त	···	इस्त	इज	*एस्-ति
भरामि	बरइमि	फेरो	फेरो	···	···	बइर	बियर	*भेरो
दमस् (दमः)	···	दोमोस्	दोमुस्		···	···	···	*दोमोम्
नभस् (नभ)	नबो	नेफोस्	नेबुला		···	···	···	*नेभोस्
अस्थि	अस्त	ओस्तेओन्	ओस्		···	···	···	*ओस्थ

विश्व के भाषा परिवार :

यद्यपि विश्व के सभी छोटे-बड़े सभ्य-असभ्य तथा अर्धसभ्य मानव समुदायों के बीच भाव प्रसार के माध्यम के रूप में प्रचलित भाषिक रूपों (भाषाओं और बोलियों) की ठीक-ठीक संख्या बता पाना अति कठिन कार्य है फिर भी भाषा विज्ञानियों ने अब तक की ज्ञात एवं अधीत भाषाओं के आधार पर उनकी संख्या एवं पारस्परिक सम्बन्धों के विषय में अनुमान लगाने का यत्न किया है। भाषा विज्ञानियों की एक संस्था 'फ्रेंच अकादमी' के अनुसार यह संख्या 2796 है जो कि एक मोटा अनुमान ही कहा जायेगा क्योंकि अनेक कबीलों तथा जनजातियों के सम्बन्ध में हमारी बढ़ती हुई जानकारी के साथ उनकी भाषाओं की संख्या के विषय में भी हमारी जानकारी में वृद्धि हो रही है।

यह तो हुई भाषाओं की सत्ता के सम्बन्ध में जानकारी की बात। जहां तक इनके अध्ययन तथा विश्लेषण का सम्बन्ध है वह तो शतांश में भी नहीं हो पाया है। फिर भी कतिपय भाषाविदों ने इन भाषाओं के सम्बन्ध में मोटे तौर पर उपलब्ध सूचनाओं के आधार पर इन्हें 26 परिवारों में विभक्त करने का यत्न किया है। स्वयं भारतीय उपमहाद्वीप में ही जिन परिवारों से सम्बद्ध भाषाएं बोली जाती हैं वे है—1 भारोपीय, 2 द्रविड़, 3 तिब्बत-बर्मी, 4 आग्नेय या मुण्डा। ग्रियर्सन के भारतीय भाषा सर्वेक्षण के अनुसार यहां पर बोली जाने वाली भाषाओं की संख्या 368 है, जिनमें से 132 भारोपीय परिवार की, 26 द्राविड़ परिवार की, 51 तिब्बत-बर्मी परिवार की, 14 मुण्डा परिवार की तथा शेष कतिपय आदिम वर्गों की, यथा अण्डमानी, निकोबारी एवं अन्यान्य वर्गों के अन्तर्गत आती हैं।

भारत के शिक्षा, समाज कल्याण तथा संस्कृति मन्त्रालय की एक सूचना के अनुसार 1971 की जनगणना मे मातृभाषा के रूप मे 3000 भाषाओं का लेखांकन किया गया था तथा जनगणना अधिकारियों के द्वारा परिनिरीक्षण करने के उपरान्त इनमे से 1312 को मातृभाषा के रूप मे सूचीबद्ध किया गया (इण्डियन एक्सप्रैस 24 4 79)।

स्वयं लेखक ने 1980 मे हिमाचल प्रदेश की लाहुल घाटी में एक ऐसी भाषा का पता लगाया है जिसके विषय मे न तो ग्रियर्सन के सर्वेक्षण मे कही कोई उल्लेख है और न किसी जनगणना में ही। लेखक ने इसे इसके बोलने वालों की जाति के नाम के आधार पर 'चिनाली' के नाम से अभिहित किया है, स्थानीय लोगों के द्वारा इसे 'डागी' भी कहा जाता है।

जैसाकि ऊपर सकेत किया जा चुका है कि विश्व की सभी भाषाओं तथा बोलियों की स्थिति के सम्बन्ध मे न तो हमारा ज्ञान ही पूरा है और न उन सबकी भाषयी सामिग्री का लेखा-जोखा ही हमारे पास है। उपलब्ध सामग्री के सम्बन्ध मे भी विद्वान एक मत नहीं। जिसके फलस्वरूप हमे एक ओर तो इन वर्गों की संख्या सौ से ऊपर मिलती है तथा दूसरी ओर मात्र दस की। अधिकतर विद्वान इनकी मध्य स्थिति के पक्षपाती हैं जिनके अनुसार यह संख्या 12 और 26 के बीच होनी चाहिए। प्रसिद्ध भाषाविद् प्रो० लुई० एच० ग्रे (1958:303) ने जिन 26 परिवारों की परिगणना की है वह इस प्रकार हैं : 1. भारोपीय 2 हामी-सामी, 3 यूराली अथवा फ़िनोयूग्री, 4 अल्ताई 5. जापानी-कोरियाई 6. ऐस्किमो, 7 काकेशस 8. इबरो-बास्क, 9. निकट पूर्वी तथा एशियाटिक, 10. अत्युत्तरी (हाइपर बोरियन), 11. बुरुशस्की, 12 द्रविड, 13. अण्डमानी 14. चीन-तिब्बती, 15 ला-तो, 16. आग्नेय (दक्षिणपूर्व एशियाई) 17. मलय द्वीपी, 18. पापुई, 19 आस्ट्रेलियाई 20 तस्मानी, 21 सूडानी-गिनी, 22 बन्तू, 23. होतेन्तोत-बुशमेन, 24. उत्तरी अमरीकी, 25 मैक्सिको, 26. मध्य अमरीकी।

क्योंकि प्रस्तुत अध्ययन का मुख्य उद्देश्य भारोपीय परिवार की एक प्रमुख भाषा संस्कृत के भाषा वैज्ञानिक पक्षों पर विशेष जानकारी प्राप्त करना है अतः हम इन भाषा परिवारों के विषय में अधिक विस्तार मे न जाकर इसके कतिपय प्रसिद्ध परिवारों के सम्बन्ध में मात्र सक्षिप्त टिप्पणियां ही प्रस्तुत करेंगे।

1. **भारोपीय**—क्योंकि इस परिवार के सम्बन्ध में अगले अध्याय मे विस्तार के साथ विचार किया जाना है इसलिए यहां पर इस पर विचार नहीं किया जा रहा है।

2. **द्रविड़ परिवार**—द्रविड परिवार की भाषाएं मुख्य रूप से भारत के चार दक्षिणी राज्यों मे बोली जाती हैं। भारत के बाहर केवल मध्य बलूचिस्तान में

इसकी एक बोली ब्राहुई के अवशेष पाये जाते हैं। इसकी प्रमुख भाषाएं हैं—तमिल, तेलुगु, कन्नड, और मलयालम, जो कि पूर्ण विकसित एव साहित्यिक भाषाएं हैं। इनके अतिरिक्त इसकी कई बोलिया भी हैं जो कि इस प्रकार हैं—तुलू (कुर्ग तथा बम्बई के सीमा क्षेत्र मे), कोडगू (कुर्ग तथा मैसूर मे), टोडा, कोटा तथा माल्टो (राजमहल, बगाल मे), कुई (उडीसा मे), कोलामी (बरार मे)।

विशेषताएं—संक्षेप मे इन भाषाओ की विशेषताएं हैं—1. अश्लिष्ट योगात्मक प्रकृति तथा प्रत्यय स्पष्ट एवं प्रत्ययो से योग होने पर प्रकृति मे कोई विकृति नही, 2. ध्वनि प्रक्रिया मे मूर्धन्य ध्वनियो का बाहुल्य, 3 समस्वरता, 4 ए, ओ स्वरो मे ह्रस्वता एव दीर्घता अर्थ भेदक, 5 संज्ञा पदो का सजीव एव निर्जीव अथवा महत्-अमहत् वर्गों मे विभाजन, 6 लिंग तीन, किन्तु लिंग भेद का आधार स्त्रीत्व, पुरुषत्व न होकर सजीवत्व तथा निर्जीवत्व तथा लिंग बोध के लिए संज्ञा पदो के साथ 'स्त्री' 'पुरुष' बोधक पदो का योग, 7 विशेषणो का अव्ययत्व, 8 विभक्तियो के स्थान पर प्रत्ययो का योग, 9. क्रिया पदों मे कृदन्त रूपो का आधिक्य, 10 क्रिया पदो में पुरुष का बोध पुरुष वाचक सर्वनामो से।

3 बुरुशस्की—यह कभी भारतीय भाषाओ मे एक समृद्ध परिवार था किन्तु अब नामशेष रह गया है। इसका क्षेत्र भारत का उत्तर-पश्चिमी छोर है जो कि चारों ओर से तुर्की, तिब्बती तथा भारत ईरानी परिवार की भाषाओ से घिरा हुआ है। इसके अवशेष हुजा, नगर, गिजिर तथा यासिन के एक भाग की बोलियो मे पाये जाते हैं।

4 उराल-अलताई—कुछ लोग इन्हे दो पृथक् वर्ग मानते हैं तथा कुछ दोनों का एक ही वर्ग मे समावेश करते हैं। अब अधिक लोग द्वितीय मत के पक्षपाती हैं। इनमे से उराली का क्षेत्र है—फिनलैंड, नार्वे, एस्तोनिया, हगरी, साईबेरिया तथा अलताई का क्षेत्र है—तुर्की, किर्गिज, अजरबेजान, उजेबेकिस्तान, मगोलिया तथा मचूरिया।

विशेषताएं—इस वर्ग की भाषाओं की कतिपय विशेषताए इस प्रकार हैं—1 अश्लिष्ट योगात्मकता, (उदाहरणार्थ देखें आकृतिमूलक वर्गीकरण मे पर-प्रत्यय-योगी), 2 समस्वरता अर्थात् प्रकृति तथा प्रत्यय मे स्वरो की समरूपता अर्थात् अग्रस्वरो वाली प्रकृति के साथ अग्रस्वरात्मक प्रत्ययो का योग तथा पश्चस्वरात्मक प्रकृति के साथ पश्च स्वरात्मक प्रत्ययों का योग यथा—केज (हाथ) बेन (मे)= केजवेन 'हाथ मे' तथा हाज (घर) बान (मे)=हाज बान 'घर मे' (उभयत्र प्रकृति के स्वर के अनुरूप ही प्रत्यय के स्वर मे परिवर्तन।)

5. काकेशी—इसका क्षेत्र है कृष्ण सागर तथा कैस्पियन सागर के मध्य का काकेशस पर्वत के आसपास का भाग। इसमे अनेक बोलियां ऐसी हैं जिनके विषय

में अभी समुचित जानकारी ही उपलब्ध नही है। इसकी प्रमुख बोलिया है—अवर, वेचेन, जार्जी, लेगीं आदि। जार्जी इसकी प्रमुख भाषा है।

विशेषताएं—1. संरचना की दृष्टि से इनमे श्लिष्ट, अश्लिष्ट तथा प्रश्लिष्ट सभी प्रकार की सरचनाएं पायी जाती हैं, 2. ध्वन्यात्मक दृष्टि से व्यंजन ध्वनियों की विविधता (अवर में 43 व्यंजनों की सत्ता), 3 पद रचना की जटिलता, (अवर मे 30 विभक्तियों तथा 6 लिंगों की सत्ता), 4. सार्वनामिकता अर्थात् अनेकत्र सार्वनामिक पदो तथा क्रिया पदो का प्रश्लेष।

6 **चीनी**—चीनी एक बहुत बड़ा परिवार है। इसकी कई शाखाएं हैं। तिब्बत-बर्मी इसकी एक प्रमुख शाखा है जो कि भारत में एक स्वतन्त्र भाषाई परिवार का अस्तित्व रखती है। इसीलिए इसे चीनी-तिब्बती परिवार भी कहा जाता है। यह एशिया के बहुत बडे भूभाग मे तथा बहुत बड़ी जनसख्या के लोगो के द्वारा बोली जाती है। चीन, वर्मा, स्याम, तिब्बत तथा भारत के हिमालयीय क्षेत्रों की भाषाएं तथा बोलियां इसी की अंग हैं।

विशेषताएं—इस परिवार की कतिपय ऐसी विशेषताए है जो कि अन्य परिवारो की भाषाओं में नही पायी जाती। इनमें से कुछ प्रमुख है, 1. पदो की एकाक्षरता तथा अयोगात्मकता, 2. पद विभाग का अभाव, 3. पदो के सज्ञा, क्रिया, विशेषण आदि रूप का निर्धारण उनकी वाक्यान्तर्गत स्थिति के आधार पर, 4 स्वर-तान अर्थ भेदक, 5 अनेकार्थक शब्दो का अर्थ निर्धारण तान या शब्द युग्म से, यथा येन=धुआं, नमक, आख, हंस। इनके प्रसंग गत अर्थ का निर्धारण तान से अथवा युग्म से यथा येन (आख)+चिङ् (पुतली)=येनचिङ् 'आख', येन (नमक) +पाई (महीन)=येनपाई 'नमक' (अधिक उदाहरणो के लिए देखिए आकृतिमूलक वर्गीकरण के अन्तर्गत अयोगात्मक भाषाए)।

7. **जापानी-कोरियाई**—ये भाषाए मुख्य रूप से जापान, कोरिया तथा फारमोसा, मंचूको, करोलीन आदि द्वीपो मे बोली जाती हैं। अभी इनका सम्यक् विश्लेषण किया जाना बाकी है। कुछ विद्वान् इन्हें एक परिवार न मानकर अलग-अलग परिवार मानते हैं।

विशेषताएं—1. आकृति की दृष्टि से ये अयोगात्मक वर्ग मे आती है, 2 उच्चारण में प्रायः सभी शब्द समान बलाघात (Staccato accent) के साथ बोले जाते हैं, 3 भाषा के लिखित तथा उच्चरित रूपों में द्विभाषिता (Dichotomy) पायी जाती है, 4 व्याकरणिक लिंग का अभाव होता है तथा सजीव सज्ञापदो के साथ 'नर' 'मादा' बोधक शब्दो से लिंग निर्देश किया जाता है। यथा इनु 'कुत्ता जाति', ओइनु=(नर) कुत्ता, में इनु=(मादा) कुत्ता। लिंग निर्देश की यह प्रक्रिया कई अन्य वर्गों की भाषाओं मे भी पायी जाती है यथा पट्टनी (लाहुल)—कट्‌ 'बच्चा' गड्मो कट्‌ 'लड़का', (नर मानव) मेच्मी कट्‌=लड़की, (स्त्री मानव)

5 निब्बन वर्गों के समान विशेषण की विशेष्य के बाद स्थिति तथा संख्या वाचक शब्दों की विशेष्य के साथ वचनात्मक अन्विति, यथा—गो 'पाच' हेन कलम= गोहेन 'कलमे पाच', हितो गोनिन आदमी पाच, 'इनु गोहिकी' कुत्ते पाच आदि। 6 कारकीय सम्बन्ध का बोध परसर्गों द्वारा।

8 अत्युत्तरी—एशिया के उत्तर पूर्वी छोर के क्षेत्रो मे बोली जाने वाली अनेक बोलियो का अभी तक पारिवारिक दृष्टियों से अध्ययन न हो पाने के कारण उन्हे दिग्वाची नाम से अभिहित किया जाता है। अग्रेजी मे इसे हाइपर (अति) बोरियन (उत्तरी) कहा जाता है, अत्युत्तरी उसी का अनुवाद है। इसके अतिरिक्त इन्हे पेलियो-एशियाटिक (पुरा एशियाई) नाम से भी पुकारा जाता है। इस वर्ग मे परिगणित प्रमुख बोलियां है—युगकिर, चुकची, कोरियक, कमचदल, गिलियक, अइनू आदि, जोकि उनके क्षेत्रो के नाम से ही बोधित होती है।

विशेषताएं—अभी तक इस वर्ग की भाषाओं का विश्लेषण न हो पाने से इनकी विशेषताओ के सम्बन्ध मे विशेष जानकारी दे पाना कठिन है। अइनू बोली के उदाहरणो से पता चलता है कि इसमे 1. कारकीय प्रत्ययो का योग पदान्त मे होता है, यथा—कोन-तिम् 'मनुष्य का घर। 2. काल का संकेत सहायक क्रिया से दिया जाता है जैसे हिन्दी मे 'मैं जाता हू' (वर्तमान), मैं जाता था (भूत), 3. सख्याओं के परिगणन मे दस तथा बीस को आधार बनाकर गिनती की जाती है, यथा अरवन (तीन कम दस)=सात, रे कशिमवन् (तीन अधिक दस)=तेरह इन-होत्ने (चार, बीस)=अस्सी।

9 इबेरो-बास्क—इस परिवार की भाषाओ का क्षेत्र है स्पेन तथा फ्रांस की सीमा के पास स्थित पश्चिमी पेरनीज प्रदेश। बास्क इनमे से प्रमुख भाषा है तथा इसी का थोड़ा बहुत विश्लेषण भी किया गया है। अत मोटे तौर पर इसी नाम पर इस परिवार का नामकरण कर दिया गया है। इसके आधार पर ही इसकी जिन कतिपय विशेषताओं का पता चला है वे हैं—1. मुख्यत. अश्लिष्ट योगात्मक, 2 क्रिया पदो में सर्वनामाशो का प्रश्लेषण तथा 'हर्कातु' मैं तुझे ले जाता हूं, 'नर्कामु' तू मुझे ले जाता है। 3 क्रिया पद-रचना की विविधता, प्रत्येय क्रिया के कम-से-कम 24 रूप, 4 वाक्य रचना कर्मवाच्य की, 5 इसकी सबसे बड़ी विशेषता है कर्ता के स्थान से क्रिया के काल का निर्धारण, यदि कर्ता वाक्य के अन्त मे रखा गया है तो क्रिया वर्तमान कालिक समझी जायेगी और यदि उसे वाक्य के आदि मे रखा गया है तो भूतकालिक 6 लिंग भेद केवल क्रिया रूपों मे पाया जाता है किन्तु विशेष बात यह है कि यह वक्ता के लिंग से अन्वित न होकर श्रोता के लिंग से अन्वित होता है अर्थात् यदि वक्ता स्त्री है और श्रोता पुरुष है तो क्रिया पुलिंग मे होगी और यदि वक्ता पुरुष है और श्रोता स्त्री है तो क्रिया स्त्री लिंग मे होगी।

11. सामी-हामी—इनकी एकता तथा द्वैधता के सम्बन्ध मे विद्वानो मे मतभेद

पाया जाता है। कोई इन्हें एक ही परिवार के अन्तर्गत रखने के पक्षपाती हैं तथा कोई दो परिवारों के रूप में। इन्हें ही अंग्रेजी में सेमेटिक-हेमेटिक भी कहा जाता है। इनका क्षेत्र काफी विशाल है। इसमें से सामी वर्ग की भाषाएं फिलिस्तीन, अरब, ईराक, सीरिया, मिस्र, इथियोपिया, तुनीसिया, अलजीरिया तथा मोरक्को में बोली जाती हैं तथा हामी वर्ग की लीबिया, सोमाली लैंड तथा इथियोपिया में। ये सभी क्षेत्र उत्तरी अफ्रीका के भाग हैं। सामी शाखा की प्राचीन भाषा अक्कादी, कनानी, अरमी हैं, आधुनिक हिब्रू, अरबी आदि इसी की शाखाएं हैं तथा हामी वर्ग की प्राचीन भाषा प्राचीन मिस्री (चित्रलिपि में सुरक्षित) है। आधुनिक लिबिको-बर्बर, कुशीनी और कौप्तीय भाषाएं इसी की शाखाएं हैं।

विशेषताएं—दोनों ही वर्गों की भाषाओं की अपनी-अपनी कतिपय विशिष्टताएं पायी जाती हैं। सामी की शब्द-रचना का आधार उसका धातु मूल होता है जो कि त्रिव्यंजनात्मक होता है। इन्हीं के साथ विभिन्न स्वरों का योग करके विभिन्न अर्थ बोधक पदों की रचना की जाती है—यथा (अरबी) क्-त्-ब् लिखना : 'किताब . पुस्तक', कुतुब् पुस्तकें, 'कातिब्' लेखक आदि। इसके अतिरिक्त धातु के मूल रूप पर ही स्वरों के अतिरिक्त उपसर्गों तथा प्रत्ययों का योग करके अन्य प्रकार के शब्द भी व्युत्पन्न किये जाते हैं, जैसे—'यक्तुबु' वह लिखेगा, 'युक्ताबु' 'यह लिखा जायेगा', अक्तब् 'उसने लिखा', इक्ततब् 'लिखा गया', इक्ततब् 'उसने श्रुतलेख लिखा, कातबन 'लिखने का काम।' अन्य परिवारों की भाषाओं की अपेक्षा इस परिवार की भाषाओं में पारस्परिक विभेद बहुत कम पाये जाते हैं।

हामी की विशेषताएं—1. पद रचना में सामान्यतः उपसर्ग-प्रत्यय आदि के योग के अतिरिक्त द्वित्व (अभ्यास) विधि का भी उपयोग, यथा—लब 'मोड़ना' लबलब 'बार-बार मोड़ना', गोई 'काटना', गोई-गोई 'टुकड़े टुकड़े करना' आदि।

2 व्याकरणिक लिंग की सत्ता तथा लिंग निर्णय का आधार संकेतित पदार्थ की आकृति, स्वरूप तथा प्रारम्भिक ध्वनि, यथा—पहाड़ (पु०) किन्तु पत्थर (स्त्री०) हाथी; (पु०), गधा (स्त्री०)। ध्वनियों की दृष्टि से कण्ठ्य ध्वनियों से प्रारम्भ होने वाले पद पुलिंग तथा दन्त्य ध्वनियों से प्रारम्भ होने वाले स्त्रीलिंग, यथा गल्ल भाषा में कक 'तेरा': तले 'तेरी'।

3. वचन सम्बन्धी विशेषता दो रूपों से लक्षित होती है। बहुवचन के दो रूप: एक संख्यात्मक दूसरा समूहात्मक, यथा—बिल्ला 'पतंगा': बिल्ल 'पतंगे' (ब. व), बिल्ले 'पतंगों का झुण्ड' (समूहात्मक), 2. वचन भेद, लिंग भेद से संसक्त अर्थात् यदि एक वचन पुल्लिंग है तो बहुवचन स्त्रीलिंग अथवा तद्विपरीत, यथा होयोदि 'मां' (ए. व. स्त्री) किन्तु होयिन-कि "माताएं" (ब. व. स्त्री), लिबह्-हि 'सिंह' (ए व. पु) लिबह्-ह्योदि 'सिंह' (ब. व. स्त्री)। इस प्रकार का यह वचन सम्बन्धी लिंग विपर्यय भाषा विज्ञान में ध्रुवाभिमुखी नियम कहलाता है।

11. सुडानी-गिनी परिवार—इस परिवार की भाषाओं का क्षेत्र है अफ्रीका महाद्वीप में भूमध्य रेखा के उत्तर में पश्चिमी छोर से लेकर पूर्वी छोर तक। इसके उत्तर में हामी-सामी परिवार तथा दक्षिण में बन्तू परिवार की भाषाएं बोली जाती हैं। इस परिवार की भाषाओं की संख्या 400 से भी अधिक आंकी गयी है। जिनमें से अधिकतर अभी सर्वथा अनधीत हैं। इनमें से कतिपय ज्ञात नाम हैं—हुउसा, वुले, मानफू, कनूरी, नूबियायी, मसाई आदि। कुछ लोग इन्हें एक परिवार मानते हैं तथा कुछ भिन्न-भिन्न।

विशेषताएं—1 कई दृष्टियों से इन भाषाओं की प्रकृति चीनी की प्रकृति से मेल खाती है अर्थात् उसी के समान ये एकाक्षरी तथा अयोगात्मक है। विभक्तियों के अभाव में पद विभाग की स्थिति भी लगभग वैसी ही है। उसी के समान अर्थाभिव्यक्ति के लिए सुरों एवं तानों का सहारा लिया जाता है।

2 व्याकरणिक कोटियों का संकेत कतिपय अन्य भाषाओं के द्वारा अपनायी जाने वाली संकेत विधि से ही किया जाता है, यथा लिंग बोध के लिए 'नर', 'मादा' या 'स्त्री-पुरुष' वाचक पदों का प्रयोग, वचन बोध के लिए सर्वनामों के बहुवचनीय रूपों में, ये, वे आदि का या 'आधिक्य' के बोधक, 'लोग' आदि शब्दों का प्रयोग। इसके अतिरिक्त पूर्वी सुडान की बोलियों में स्वर के दीर्घीकरण से भी बहुत्व का संकेत बोध कराया जाता है। यथा—रोर जगल : रोऽर जगल (बु. व)

3 वाक्य रचना की दृष्टि से सबसे अधिक उल्लेख्य विशेषता यह है कि इसमें केवल सरल वाक्यों की ही स्थिति पायी जाती है। योजक निपातों के अभाव में संयुक्त एवं मिश्र वाक्यों की रचना सम्भव नहीं। जिसके फलस्वरूप 'मैंने पुस्तक पढ़ी' जैसे वाक्यों को भी 'मैंने पुस्तक ली' तथा 'मैंने उसे पढ़ा' जैसे दो सरल वाक्यों के रूप में अभिव्यक्त करना पड़ेगा।

12. बन्तू परिवार—इस परिवार की भाषाओं का क्षेत्र है सुदूर दक्षिण पश्चिमी भाग को छोड़कर सम्पूर्ण अफ्रीका प्रदेश। इसके उत्तर में सुडानी परिवार की तथा दक्षिण में होतेन्-तोत-बुशमैनी परिवार की भाषाएं बोली जाती हैं। इसकी प्रमुख भाषायें हैं—स्वाहिली, जुलु, काफिर, रुआन्डा, उम्बुन्दु, हेरेरो, कांगो। इनमें स्वाहिली, जुलु, काफिर आदि का अध्ययन हो चुका है तथा उनके स्वरूप एवं प्रकृति के सम्बन्ध में काफी तथ्य प्रकाश में भी आ चुके हैं। इसके नामकरण का आधार मानव के अर्थ में प्रयुक्त न्तु शब्द का बहुवचनी रूप है। इसमें 150 के लगभग भाषाएं हैं।

विशेषताएं—इस परिवार की भाषाओं की जो विशेषताएं प्रकाश में आयी है उनमें से कतिपय इस प्रकार है : पूर्वप्रत्ययप्रयोग—इनकी सबसे बड़ी विशेषता है व्याकरणिक कोटियों के निर्देशक विभिन्न प्रत्ययों का संज्ञा पदों के पूर्व योग, यथा—म्तु मनुष्य बिन्तु बन्तु 'बहुत से मनुष्य' (इसमें ब बहुवचन

बोधक प्रत्यय है); काफिरी—जे वह, नि वे, ति हम, कु को : अब इनकी रूप रचना मे प्रकृति तथा प्रत्यय की स्थिति इस प्रकार होगी—कुजे उसको, कुनि उनको कुति हमको आदि । जुलु—उमु (ए. व.) बोधक, अब (ब. व.) बोधक प्रत्यय, न्तु 'मनुष्य' रूप रचना मे इनकी स्थिति होगी—उमु-न्तु एक व्यक्ति : अब-न्तु अनेक व्यक्ति ।

इसकी कुछ भाषाओं, यथा स्वाहिली (जो कि इस वर्ग की प्रमुख भाषा है) मे संज्ञाएं अलग-अलग वर्गों मे विभक्त होती है, जैसे मनुष्य, पशु, वृक्ष, जल आदि तथा इनमे अलग-अलग वर्ग के शब्दो के साथ ही उपसर्ग भेद भी हो जाता है। इन उपसर्गों के योग के सम्बन्ध मे एक उल्लेखनीय बात यह भी है कि विशेषण के योग की स्थिति मे वही उपसर्ग विशेष्य तथा विशेषण दोनो के साथ जोड़ा जाता है, यथा (स्वाहिली)—म्-यु-म्-जूरी सुन्दर मनुष्य (ए. व.)। यहा पर उपसर्ग म् का योग विशेषण तथा विशेष्य दोनो के साथ किया गया है। (वा-शु वा-जूरी (ब. व) सुन्दर मनुष्य; यहां भी वा उपसर्ग (ब. व) का प्रयोग दोनो के साथ किया गया है।

ध्वन्यात्मक संरचना की दृष्टि से इन भाषाओं की एक विशेषता यह भी है कि इनमें शब्द प्राय. स्वरान्त होते हैं तथा व्यंजन संयोग नही पाये जाते।

13. होतेन्तोत-बुशमैनी—इन भाषाओ का क्षेत्र दक्षिण-पश्चिमी ओरेंज नदी से लेकर नगामी झील तक का विस्तृत प्रदेश है तथा इस वर्ग की प्रमुख बोलियां है, होतेन्तोत, नामा, हमरा, सन्दवा, एक्वे तथा ओकवे ।

विशेषताएं—*इस वर्ग की भाषाओ की सबसे महत्त्वपूर्ण विशेपता है अन्त.-* स्फोटी ध्वनियां, जिन्हे 'क्लिक्' ध्वनियाँ कहा जाता है। इनमे पायी जाने वाली क्लिक ध्वनिया ओष्ठ्य, दन्त्य, मूर्धन्य, तालव्य एवं पार्श्विक भेद से पाच प्रकार की होती हैं जो कि श्वास को अन्दर की ओर खीचने से उत्पन्न होती हैं।

लिंग निर्धारण का आधार स्त्रीत्व पुरुषत्व न होकर प्राणित्व, अप्राणित्व होता है। बहुवचन व्यवस्था भी अति जटिल एव अनियमित होती है। बताया जाता है कि यह 50-60 प्रकार से सम्पन्न की जाती है।

14. मलय-पोलिनेशियाई—इसका क्षेत्र कई द्वीपो तथा महाद्वीपों तक फैला हुआ है। अर्थात् पश्चिम में अफ्रीका के तटवर्ती मडागास्कर से लेकर पूर्व में ईस्टर द्वीप तक और उत्तर में फारमोसा से लेकर दक्षिण में न्यूजीलैंड तक। इन भाषाओं की संख्या बेहिसाब है। मोटे तौर पर मुख्य द्वीपों के हिसाब से इन्हे निम्नलिखित उपवर्गों मे विभक्त किया जाता है —

(अ) **हिन्दो द्वीपीय (इण्डोनेशियाई)** : इनका क्षेत्र है मलाया, जावा, सुमात्रा, बोर्नियो, सिलिबिज, बाली, फिलिपीन, फारमोसा, मडागास्कर, तागालोग, बिसाया।

(आ) कृष्णद्वीपीय—(मलेनेशियाई) न्यू हैब्रिडोज, फिजीद्वीप, सोलोमन द्वीप आदि।

(इ) लघु द्वीपीय (मिक्रोनेशियाई) गिलबर्ट, मार्शल, कैरोलिन, मारियान आदि।

(ई) बहुद्वीपीय (पोलिनेशियाई) समोआ, न्यूजीलैंड, ताहिती, हवाई द्वीप, शरोनोगा, तुआमोन, ईस्टर द्वीप आदि।

उपर्युक्त वर्गीय नामों की निष्पत्ति ग्रीक से की गई है जिसमें नेसिया <नेसोस का अर्थ 'द्वीप' होता है तथा मेलास=कृष्ण, मिकोस=लघु, पोलिस=अनेक, बहु के बोधक हैं। दीर्घकाल तक भारत के प्रभाव में रहने के कारण जावा आदि को 'हिन्द द्वीप' भी कहा जाता है।

विशेषताएं—रूपात्मक दृष्टि से इनका सम्बन्ध अयोगात्मक वर्ग की भाषाओं के साथ बनता है। रूप-रचना में विभक्ति, लिंग, वचन आदि के लिए किसी प्रकार की प्रत्यय योजना नहीं की जाती है। कभी-कभी उपसर्गों तथा प्रत्ययों को जोड़कर विभक्तियों का काम लिया जाता है। बहुवचनी रचनाओं के लिए कभी-कभी शब्दों की पुनरावृत्ति भी की जा सकती है यथा—रज 'राजा' (ए व.), रज-रज 'राजा' (ब व.)। क्रिया पद रचना में मध्य प्रत्यय योग प्राधान्य पाया जाता है, यद्यपि किन्हीं-किन्हीं में आद्यन्त प्रयोग भी पाये जाते हैं।

दीर्घकाल तक पश्चिमी देशों इंग्लैंड, फ्रांस, हालैण्ड आदि के उपनिवेश रहने के कारण यहां की स्थानीय भाषाओं का विकास नहीं होने पाया है। शिक्षा, प्रशासन आदि में इन्हीं देशों की भाषाओं अंग्रेजी, फ्रेंच, डच आदि का प्रभुत्व रहा है। जावा (यवद्वीप) की भाषा (जिसे 'कवि' भाषा कहा जाता है) पर संस्कृत का पर्याप्त प्रभाव पाया जाता है। प्राचीन मलय, यवद्वीप, सुमात्रा, बाली, बोर्नियो में चौथी पांचवीं शताब्दी के शिलालेखों में संस्कृत भाषा का प्रयोग इस बात का संकेतक है कि यहां के आर्य शासक शासनादेशों में संस्कृत का प्रयोग करते थे।

कुछ भाषाओं में स्थान की काफी दूरी होने पर भी भाषा की दृष्टि से अत्यधिक सामीप्य पाया जाता है। यथा—सुमात्रा तथा मडागास्कर के बीच यद्यपि तीन हजार मील से भी अधिक का समुद्री अन्तराल है किन्तु फिर भी दोनों प्रदेशों की भाषाओं के रूपों में एक अद्भुत साम्य पाया जाता है। जिसके विषय में अनुमान लगाया जाता है कि किसी काल में हुए जल-प्लावन से पूर्व ये दोनों प्रदेश स्थल मार्ग से सम्बद्ध रहे होंगे।

यद्यपि इस वर्ग की भाषाओं के विविध रूपों का परिगणन कठिन है फिर भी इस सम्बन्ध में कतिपय उल्लेखनीय हैं—मलाया एवं सुमात्रा की 'मलय', जावा की 'कवि या जावी।' बोर्नियो की 'दयक', फिलिपीन की 'तगल', फारमोसा की 'फ़ारमोसी', मडागास्कर की 'होवा' या 'मलगसी'।

15. **पापुई परिवार**—इस परिवार की भाषाएं न्यूगिनी, न्यूब्रिटेन के कुछ भागों तथा सोलोमान द्वीप समूह मे बोली जाती है। बताया जाता है कि इन क्षेत्रों मे बोली जाने वाली इन भाषाओं की सख्या 132 के लगभग है किन्तु अभी तक उनका विस्तृत सर्वेक्षण न हो पाने के कारण इनके स्वरूप तथा पारिवारिक सम्बन्धों के विषय में निश्चितरूप से कुछ कह पाना कठिन है। ज्ञात सूचनाओं के अनुसार इनका सम्बन्ध अश्लिष्ट योगात्मक भाषाओं के साथ बनता है।

शब्द-रचना के लिए उपसर्गों तथा प्रत्ययों का योग किया जाता है। न्यूगिनी की 'मफ़ोर' भाषा के उदाहरणों में इसे देखा जा सकता है—*यथा* **अ-म्नफ़्** *मैं सुनता हूं,* **व-म्नफ़्** *तू सुनता है,* **इ-म्नफ़्** *वह सुनता है,* **सी-म्नफ़्** *वे सुनते हैं,* **अ-म्नफ़्-उ** *तुझे सुनता हूं, आदि।*

16. **आस्ट्रेलियाई परिवार**—इन भाषाओं का प्रयोग क्षेत्र आस्ट्रेलिया का उत्तरी एव दक्षिणी भाग है। इनकी सख्या 100 के आसपास आकी गयी है किन्तु आदिवासियों के लोप के साथ इनमे से अनेक स्वयं भी लोप की ओर अग्रसर है।

रूप रचना की दृष्टि से ये अश्लिष्ट योगात्मक वर्ग के अन्तर्गत आती हैं अर्थात् प्रत्यय का योग प्रकृति के बाद किया जाता है।

विशेषताएं—प्रयोग एवं रचना की दृष्टि से इनमे कई प्रकार की विशिष्टताए पायी गयी है यथा—1. संख्या वाचक शब्द केवल एक से तीन तक ही पाये जाते हैं। इसमे उच्चतर संख्याओं का बोध इन्हीं के उलट-फेर में कर लिया जाता है। जैसे इसी की एक बोली युगर से ये उदाहरण इस रूप में प्राप्त होते है **गुदल** दो और **गुवल-गुदल** चार अर्थात् 2+2, ऐसे ही 7=**जोड़ा-जोड़ा-जोड़ा-एक**। इसके अतिरिक्त, तीन से अधिक की सख्या के बोध के लिए हाथो और पैरो की अंगुलियों (5, 5) का भी सहारा लिया जाता है, जैसे—**मार्दिन बंगा गुदिर गन** 'हाथ आधा (5) और एक अर्थात् छः'; **मार्दिन बेल्ली-बेल्ली गुदिर दिना बंगा** 'हाथ अगल-बगल (5, 5) और पैर आधा (5)=15।

2. *विभक्ति प्रत्यय योजना की दृष्टि से ये भाषाए भारत की मुण्डा* तथा तिब्बत हिमालयीय वर्ग की सार्वनामिक भाषाओं के साथ अति निकट का सम्बन्ध प्रकट करती है। दोनों मे समान रूप से पायी जाने वाली कतिपय विशेषताएं इस प्रकार हैं—1. उत्तम पुरुष सर्वनामो के रूपो में अपवर्जी (Exclusive) तथा समावेशी (Inclusive) रूपो मे प्रकृति भेद। अर्थात् जब *निर्दिष्ट क्रिया मे वक्ता तथा श्रोता दोनो का समावेश अभिप्रेत* हो तब एक प्रकृति का तथा जब श्रोता का समावेश अभिप्रेत न हो तब भिन्न प्रकृति का प्रयोग 2. कुछ भाषाओं, यथा सेबलगल, मे उत्तम पुरुष मे वक्ता के स्त्री-पुरुष भेद के अनुसार सर्वनाम पदों में भी भेद पाया जाता है।

3. वचन की दृष्टि से भी इनमे तीन वचनों की सत्ता पायी जाती है।

17 तस्मानी—कुछ लोग तस्मानिया प्रदेश की भाषाओं को एक अलग वर्ग मे रखने के पक्षपाती हैं किन्तु अधिकतर विद्वान इनका समावेश आस्ट्रेलियाई परिवार के अन्तर्गत करने के पक्ष मे हैं। स्मरणीय है कि अब इस परिवार की भाषाओं को बोलने वाले कबीलों के न रहने से ये भाषाएं नामशेष हो चुकी हैं।

18 दक्षिण पूर्व एशियाई (आस्ट्रोएशियाटिक) यद्यपि बोलने वालों की सख्या की दृष्टि से यह परिवार अधिक बड़ा नही है किन्तु क्षेत्र की दृष्टि से इस परिवार की भाषाए दक्षिण पूर्वी एशिया के बहुत बड़े भूभाग मे बोली जाती हैं। इसके बोलने वाले अन्नाम, कम्बोडिया, स्याम से लेकर भारत के निकोबार द्वीप समूह तक फैले हुए हैं।

इसके तीन प्रमुख वर्ग है—1 मुण्डा या कोल (पश्चिम मे) 2. मोनख्मेर (केन्द्र मे) 3 अन्नाम, मुआङ् (पूर्व मे)। इनमे से प्रथम दो का प्रसार क्षेत्र भारत है। मुण्डा के भी दो वर्ग हैं, 1. उत्तरी 2 दक्षिणी।

उत्तरी वर्ग की भाषाओं का क्षेत्र सिक्किम से लेकर शिमला तक है तथा इसकी प्रमुख भाषाए हैं—धीमाल, लिम्बू, राजी, रङकस, किन्नौरी, पट्टनी, तिनती तथा गाह्री (बुनन)।

दक्षिण वर्ग की प्रमुख भाषाए हैं—सथाली, मुण्डारी भूमिज, खड़िया, हो, कोरकू आदि। इनमे से सथाली तथा मुण्डारी का क्षेत्र पर्याप्त बड़ा है। मुण्डारी बोलने वाले छोटा नागपुर, मध्यप्रदेश, उड़ीसा, बगाल तथा तमिलनाडु के जन जातीय क्षेत्रों मे तथा सथाली बोलने वाले पूर्वी बिहार तथा बगाल के जनजातीय क्षेत्रों मे फैले हुए हैं।

विशेषताएं—भाषिक दृष्टि से इन मे अनेक ऐसी विशेषताए एकत्र पायी जाती हैं जो कि विभिन्न भाषा परिवारों मे पृथक्-पृथक् रूप से प्राप्त होती हैं। इनमे से कतिपय प्रमुख विशेषताए इस प्रकार हैं—1 ध्वनियों की दृष्टि से यही एक ऐसा आर्येतर भाषा परिवार है जिसमे घोष, अघोष दोनों ही प्रकार की महाप्राण ध्वनियों की सत्ता पायी जाती है।

2 आस्ट्रेलियाई भाषाओं के समान इनमे भी उत्तम पुरुष सर्वनामीय रूपों मे अपवर्जी एव समावेशी भेद पाया जाता है।

3 चीनी के समान इन मे बहुत कम पद भेद पाया जाता है, प्रकरणानुसार वही पद सज्ञा, विशेषण तथा क्रिया के रूप मे प्रयुक्त हो सकता है।

4 पद रचना मे अन्त्य प्रत्ययों के अतिरिक्त मध्य प्रत्ययों का भी योग होता है। उदाहरणार्थ—देखो, आकृतिमूलक वर्गीकरण—मध्य प्रत्यय योगी।

5. लिंग विभेद 'स्त्री-पुरुष' अथवा 'नर-मादा' बोधक शब्दों के द्वारा किया जाता है जैसे पट्टनी-बाक्षा घर 'नर बाघ', मिट्ठ्णा घर . 'मादा बाघ,' सथाली-आंडिया कूल (बाघ) : एंगाकूल (बाघिन)।

6. आस्ट्रेलियाई परिवार की भाषाओं के समान इन में भी तीन वचन होते हैं।

7 संख्या की गणना का आधार बीस होता है जैसे $50=2\times20+10$, $60=3\times20$, $80=4\times20$ (चार बीसी)।

19. **अमरीकी परिवार**—यह एक भौगोलिक नाम है जो कि अमेरिका महाद्वीप की सभी वर्गों की भाषाओं का प्रतिनिधित्व करता है। इनकी संख्या एक हजार से ऊपर बताई जाती है। अभी तक इनमे से अधिकतर भाषाओं का न तो ठीक से अध्ययन हुआ है और न वर्गीकरण ही।

इनमे कुछ तो ऐसी है जिनमे बोलने वालो की सख्या तीन अंको तक ही सीमित है। भौगोलिक दृष्टि से इन्हे तीन वर्गों मे विभक्त किया जाता है—

1. कनाडा तथा सयुक्त राज्य—इसमे अथबस्की या अथबस्कन, अलगोनिकी, होका, सिउई तथा यूरोक्वा प्रमुख हैं।
2. मैक्सिको तथा मध्य अमरीकी—इसमे 'अजतेक,' 'मय,' 'बहुअल्ल' भाषाए प्रमुख हैं।
3. दक्षिण अमरीकी—इसमे प्रमुख है—अवरक, चिवोचा, तुपी, गुअर्नी, करीब तथा कुइचुआ।

लुई ग्रे ने इनका वर्गीकरण उत्तरी अमरीकी, मैक्सिको तथा दक्षिणी अमरीकी के रूप मे किया है। ग्रीनलैंड की 'एस्किमो' भाषा की परिगणना भी अन्य विद्वान, अमरीकी वर्ग के अन्तर्गत करते हैं पर ग्रे इसे एक पृथक् वर्ग मानते हैं।

दक्षिण अमरीकी भाषा वर्ग में कुछ ऐसी विचित्र भाषाएं भी है जैसी कि निम्नलिखित—

इंजे—यह पेरु प्रदेश की 'इंजे' नामक जाति के लोगों द्वारा बोली जाती है। बताया जाता है कि पूरी भाषा की शब्द सम्पदा मात्र एक शब्द है 'इंजे'। इसी शब्द से विभिन्न प्रकार की स्वर भंगिमाओं तथा भाव भंगिमाओं के प्रयोग से वे अपना सारा वाग्व्यवहार चलाते हैं।

कराया—इसी प्रकार दक्षिण अमेरिका के ही अमेजन प्रदेश मे 'कराया इंडियन' जाति के लोगो की भाषा मे ओष्ठ्य वर्ण होते ही नही, तथा वे लोग कठ्य, तालव्य और दन्त्य वर्णो का उच्चारण मुख से न करके नासिका से करते हैं। ऐसी ही कुछ अन्य भाषाएं हैं—

ऐनू—यह उत्तरी जापान की एक बोली है जो कि जापानी से पृथक् है। इसमे भी आग्नेय परिवार की भाषाओं के समान ही गणना का आधार 20 है।

20. **अण्डमानी**—आनुवंशिक रूप मे अफ्रीका के नेग्रिटो जाति के लोगों से सम्बद्ध एशियाई नेग्रिटो अर्थात् अण्डमान द्वीप समूह मे रहने वाली आदिम जातियों को जिन प्रमुख वर्गों में विभाजित किया जाता है वे हैं—1. वृहत् अण्डमानी,

2 ओड़ेस, 3 जवारा, 4 सेन्तिनेली। बृहत् अण्डमान वर्ग के लोगों के दस पृथक् जातीय कबीले थे, जिनके नाम हैं—चारी, कोरा, बो, जेरू, केदे, कोल, जुवोई, पुचिक्वार वाले तथा बेआ। इन सबकी अपनी अलग-अलग बोलियां थीं। किन्तु अनेक कारणों से इनके बोलने वालों की संख्या का दिनोंदिन ह्रास हो जाने से अब ये स्वतन्त्र भाषिक समुदाय न रहकर एक क्रेओलिल भाषिक समुदाय के रूप में हो गये हैं। किन्तु पारस्परिक सम्पर्क की कठिनाई के कारण अन्य समुदायों की बोलियों का अभी भी स्वतन्त्र अस्तित्व बना हुआ है। इस रूप में प्रथम वर्ग की बोली को बृहत् अण्डमानी तथा द्वितीय वर्ग की बोलियों अर्थात् ओड़ेस, जवारा एवं सेन्तिनेली को लघु अण्डमानी कहा जाता है। इनकी कतिपय रूप रचनात्मक विशेषताओं पर एम मनोहरन् ने अपने एक लेख (इण्डियन लिंग्विस्टिक्स 47 25-31) में प्रकाश डाला है जो कि इस प्रकार है—

1 आस्ट्रेलियाई परिवार की भाषाओं के समान ही इनमें भी गणना वाचक शब्दों की संख्या तीन तक ही सीमित है तथा वाक्य रचनाओं में में संज्ञा शब्दों के अनुवर्ती होते हैं।

2 दूसरी उल्लेख्य विशेषता है संज्ञा पदों का स्वतन्त्र या आश्रित वर्गों में विभाजन। इनमें प्रमुख अन्तर यह है कि स्वतन्त्र प्रातिपदिकों का प्रयोग तो मुक्त रूपों में हो सकता है किन्तु आश्रित प्रातिपदकों के साथ सरचक प्रत्ययों का योग आवश्यक होता है। उदाहरणार्थ, 'घोड़ा' स्वतन्त्र पद है किन्तु 'सिर' आश्रित पद/ आश्रित पदों के साथ प्रयुक्त किये जाने वाले संचरक प्रत्ययों के दो रूप होते हैं— एक सार्वनामिक पूर्व प्रत्यय जिनका प्रयोग शरीरांगों के लिए सर्वतक पदों के साथ किया जाता है तथा दूसरे एक प्रकार के बद्ध रूप (bound form) होते हैं जो कि उस शब्द मूल में अर्थपरक परिवर्तन लाते हैं।

3 इस परिवार की एक अन्य विशेषता, जो कि कतिपय अन्य भाषा परिवारों में भी पायी जाती है यह है, कि इनमें प्रथम पुरुष के सार्वनामिक रूपों में समावेशी (inclusive) तथा अपवर्जी (exclusive) का भेद किया जाता है।

4 क्रिया रूपों में द्रविड भाषाओं के समान केवल भूत और भूतेतर का अन्तर पाया जाता है।

5 वचन दो ही हैं किन्तु इनका प्रयोग जातिवाचक मानव वर्गीय संज्ञा पदों के साथ ही किया जाता है यथा बोर बच्चा : बोर्ट कोरलोतो बच्चे, एबुलु औरत एबुगु कोरलोतो औरतें, किन्तु ओई या ओइगो के विषय में कहा जाता है कि उनमें तीनों वचनों का प्रयोग किया जाता है।

6 दरद-पहाड़ी वर्ग की भाषाओं के समान इनमें भी संकेत बोधक सर्वनाम के निकट, किंचित् दूर तथा अतिदूर के लिए तीन रूप पाये जाते हैं।

(2) ध्वनि-नियमों की खोज

पिछली शताब्दी मे पाश्चात्य विद्वानो—विशेषकर जर्मन विद्वानों—के द्वारा भारोपीय परिवार की भाषाओ के तुलनात्मक अध्ययनों के फलस्वरूप एक अन्य उपफल, जो हमें प्राप्त हुआ, वह था कतिपय ध्वनि नियमों की खोज। इन्ही मे से कतिपय खोजो ने अनेक भाषिक समस्याओं को सुलझाने में बड़ा योगदान किया तथा उन्हे ध्वनि नियमो के रूप में काफी प्रसिद्धि भी मिली। इन्ही मे से कुछ उपलब्धियों का संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है—

ग्रिम नियम—सर्वप्रथम रासमस रास्क (1787-1832) नामक विद्वान् का ध्यान इस ओर गया कि संस्कृत, ग्रीक, लैटिन, गॉथिक, जर्मन, अंग्रेजी आदि मे समान रूप मे पाये जाने वाले अनेक अनुरूपी शब्दो में कतिपय ध्वनिया ऐसी है जो कि एक विशेष क्रम मे परिवर्तित हुई दिखाई देती है। उसने विद्वानो का ध्यान इस तथ्य की ओर आकृष्ट किया। रास्क के द्वारा किये गये इस संकेत को लेकर याकोब ग्रिम नामक (1785-1863) जर्मन विद्वान ने इस बात का गहराई के साथ अध्ययन किया तथा उन परिवर्तनों को नियमबद्ध करने का यत्न किया। ध्वनि परिवर्तन सम्बन्धी अपनी इस खोज का व्यवस्थित विवरण सर्व प्रथम उसने अपने ग्रन्थ 'जर्मन व्याकरण (Deutsche grammatik) मे दिया जिसका प्रथम प्रकाशन 1819 मे हुआ था। क्योंकि उसने सर्वप्रथम इसे विस्तृत एव व्यवस्थित रूप मे प्रस्तुत किया था इसीलिए उसी के नाम पर इसे ग्रिम नियम (Grimm's Law) कह दिया जाता है।

अपने इस तुलनात्मक विश्लेषण मे ग्रिम ने देखा कि मूल भारोपीय की कतिपय ध्वनिया व्यवस्थित क्रम से गॉथिक वर्ग की भाषाओं में किसी अन्य रूप मे तथा ग्रीक, संस्कृत लेटिन आदि मे किसी अन्य रूप मे मिलती है। इसकी और भी गहराई से छानबीन करने पर उसने देखा कि यह परिवर्तन दो स्तरों पर हुआ है। इस सम्बन्ध मे उनका अनुमान है कि प्रथम परिवर्तन तो ई० पूर्व तृतीय तथा छठी शताब्दी के बीच कही हुआ होगा क्योंकि इसका कोई ऐतिहासिक लेखा-जोखा नही। किन्तु द्वितीय परिवर्तन ईसा की सातवी शताब्दी के लगभग हुआ क्योंकि इसका सम्बन्ध जर्मन भाषा के उन रूपो के साथ है जिन्हें भौगोलिक आधार पर उच्च जर्मन (आधुनिक जर्मन) तथा निम्न जर्मन (जिससे अंग्रेजी, डच आदि का विकास हुआ) कहा जाता है। क्योंकि जर्मन का दक्षिणी भाग पहाडी क्षेत्र होने से ऊँचा है इसलिए उसकी भाषाओ को उच्च जर्मन कह दिया जाता है तथा उत्तरी भाग मैदानी होने से निम्न है अतः उसकी भाषा को निम्न जर्मन कहा जाता है। स्मरण रहे कि ग्रिम नियम का सम्बन्ध केवल जर्मन भाषाओं में हुए परिवर्तनो से है अतः यह उसी पर लागू होता है। इन नियमों के सम्बन्ध में एक अन्य स्मरणीय बात यह है कि ग्रिम यह मानकर चले थे कि मूल भारोपीय की अधिकतर स्वर

ध्वनियां ग्रीक तथा लैटिन में सुरक्षित हैं, तथा व्यंजन ध्वनियां संस्कृत में सर्वाधिक सुरक्षित हैं।

ग्रिम के अनुसार प्रथम वर्ण परिवर्तन जो कि वस्तुतः महत्त्वपूर्ण है, प्रागैतिहासिक काल में तब हुआ होगा जबकि इन भाषाओं का मूल भारोपीय से पृथक्-पृथक् विकास प्रारम्भ हुआ होगा। इसके अनुसार यह माना गया है कि मूल भारोपीय की 9 व्यंजन ध्वनियां अर्थात् घ्, ध्, भ् (घोष महाप्राण), ग्, द्, ब् (घोष अल्पप्राण) तथा क्, त्, प्, (अघोष अल्पप्राण) संस्कृत, ग्रीक, लैटिन आदि में तो उसी रूप में चलती रहीं, किन्तु ट्यूटानिक (जर्मन) वर्ग की भाषाओं में परिवर्तित हो गयीं। यह परिवर्तन व्यवस्थित रूप में इस प्रकार हुआ है—

मूल भारोपीय जर्मन

घोष महाप्राण (घ्, ध्, भ्)→अघोष अल्पप्राण (ग्, द्, ब्)
घोष अल्पप्राण (ग्, द्, ब्)→अघोष अल्पप्राण (क्, त्, प्)
अघोष अल्पप्राण (क्, त् प्)→अघोष महाप्राण (ख्, (ह्), थ्, त्स्, फ्)
जिसे रेखांकन विधि से इस प्रकार भी प्रस्तुत किया जाता है।
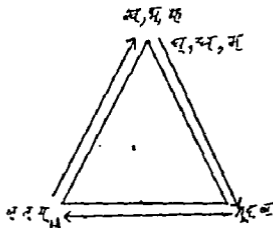
भारतीय पाठकों के लिए उपर्युक्त ध्वन्यात्मक परिवर्तनों को ग्रीक, लैटिन आदि के उदाहरणों द्वारा स्पष्ट न करके बोधगम्यता के लिए एक ओर मूल भारोपीय की प्रतिनिधि संस्कृत तथा दूसरी ओर ट्यूटानिक की प्रतिनिधि अंग्रेजी के उदाहरणों द्वारा जिस रूप में स्पष्ट किया जाता है वह इस प्रकार है—

	भारोपीय (संस्कृत)	ट्यूटानिक (अंग्रेजी)
1. घ्>ग्	हंस (घंस) 'हंस'	गूज (goose)
	घन 'मेघ'	गॉग (gauge) गर्जन
• ध्>द्	विधवा (गॉ०, विदुओ)	विडो (widow) विधवा
	बंध 'बंधन'	बेण्ड (band)
भ्>ब्	भ्रातृ भाई	ब्रदर (brother)
	भृ- धारण करना	बियर (bear)
	भू- 'होना'	बी (be)
2 ग्>क्	गो 'गाय'	काउ (cow)
	युग् 'जुआ'	योक् (yoke)
द्>त्	दश (ग्री० देका) 'दस'	तेन (ten)
	स्वेद 'पसीना'	स्वेत (sweat)
ब्>प्	बाधन् 'कष्ट पीड़ा'	पेन (pain) पीड़ा
	दुबुस् (लियु०) गहरा	डीप (deep) गहरा
3. क्>ख् (ह्)	कद् (लै० कोद्) क्या ?	ह्वत् (what) क्या ?
	क: कौन ?	हू (ह्वो) (who) !
त्>थ् :	त्रि तीन	थ्री (three)
	तनु दुर्बल	थिन (thin)
प्>फ्	पितृ पिता	फ़ादर (father)
	पद् चरण	फुट (foot)
	पत्र (पंख)	फेदर (feather)

द्वितीय ध्वनि-परिवर्तन—इस ध्वनि नियम का सम्बन्ध जर्मन वर्ग की ही उन दो शाखाओं के साथ है जिन्हे उच्च जर्मन तथा निम्न जर्मन कहा गया है। इनमें उच्च जर्मन की प्रतिनिधि स्वयं जर्मन भाषा है तथा निम्न जर्मन का विकास अंग्रेजी आदि योरोपीय भाषाओं के रूप में हुआ है। इस परिवर्तन का सम्बन्ध भी इन्ही के साथ है। इसे जिस रूप में विश्लेषित किया गया है, वह इस प्रकार है। निम्न जर्मन→उच्च जर्मन : क्, त्, प्,→ख्(ह्), थ्, (त्स्) फ् (प् फ); ग्, द्, ब् →क्, त्, प्; ख्, थ् फ्→ग्, द्, ब्—। इन्हे निम्नलिखित उदाहरणों के द्वारा स्पष्ट किया जाता है।

	निम्न जर्मन	उच्च जर्मन (जर्मन)
1. क्>ख् (ह्)	book, yoke, speech	बुर्ख (buch), joch, sprach
त्>थ् (त्स्, त्स्,)	water, two, ten	wasser, zwei (त्स्वाइ), zehn (त्सेन)

	प्>फ् (प्फ) :	deep, slip	tief (तीफ), schleifen (श्लाइफेन)
2	थ्>द्	three, north	drei (द्राइ), Norden
3	द्>त्	deed	tat

विशेष—इस परिवर्तन में सभी वर्गों से सम्बद्ध उदाहरण उपलब्ध नहीं होते।

ग्रिम का संशोधन—'ग्रिम' के द्वारा इस नियमों की स्थापना किए जाने के उपरान्त इनके सम्बन्ध में विद्वानों की कई प्रतिक्रियाएं हुईं तथा इसके अपवादों के कई ज्वलन्त उदाहरण प्रस्तुत किये गये। इनमें से कुछ इस प्रकार थे—(1) ग्रिम के प्रथम वर्ण परिवर्तन सिद्धान्त के अनुसार 'संस्कृत के अस्ति, √स्पश् तथा √नप्त् के अनुरूपी जर्मन शब्दों—इस्त (ist), स्पेहोन (spehon) तथा निफ्त (nift) का रूप *इस्थ, *स्फेहोन तथा *निफ्थ होना चाहिए था जो कि हुआ नहीं। इसी प्रकार सप्त का *सफ्थ न होकर जिबुन (sibun) हो गया शतम् का *थथम न होकर हुंद हो गया। ऐसे ही ध्, द् के संबंध में भी देखा गया कि बोधति का *पिउदान् न होकर बिउदान् (biudan) हो गया। ऐसे ही दभ् का *ताउब्ज न होकर (daubs) दाउब्ज हो गया। अतः इन असंगतियों की संगति की खोज की जाने लगी।

प्रथम वर्ण की असंगति अर्थात् उपर्युक्त उदाहरणों में क्, त्, प् का ख्, थ्, फ् में परिवर्तन न होने का समाधान स्वयं ग्रिम ने ही खोज निकाला। उसने देखा कि उनके ध्वनि नियम की यह असंगति केवल वहीं पायी जाती है जहां कि वे संस्कृत में संयुक्त रूप में पाये जाते हैं। अतः मूल नियम में संशोधन किया गया कि ध्वनियों का यह परिवर्तन केवल असंयुक्त ध्वनियों में हुआ था, संयुक्त ध्वनियों में नहीं।

ग्रासमान नियम—यह कोई स्वतन्त्र खोज न होकर ग्रिम के नियम का ही संशोधन है। जैसा कि ऊपर संकेत किया गया है कि ग्रिम नियम के अनुसार संस्कृत के बोधति तथा √दभ् का जर्मन में भी *पिउदान् तथा *ताउब्ज होना चाहिए था जो कि नहीं हुआ। इसी प्रकार ग्रीक के किगृथो 'जाना' का अनुरूपी अंग्रेजी में '*[illegible]ो (*ko) होना चाहिए था, पर हुआ है 'गो' (go)। ग्रासमान ने उन विसंगतियों *का[illegible]ण ढूंढने के लिए संस्कृत तथा ग्रीक के अनेक अनुरूपी शब्दों का विश्लेषण का बार[illegible]में उसने देखा कि संस्कृत के बभार, दधामि क्रिया पदों के अनुरूपी किया। इस[illegible] पद ग्रीक में पेफु[illegible]ा, तिथेमि आदि के रूप में मिलते हैं। इससे वह इस निर्णय पर पहुंचा कि संस्कृत के इन क्रियापदों के मूल भारोपीय रूप *भभार तथा *धधामि रहे होंगे जिनका कि संस्कृत में बभार तथा दधामि हो गया। इसकी पुष्टि संस्कृत क्रिया पदों के बिभर्ति, (*भिभर्ति), बभूव (*भभूव), जुहोति (*झुहोति) आदि से होती है।

ग्रासमान की इस खोज के फलस्वरूप हमें दो बातें स्पष्ट हुईं। एक तो यह कि

मूल भारोपीय मे जहा दो महाप्राण ध्वनियां साथ-साथ आती थीं वहां संस्कृत मे उनमें से प्रथम महाप्राण ध्वनि का उसी की अल्पप्राण ध्वनि मे विकास हो गया और दूसरी यह कि संस्कृत की सभी व्यंजन ध्वनियां मूल भारोपीय की सच्ची प्रतिनिधि नहीं, फलत उपर्युक्त उदाहरणो बिउदान् तथा दाउब्ज मे ब्, तथा द्, ध्वनियां मूलतः ब्, द्, न होकर भ्, घ् हैं। अतः जर्मन उदाहरणो में पाया जाने वाला उपर्युक्त विकास सर्वथा ग्रिम नियम के अनुकूल है। इसमे किसी प्रकार की असंगति नही।

फ़ेर्नर नियम (Verner-Law)—ग्रासमान के समान ही फ़ेर्नर ने भी ग्रिम नियम की कतिपय विसंगतियो मे संगति बैठाने का यत्न किया। इस सम्बन्ध मे उसकी प्रमुख देन यह है कि यदि आक्षरिक आघात(Accent) क्, त्, प् के पूर्ववर्ती स्वर पर होगा तो इनका परिवर्तन ग्रिम के द्वारा निर्दिष्ट नियम के अनुसार ख्, थ्, फ़् में होगा, किन्तु यदि यह परवर्ती स्वर पर होगा तो यह परिवर्तन ग्, द्, ब् में होगा। इसके अनुसार संस्कृत के 'शतम्' का जर्मन मे हुद (hund) (*हुंथ् नहीं) तथा सप्तन् का जिबुन (sibum (*जिफुन नहीं) सर्वथा नियमानुकूल ही है।

तालव्य नियम—भारोपीय भाषा से सम्बन्ध रखने वाले ध्वनि नियमो मे इस नियम का भी बडा महत्त्वपूर्ण स्थान है। इसकी खोज का श्रेय प्रसिद्ध भाषा-विद् थाम्सन (V. Thamson) तथा कालित्स को जाता है। इसमें भी तुलनात्मक विश्लेषणो के बीच देखा गया कि सस्कृत तथा अन्य भाषाओ के अनुरूपी पदों मे कहीं तो कवर्गीय ध्वनिया पायी जाती हैं तथा कही चवर्गीय। इस परिवर्तन के रहस्य को खोजने के लिए 1875 तथा 1920 के बीच जोन्स, श्मिट, द सोस्यूर, कालित्स, थाम्सन आदि के द्वारा अनेक प्रयत्न किये गये। इसी के फलस्वरूप उपर्युक्त विद्वानो के द्वारा इस भाषिक रहस्य का पता लगाया गया कि अव्यवहित रूप मे अग्र स्वरो के साथ आने पर मूल भारोपीय कण्ठ्य (क्, ग्) तथा कण्ठोष्ठ्य (क्व्,ग्व्) का संस्कृत तथा ईरानी मे तो तालव्य (च्, ज्) ध्वनियो में विकास हो गया है। अन्यथा वे कण्ठ्य रूप में ही बनी रही हैं। अन्य भाषाओ मे यह वर्गीय विकास हुआ ही नही है यथा—

	मूल भारो॰	संस्कृत	अवेस्ता	ग्रीक	लैटिन
	*क्विद्	चिद्—चित्	चित्	—	क्विद्
	*क्वे	च	च	—	—
	*पेंके	पञ्च	पंते	—	क्विन्क्वे
	*गेनोस्	जनम्	—	गेनोम्	—
अन्यथा	*क्वोन्	क· (सं॰)	को	—	क्विम्
	*युगोम्	युगम्	—	—	—

किन्तु इस नियम के सम्बन्ध में कतिपय विपत्तियां भी उठाई गई हैं जो कि इस प्रकार हैं—

1 ग्रीक में 'च' तथा 'श' ध्वनियों का सर्वथा अभाव होने से उस पर इसका लागू होना या न होना सन्देहास्पद है।

2 संस्कृत में इसके विपरीत चवर्गीय ध्वनियों का कवर्गीय ध्वनियों में परिवर्तित होने का नियम पाया जाता है यथा युज्~युक्~युग्, वाच्~वाक्~वाग्, दिश्~दिक्~दिग्। अतः एकांगी होने से यह एक सर्वमान्य ध्वनि नियम के रूप में स्वीकार्य नहीं।

भाग दो

आर्य भाषा परिवार

1

आर्य भाषा परिवार

विश्व के भाषा परिवारो के स्वरूप, स्थिति तथा विशेषताओं के सम्बन्ध में पिछले पृष्ठों मे यथाभिलषित प्रकाश डाला जा चुका है। अब हम उसके एक प्रमुखतम परिवार—भारोपीय परिवार तथा उसकी एक प्रमुख शाखा-भारत आर्य शाखा के विषय में अगले पृष्ठों में किंचित् विस्तार के साथ विवेचन प्रस्तुत करना चाहेंगे।

भाषा विज्ञानियों के द्वारा 'भारोपीय' के नाम से अभिहित भाषाई वर्ग की भाषाओं का प्रसार क्षेत्र है—उत्तरी भारत, पाकिस्तान, ईरान, अफगानिस्तान, नेपाल, समस्त यूरोप तथा अमेरिका, कनाडा आस्ट्रेलिया तथा अफ्रीका के वे भाग जहां पर अंग्रेजी, फ्रेंच, डच, आदि भाषाएं बोली जाती हैं। भाषाओं की दृष्टि से प्राचीन भाषाओं—सस्कृत, ग्रीक, लैटिन, स्लाव, गॉथिक, हित्ती, तोखारी, अवेस्ता तथा इनसे विकसित समस्त आधुनिक भाषाओं का सम्बन्ध इस परिवार के साथ जोड़ा जाता है। स्पष्ट है कि क्षेत्र तथा बोलने वालो की सख्या की दृष्टि से यह एक बहुत बड़ा भाषा परिवार है तथा भाषा वैज्ञानिक अध्ययनों की दृष्टि से भी यह बड़ा महत्त्वपूर्ण माना गया है। इसके इन्हीं पक्षों पर आगे विचार किया जायेगा।

भारोपीय भाषा की संकल्पना

सन् 1786 में सर विलियम जोन्स के द्वारा संस्कृत, ग्रीक और लैटिन की अद्भुत समानताओं की घोषणा के उपरान्त इस विषय पर जो गम्भीर अध्ययन हुए तथा इनके प्रकाश में विश्व की अनेक अन्य जानी-मानी भाषाओं का जो तुलनात्मक अध्ययन हुआ तो विद्वानों ने देखा कि यह साम्य न केवल इन तीन पुरातन भाषाओं के बीच ही पाया जाता है वरन् विश्व के एक बहुत बड़े भूभाग की अनेक पुरातन एवं आधुनिक भाषाओं के बीच भी पाया जाता है। इसके फलस्वरूप एक ओर तो उन्होंने उस मूल भाषा का पता लगाने के प्रयत्न किया जिसमें कि ये भाषाएँ उद्भूत हुई होंगी तथा दूसरी ओर इनकी अपनी प्रमुख विशेषताओं तथा स्थानीय सीमाओं के आधार पर भिन्न वर्गों एवं उपवर्गों में विभाजित करने का।

सर विलियम जोन्स ने अपने उक्त भाषण में भाषा विज्ञानियों का ध्यान जिस बात की ओर विशेष रूप से आकृष्ट किया था, वह यह थी कि इन भाषाओं के बीच पाया जाने वाला यह सम्बन्ध इतना दृढ़ है कि कोई भी भाषाविज्ञानी इनका विवेचन यह माने बिना नहीं कर सकता कि इनका मूल स्रोत कोई एक है जो कि अब विद्यमान नहीं रहा।

जोन्स द्वारा दिया गया यह संकेत योरोप के विद्वानों के लिए एक ऐसा प्रेरणा-स्रोत सिद्ध हुआ कि यहां के अनेक विद्वान इस 'अज्ञात मूल स्रोत' की खोज में जुट गये। फलतः इस दिशा में कार्य करने वालों में एक होड़-सी लग गई। इनमें से सर्वप्रथम नाम आता है फ्रांज बाप (Franz Bopp) का जिन्होंने कि 1816 में संस्कृत, ग्रीक, लैटिन, फारसी तथा जर्मनिक भाषाओं का तुलनात्मक अध्ययन करके भाषाविदों के समक्ष इनके सामान्तर रूपों को प्रस्तुत किया तथा इस दिशा में अन्य विद्वानों को कार्य करने के लिए विशेष प्रेरणा की। इसके उपरान्त जिन विद्वानों ने इस मूल स्रोत की खोज में तथा इसके स्वरूप-निर्धारण एवं इस परिवार की विभिन्न भाषाओं के बीच के पारस्परिक सम्बन्धों को स्पष्ट करने में अपना योगदान किया उनमें से कुछ प्रमुख नाम इस प्रकार हैं—कोलब्रुक (Colebrook), फोस्टर (Foster), अलेग्जेण्डर हैमिल्टन (Alixander Hamilton), फ्रैड्रिक श्लेगल (Friedrich Schlegel), रास्क (Rask), श्लाइखर (Schleicher), बेन्फे (Benfey), ब्रुगमन (Brugmann), फोर्तुनातोफ (Fortunatov), आन्वांमेये (Antoine Meillet), वाकरनागल (Wackernagal), जूल्स ब्लाख (Jules Bloch), स्टेर्टेवण्ट (Sturtevant) आदि। इन पाश्चात्य विद्वानों के महत्त्वपूर्ण अनुसंधानों ने न केवल भारत, एशिया एवं यूरोप की प्राचीन भाषाओं के बीच पाये जाने वाले आन्तरिक सम्बन्धों पर प्रकाश डाला; अपितु इनके तुलनात्मक अध्ययन से मूल भाषा की ध्वनि प्रक्रिया एवं रूप प्रक्रिया का भी अनुमान लगा लिया। किन्तु इन महत्त्वपूर्ण खोजों में संस्कृत का योग सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण रहा,

क्योकि संस्कृत ने जहा एक ओर भारत तथा यूरोप की प्राचीन भाषाओ के तुलनात्मक अध्ययन के लिए एक अभूतपूर्व प्रेरणा दी वही इसमे तथा अन्य सम्बन्धित भारोपीय भाषाओ मे प्राप्त अद्भुत समानताओ ने ही इन विद्वानो को एक मूल भाषा तथा उससे उत्पन्न भाषाओं के लिए एक भाषा परिवार की कल्पना को सुदृढ़ आधार प्रदान किया। इसके फलस्वरूप उस मूल भाषा की प्रकृति एव स्वरूप का अनुमानाश्रयी पुनर्गठन सम्भव हो सका जिसे कि इन विद्वानो ने 'मूल भारोपीय' का नाम दिया। इस नवीन खोज के सम्बन्ध मे डॉ० सुनीति कुमार चैटर्जी का कथन है—'इस आद्य भारत-यूरोपीय भाषा का और विशेषत इसकी ध्वनियों और शब्द रूपों का पुनर्गठन गत सौ वर्षों में मानवीय बुद्धि की सर्वश्रेष्ठ उपलब्धियों मे से एक है।'

यद्यपि मूल भारोपीय का उद्भव कब और कहा हुआ तथा वैदिक संस्कृत, अवेस्तन गाथा तथा होमरिक ग्रीक मे उपलब्ध भाषायी रूपों को प्राप्त करने से पूर्व इसके विकास की दिशा व रूप क्या-क्या रहा तथा किस-किस प्रदेश मे होकर ये लोग भारत तक पहुंचे—इन सब प्रश्नो का निश्चित उत्तर पा सकना कठिन है, किन्तु फिर भी भाषाविदो ने प्राचीन भाषाओं के समान रूपो के आधार पर इन सभी प्रश्नो का अनुमानाश्रयी उत्तर प्रस्तुत करने का श्लाघनीय प्रयत्न किया ही है। संस्कृत के **वीर**, लैटिन के **उईर** (Uir), जर्मन के **वेर** (Wer) तथा प्राचीन आइरिश के **फेर** (Fer) आदि समान रूपो के आधार पर भाषाविदो ने इस मूल भारोपीय को बोलने वाली जन जाति का नाम वीरोस (*wiros) 'मनुष्य' निर्धारित किया है।

इसी प्रकार संस्कृत तथा ग्रीक की तुलना करने पर देखा गया कि संस्कृत के प्रत्येक अ का ग्रीक में ए हो जाता है तथा संस्कृत भ का फ हो जाता है यथा—स. **अभरम् : ग्रीक—एफ़ेरम्, नभः—नेफ़ोस्।** इसी प्रकार की और भी अनेक विशेषताएं संस्कृत-लैटिन, संस्कृत-गाथिक, संस्कृत-स्लावानिक आदि भाषाओं मे पायी गई। यद्यपि अनेक अनुरूपी शब्दो मे ये ध्वन्यात्मक अन्तर इतने अधिक थे कि प्रारम्भ मे भाषा शास्त्रियो के लिए इन्हें पहचानना बड़ा कठिन था, किन्तु इन अनुसधाताओं के निरन्तर अनुसंधान से ध्वनिपरिवर्तनो के कुछ ऐसे मान्य नियमो की खोज सम्भव हो सकी जिनसे कि इन परिवर्तनो के बीच पारस्परिक सम्बन्ध का निर्धारण सम्भव हो गया। तुलनात्मक भाषाशास्त्रियों के अनुसन्धानो के बाद यह वैज्ञानिक रूप से स्पष्ट हो गया कि भारत तथा यूरोप के देशों में बोली जाने वाली प्राचीन तथा कुछेक आधुनिक भाषाओ मे कुछ ऐसी ध्वन्यात्मक, शब्दात्मक, रूपात्मक एव वाक्यात्मक विशेषताए पायी जाती है जो कि इन्हें विश्व की अन्य भाषाओं से पृथक् करती है। इसी साम्यता के आधार पर अनुमान किया गया कि ये सभी भाषाएं किसी एक मूल स्रोत मे ही विकसित हुई होंगी।

कालान्तर में इसके वक्ताओं के स्थानान्तरण के कारण इसमें देश, काल एवं अन्य सम्पर्कों से विविध परिवर्तन आ गये होंगे, जोकि स्वाभाविक थे। भाषा शास्त्रियों ने भारत से लेकर यूरोप तक फैली हुई इन भाषाओं की मूल जननी का नाम 'भारत-यूरोपीय' अथवा 'भारोपीय' रखा। इनसे पूर्व इसे 'भारत-जर्मनी' या 'आर्य' परिवार के नाम से भी अभिहित किया जाता था, पर इन सब में 'भारोपीय' नाम ही क्यों अधिक प्रचलित हो गया, इस पर हम आगे विचार करेंगे।

भारोपीय के मूल वक्ताओं के आदि निवास स्थान का प्रश्न प्रारम्भ से ही अनुमान एवं विवाद का विषय रहा है। कुछ विद्वान् इसे मध्य एशिया मानते हैं तथा कुछ यूरोप। इस मूल से उद्भूत भाषाओं का विश्व के बृहत्तर भाग में प्रसार होने के कारण इसके मूल स्थान के विषय में एक मत का न हो सकना स्वाभाविक ही है। यद्यपि इस परिवार की अधिकतम भाषाओं का क्षेत्र यूरोप होने से तथा इनके प्रारम्भिक रूपों में पर्याप्त भेद होने के कारण प्रो० बरो इसका मूल क्षेत्र यूरोप को ही मानने के पक्षपाती हैं (पृ० 9) किन्तु पिछले दिनों की तोखारी तथा हित्ती की खोजों ने एशिया मूल की बात को भी पर्याप्त बल दिया है। ह्यूगो विंकलर (Hugo Winckler) द्वारा प्राप्त एशिया माइनर के बोगाज कयोइ (Boghaz Koi) के कुछ लेखों में लगभग 1400 ई० पू० के मितानी शासकों के कुछ सन्धि पत्र प्राप्त हुए हैं जिनमें अनेक शब्द ऐसे हैं जो कि वैदिक संस्कृत के शब्दरूपों एवं प्रकृति के साथ निकटता प्रकट करते हैं। यथा इन्-द-र, मि-इत्-स-र, उ-रु-वन्-अ (या अ-रु-न), ना-स-अत्ति-य आदि जो कि बेबिलोनी लिपि में अंकित ऋग्वैदिक देवताओं—इन्द्र, मित्र, वरुण एवं नासत्यों के ही नाम हैं।[1] वैदिक भाषा के साथ इनकी तुलना करने पर यह बात स्पष्ट देखी जा सकती है कि मेसोपोटामिया के दस्तावेजों की यह भाषा वैदिक भाषा से पर्याप्त प्राचीन है तथा ध्वनि प्रक्रिया की दृष्टि से यह भारत-ईरानी काल के अधिक निकट पड़ती है। इससे इस बात की तो कम-से-कम पुष्टि होती है कि भारत में आकर वैदिक भाषा के रूप में विकसित होने से पूर्व इस भाषा का विकास क्षेत्र एशिया माइनर था। इस प्रकार संस्कृत के परिचय ने एक ओर तो भारोपीय परिवार की कल्पना को पुष्ट करके एक ऐसे मूल की खोज में सहयोग दिया जिसका कि प्रसार एशिया एवं यूरोप के बृहत्तर भाग में पाया जाता है तथा दूसरी ओर भारत ईरानी के निकट सम्बन्ध को स्थापित किया।

1. यह सन्धि मितान्नियों तथा हित्तियों के बीच हुई थी जिसमें कि देवताओं का शपथ दिलाई गई है। मितान्नियों की भाषा में इन्द्र का पुराना नाम 'इन्दर' तथा वरुण का 'अरुण' भी मिलता है। मितान्नि आदि आर्यों की यह शाखा थी जो कि आदि आर्य भूमि को छोड़कर भारत की ओर आ रही थी।

जैसा कि ऊपर संकेत किया जा चुका है कि इस प्रकार की भाषा कल्पना के लिए संस्कृत ने बड़े सबल प्रमाण प्रस्तुत किये। संस्कृत के अध्ययन ने तुलनात्मक भाषा शास्त्र की जिस प्रवृत्ति को बढ़ावा दिया उसके फलस्वरूप देखा गया कि संस्कृत तथा अन्य भारोपीय भाषाओं में इतने विशाल पैमाने पर दैनन्दिन व्यवहार में आने वाले शब्दों की ऐसी असाधारण समानता केवल दैवयोग से नहीं हो सकती, उदाहरणार्थ सं०—पिता (पितृ), ग्रीक-पेत्रोस्, लैटिन-पतेर, जर्मन-फातर, अंग्रेजी-फादर में दृश्यमान ध्वन्यात्मक तत्वों की एकरूपता को केवल आकस्मिक घटना नहीं माना जा सकता। हम देख सकते हैं कि इन सभी शब्दों की अन्तिम ध्वनि ऋ या र है। इतना ही नहीं ग्रीक तथा लैटिन में दृश्यमान ध्वन्यात्मक अन्तर को भी ग्रिम महोदय ने अपने एक सिद्धान्त 'ग्रिमनियम' (Grimm's Law) के आधार पर सिद्ध कर दिया है कि वे ध्वनियां भी मूलत: वही है जो कि इन भाषाओं में एक निश्चित ध्वनि परिवर्तन से नियमित होकर इन रूपों में विकसित हो गयी है। इन शब्दों में उपलब्ध असामान्य ध्वन्यात्मक साम्यता के आधार पर इसके मूल रूप का पता लगाने के लिए जो ध्वन्यात्मक परिवर्तन सम्बन्धी खोजें की गई, उनके फलस्वरूप उपर्युक्त पितृवाचक शब्दों के मूल में * पृमतेर जैसे रूप की कल्पना की गई। ऐसे ही संस्कृत के क्रियारूप भरामि की अन्य भाषाओं में उपलब्ध समानान्तर रूपों के साथ तुलना करने पर देखा गया कि उनमें भी इसी प्रकार की नियमित ध्वन्यात्मक साम्यता विद्यमान है, यथा—सं० भरामि (<√ भृ), ग्रीक—फेरो, लै. फेरो, प्रा. स्लाव—बेरन्, गा०—बइरो, अ,—बिअर (bear)। अर्थ की दृष्टि से भी इन सब में असाधारण साम्यता पायी जाती है, अर्थात् सभी में इसका अर्थ होता है 'मैं ले जाता हूं।' अत: ध्वनि नियमों की सहायता से इसके मूल भारोपीय रूप *भेर (*bher) की कल्पना की गई। इसी प्रकार अनेक समानान्तर रूपों का अध्ययन किया गया एवं अनेक ऐसे ध्वनि नियमों का पता लगाया गया, जिनके अनुसार इन परिवर्तनों को नियमित रूप में दर्शाया जा सके तथा जिनके आधार पर इनके मूल रूपों का पुनर्गठन भी किया जा सके। इन विविध नियमों एवं रूपों की ओर आगामी पृष्ठों में यथा प्रसंग निर्देश किया जायेगा। यहां पर केवल इतना ही संकेत कर देना पर्याप्त होगा कि यदि संस्कृत के साथ प्राचीन भारोपीय भाषाओं का तुलनात्मक अध्ययन न किया गया होता तो भाषा विज्ञान के जगत् में ग्रिम के नियम तथा ग्रासमान एवं वर्नर के ध्वनियमों की सृष्टि कभी न होती। ग्रिम के नियम की सृष्टि इसी तुलनात्मक मूलाधार को लेकर हुई थी कि संस्कृत, ग्रीक तथा लैटिन के क्, त्, प् का अंग्रेजी आदि भाषाओं में क्रमश: ह्, थ्, फ् हो जाता है। ग्रिम नियम के समान ही भाषा विज्ञान के क्षेत्र में बहुमान्य 'तालव्यभाव (Palatalization) के सिद्धान्त की खोज भी इन्हीं प्राचीन भाषाओं के तुलनात्मक अध्ययन से सम्भव हो सकी है। वस्तुत: संस्कृत के अध्ययन के बाद ही सच्चे अर्थों में आधुनिक भाषा

विज्ञान का प्रारम्भ समझना चाहिए। प्रोफेसर बरो अपने ग्रन्थ 'संस्कृत भाषा' के आमुख का प्रारम्भ ही इन शब्दों से करते हैं "अठारहवीं शताब्दी के अन्त में यूरोप के विद्वानों द्वारा संस्कृत की खोज ही वह प्रारम्भ बिन्दु था जिससे कि भारोपीय भाषाओं के तुलनात्मक भाषा-विज्ञान का तथा अन्ततोगत्वा सम्पूर्ण आधुनिक भाषा शास्त्र के अध्ययन का विकास हुआ।"

इसके अतिरिक्त शब्दों में पायी जाने वाली ध्वन्यात्मक समानताओं के समान ही संस्कृत तथा अन्य प्राचीन भारोपीय भाषाओं की रूप रचना में पायी जाने वाली साम्यता ने भी एक मूल भाषा की कल्पना को और अधिक पुष्ट किया। उदाहरणार्थ, इस परिवार की भाषाओं की पदरचना का विश्लेषण करने पर देखा गया कि इनमें तीन मूल घटक तत्त्व होते हैं—1. मूल प्रकृति (धातु/प्रातिपदिक), 2 प्रत्यय तथा 3 विभक्ति-चिह्न। इन्हीं तत्त्वों के आधार पर शब्दों के व्याकरणिक सम्बन्धों की अभिव्यक्ति की जाती है; यथा संस्कृत तथा ग्रीक के समानान्तर रूपों दातरि एवं दोत्रि के विश्लेषण से पता चलता है कि इनमें क्रमशः √ दा-+तर (तृ)+ई (ङि) एवं दो+तोर्+इ इन तीन-तीन तत्त्वों के समावेश से इनके ये सविभक्तिक रूप निष्पन्न होते हैं। इसके अतिरिक्त इस परिवार की ये प्राचीन भाषाएं सश्लेषणात्मक रूप में पाई जाती हैं जोकि मूल भाषा की सश्लेषणात्मक प्रकृति का संकेत देती है। इसके विपरीत अन्य परिवारों—द्रविड, तुर्की आदि की भाषाएँ विश्लेषणात्मक प्रकृति के रूप में पायी जाती हैं।

इसी प्रकार अनेक क्रिया रूपों, विशेषकर भूतकालिक क्रिया रूपों में संस्कृत, ग्रीक आदि में एक ऐसी विशेषता पायी जाती है जो कि इस भाषा परिवार के अतिरिक्त और कहीं नहीं पायी जाती। हम देखते हैं कि संस्कृत में कुछ गणों में तथा परोक्ष भूतार्थक लिट् लकार के रूपों में धातु की मूल प्रकृति को द्वित्व करके रूप साधना की जाती है, यथा √धा (जुहो०)>दधाति (लट्), दधौ (लिट्), √दा> ददाति (लट्), ददौ (लिट्)। ग्रीक में भी इसी प्रकार धातु को द्वित्व करके ही रूप रचना की जाती है, यथा—तेथेतइ (tethetai) < √थे, देदोतई (dedotai) < √दो, पेफुका < √फु, तिथेमि < √थे आदि।

इस प्रकार के शब्दों के तुलनात्मक अध्ययन से एक बड़ी महत्त्वपूर्ण भाषायी प्रवृत्ति सामने आई जिसे कि भाषा शास्त्रियों ने 'अपश्रुति' (ablaut) कहा है। ध्वनिपरिवर्तन सम्बन्धी यह विशेषता दो रूपों में देखी जा सकती है—एक गुणात्मक (qualitative) रूप में तथा दूसरी मात्रात्मक (quantitative) रूप में। गुणात्मक अपश्रुति के कारण होने वाले विकास में एक ही मूल स्वर किसी भाषा में किसी एक स्वर के रूप में तथा किसी अन्य भाषा में किसी अन्य ही मूल स्वर के रूप में पाया जाता है तथा मात्रात्मक अपश्रुति के विकास में मूल स्वर

विभिन्न भाषाओं में विभिन्न मात्राओं (शून्य, ह्रस्व, साधारण तथा दीर्घ) के रूप में पाया जाता है। संस्कृत में गुणात्मक अपश्रुति तो नहीं, पर मात्रात्मक अपश्रुति अपने सभी रूपों में पायी जाती है यथा भारः भरामि, भृति। अपश्रुत्यात्मक विश्लेषण के अनुसार इसका मूलरूप भर् (मूल भा *भेर (bher) माना गया है। यहां पर मूल रूप भर् के अ को मूल भारोपीय ए का अनुरूपी माना गया है। इसी का दीर्घमात्रिक रूप है भार तथा साधारण (ह्रस्व) मात्रिक रूप पाया जाता है— भरामि के भर में। एवं शून्य रूप है भृति, जिसमें कि अ स्वर का कोई चिह्न अवशिष्ट नहीं पाया जाता है। इसीलिए इसे शून्य रूप (zero grade) कहा गया है। हमारे भारतीय वैयाकरणों ने इन्हें ही क्रमश वृद्धिरूप (भारः) गुण रूप (√भृ>भर्) तथा मूल रूप (√भृ) कहा है। पाश्चात्य भाषा-शास्त्रियों ने हमारे गुणरूप (भर्-) को मूल रूप तथा हमारे मूल रूप (भृ) को शून्य रूप (स्वराभाव रूप) कहा है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि संस्कृत के अध्ययन ने इन भाषाविदों को इस विशाल भाषा परिवार की विभिन्न भाषाओं के बीच के आन्तरिक सम्बन्धों को प्रकाश में लाने में प्रमुखतम योगदान किया।

पारिवारिक नामकरण—इस वर्ग की भाषाओं को दिये जाने वाले इस पारिवारिक नामकरण का भी एक लम्बा इतिहास है। जिसमें प्रस्तुत नाम को सर्वसम्मत रूप में स्वीकृत किये जाने से पूर्व और भी अनेक नामों का प्रस्ताव किया गया था किन्तु वे विभिन्न कारणों से सर्वमान्य न हो सके।

सर्वप्रथम इन भाषाओं के लिए मैक्समूलर के द्वारा जो नाम प्रस्तावित किया गया था वह था 'आर्यन्'; किन्तु इसे स्वीकार करने के सम्बन्ध में जो आपत्तियां सामने आयी वे थीं—

1. कि इस शब्द का सम्बन्ध एक जाति (Race) विशेष के साथ है तथा इस वर्ग की भाषाओं को बोलने वाले सभी लोग इस जाति से सम्बद्ध नहीं।

2. कि आर्यों का सम्बन्ध मुख्यत. भारत ईरान के साथ ही रहा है अत. इस उपशाखा के लिए ही इसका यह नाम अधिक उपयुक्त होगा।

इसके बाद जो दूसरा तथा किंचित् व्यापक नाम प्रस्तावित किया गया वह था 'हिन्द-जर्मन' (इण्डो-जर्मनिक)। इस नाम का प्रस्ताव भी जर्मन विद्वानों की ओर से ही किया गया था, क्योंकि उन्हीं ने इस क्षेत्र में सर्वाधिक कार्य किया था। इसकी उपयुक्तता के सम्बन्ध में यह कहा गया कि एक तो यह किसी जाति विशेष का संकेत नहीं तथा दूसरे इसमें इस भाषा के प्रयोग क्षेत्र के दोनों छोरों का संकेत होता है जोकि इसके प्रयोग के पूर्वी तथा पश्चिमी छोर कहे जा सकते हैं। यह

नाम कुछ समय तक तो चला किन्तु भाषिक अध्ययनों के फलस्वरूप देखा गया कि दक्षिणी यूरोप के देशों—यथा इटली, फ्रांस, स्पेन, पुर्तगाल, रूमानिया आदि में भी इसी वर्ग की भाषाएं बोली जाती हैं, जिनका समावेश न तो आर्य उपवर्ग में होता *है और न जर्मन उपवर्ग में। साथ ही इसकी पश्चिमी सीमा के सम्बन्ध में भी देखा* गया कि कैल्टिक परिवार की भाषाएं (इंग्लैंड, स्काटलैंड, आयरलैंड की भाषाएं) जो कि एक स्वतन्त्र उपवर्ग बनाती हैं, उपर्युक्त भौगोलिक सीमा से और अधिक पश्चिम में पड़ने से इसके *अन्तर्गत नहीं आ सकती। अतः यह नाम भी अधिक* प्रचलित व स्थायी न हो सका। यद्यपि जर्मन विद्वान अभी भी इस परिवार का संकेत बोध इसी नाम से करना अधिक पसन्द करते हैं, किन्तु द्वितीय महायुद्ध के उपरान्त जर्मनी के प्रति योरोप के अन्य राष्ट्रों का सद्भाव न रहने से वहां के लेखकों ने इस नाम का परिहार करना आरम्भ कर दिया था एवं अन्ततोगत्वा इसका पूर्ण बहिष्कार हो गया।

इसके बाद फ्रैंच भाषा का नाम—भारत-योरोपीय (Indo-European) का प्रस्ताव हुआ। इस नाम पर न्यूनतम आपत्ति होने के कारण यह काफी प्रचलित हो गया, यद्यपि भौगोलिक सीमाओं की दृष्टि से इसमें भी उन सभी प्रदेशों का समावेश नहीं होता जो कि योरोप के क्षेत्रों से बाहर हैं तथा जिनमें इस परिवार की भाषाओं का प्रयोग होता है, यथा अमेरिका, आस्ट्रेलिया तथा अफ्रीका के वे भाग जहां अंग्रेजी फ्रैंच आदि भाषाएं बोली जाती हैं। क्योंकि इन भाषाओं का मूल क्षेत्र *योरोप ही है अतः इस प्रश्न पर* विशेष आपत्ति नहीं की जाती।

किन्तु इस शताब्दी के प्रारम्भ में भारत-ईरानी तथा योरोपीय क्षेत्रों से बाहर कुछ ऐसे भाषिक साक्ष्य सामने आये जिनके फलस्वरूप 'भारोपीय' नाम की अव्याप्ति स्पष्ट थी। ये थी—(1) चीनी तुर्किस्तान से प्राप्त तोखारी की भाषिक *सामग्री तथा तुर्की के बोगाज कोई नामक स्थान से प्राप्त हित्ती की भाषिक सामग्री।* क्योंकि ये दोनों ही भाषाएं भारोपीय के उपरिनिर्दिष्ट भौगोलिक क्षेत्रों की सीमाओं से बाह्य क्षेत्रों में पायी गई हैं अतः इनका समावेश उपर्युक्त भौगोलिक नाम में नहीं होता है। इसलिए कुछ विद्वानों की ओर से इसके लिए भारत-हित्ती (Indo-Hittite) नाम का प्रस्ताव भी आया जो कि निष्पक्ष दृष्टि से विचार करने पर अधिक उपयुक्त भी प्रतीत होता है। परन्तु यह नाम भी अधिक न चल सका, कारण कि एक तो इसके प्रस्ताव से पूर्व ही 'भारोपीय' नाम काफी प्रचलित हो चुका था दूसरे नई खोजों के साथ नई सीमाओं के उपलब्ध होने पर भाषिक परिवारों के नामों को बदलते रहना अधिक बुद्धिमत्ता का कार्य नहीं। क्योंकि कोई भी नाम किसी व्यक्ति या वस्तु से सम्बद्ध सभी गुण-धर्मों का बोधक नहीं हो सकता। उस सर्वेतिन शब्द से किसी व्यक्ति या वस्तु विशेष का बोधक हो यही

पर्याप्त होता है। इसी दृष्टि से इस नाम को अब प्रायः सभी देशो के विद्वानों ने सिद्धान्ततः स्वीकार कर लिया है।

भारोपीय परिवार का महत्त्व—भाषा वैज्ञानिक अध्ययनों, विशेषकर ऐतिहासिक तथा तुलनात्मक अध्ययनों में भारोपीय परिवार की भाषाओं का विशेष महत्त्वपूर्ण स्थान रहा है। क्योंकि इस प्रकार के भाषिक अध्ययनो के लिए जितनी पुरातन तथा अधिकृत सामग्री इस वर्ग की भाषाओ के पुरातन भण्डारो मे उपलब्ध होती है उतनी और किसी मे नही, अर्थात् इस परिवार की संस्कृत, ग्रीक, लैटिन आदि भाषाए ऐसी है जिनमे ईसा की कई शताब्दियो पूर्व से एक अटूट साहित्यिक परम्परा पायी जाती है जो कि इनके विकास-क्रम और स्वरूप का निर्धारण करने के लिए एक पुष्ट प्रमाण के रूप मे उपलब्ध होती है। ऋग्वेद विश्व का सबसे पुराना साहित्यिक ग्रन्थ तो है ही पर साथ ही भाषा की दृष्टि से भी विश्व मे भाषा का सबसे अधिक प्राचीन लेखा-जोखा प्रस्तुत करता है। इतना ही नही इन भाषाओ मे अति प्राचीन काल से ही भाषा की दृष्टि से भी विचार किया जाता रहा है। 'प्रातिशाख्य' इस दिशा मे किए गए प्रयासो के प्राचीनतम रूप हैं। ग्रीक और लैटिन मे भी भाषा के स्वरूप व प्रकृति के सम्बन्ध मे काफी प्राचीन काल से विचार किया जाता रहा है।

साहित्यिक दृष्टि मे भी इस परिवार की भाषाओं मे जितना प्राचीन समृद्ध तथा विविधतापूर्ण साहित्य उपलब्ध होता है उतना और किसी मे नहीं।

इस परिवार की भाषाओ को बोलने वाले लोग, न केवल विश्व के अधिकतम भूभागो मे रहते है अपितु सभ्यता एव संस्कृति के विषय मे औरो से आगे रहे है। फलतः जब भाषिक अध्ययनो का प्रारम्भ हुआ तो इन्ही लोगो ने इनका नेतृत्व किया। इतना ही नही विश्व के अनेक भूभागो मे इन भाषाओ के प्रसार का कारण इनके बोलने वालों का क्षेत्रीय तथा राजनीतिक प्रसार भी रहा है। यही कारण है कि आज व्यापकता तथा जनसख्या की दृष्टि से इस परिवार की भाषाओ का व्यवहार करने वालो का स्थान सर्वोपरि है। इसीलिए भाषा विज्ञान के क्षेत्र मे जितना अधिक एव विविध आयामी अध्ययन एव तुलनात्मक अनुसधान इस वर्ग की भाषाओ के विषय मे हुआ है उतना विश्व के किसी अन्य वर्ग की भाषाओ के सम्बन्ध मे नही। सच तो यह है कि भाषा वैज्ञानिक अध्ययनो का सारा महल इसी भूमि पर खड़ा किया गया है।

मूल भारोपीय के पुनर्गठन में संस्कृत का योग—पिछले पृष्ठो मे बताया जा चुका है कि पिछली शताब्दी मे संस्कृत के पाश्चात्य भाषाविज्ञो के परिचय से भाषा विज्ञान के क्षेत्र मे एक नये युग का प्रारम्भ हुआ जिसमे कि एशिया तथा यूरोप की प्रमुख भाषाओ के विकास एव पारस्परिक सम्बन्धो पर नये सिरे से विचार किया गया। तुलनात्मक भाषा विज्ञान के क्षेत्र मे एक अभूतपूर्व उत्साह के साथ

अनेक नवीन तथ्यों को सामने लाया गया तथा उनकी अनेक भाषायी उलझनों को सुलझाया गया। किन्तु इन सबकी जो सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण देन कही जा सकती है वह है इन भाषाओं के लिए एक मूल स्रोत की कल्पना। अन्ततोगत्वा इन अध्ययनों से पूर्व एक तो कभी ऐसे एक मूल की कल्पना सम्भव न हो सकी थी तथा दूसरे इस मूल रूप की प्रकृति को समझने तथा उसका पुनर्गठन करने में जो सहायता संस्कृत से मिली, वह ग्रीक तथा लैटिन से भी अधिक महत्त्व की मानी जाती है। इसका स्पष्ट कारण यह है कि विश्व की इस महान खोज का प्रमुख श्रेय संस्कृत को ही जाता है, क्योंकि संस्कृत की भाषायी सामग्री का पुरातनतम रूप केवल वैदिक भाषा में ही सुरक्षित रह पाया है। इसलिए इस परिवार की भाषायी विशेषताओं का प्राचीनतम रूप इसी में देखा जा सकता है जो कि तत्कालीन विकास का प्रत्यक्ष रूप में तथा पूर्ववर्ती विकास की दिशा का अप्रत्यक्ष रूप में निर्देश करता है। इस परिवार की अन्य भाषाओं के साथ इसकी तुलना करने तथा इस आधार पर पुनर्गठित इसके मूलरूपों से इसकी तुलना करने पर स्पष्ट हो जाता है कि इसमें ही मूल भारोपीय की ध्वनियों एवं संरचना का सबसे अधिक विश्वसनीय रूप में संरक्षण हो पाया है। इसलिए मूल भारोपीय के पुनर्गठन में संस्कृत का महत्त्व स्वयं सिद्ध है।

भारोपीय भाषाओं का वर्गीकरण

भारोपीय वर्ग की भाषाओं की उत्पत्ति तथा प्रसार के सम्बन्ध में निश्चित रूप से अभी तक कुछ नहीं कहा जा सका है। विद्वानों का अनुमान है कि मूल में किसी प्रदेश विशेष में रहने वाला यह एक भाषिक समुदाय रहा होगा जो कि कभी कारण वश एशिया तथा योरोप के भूभागों में फैलता गया। इसका मूल क्षेत्र कौन प्रदेश था इसके विषय में काफी मतभेद है, किन्तु काल के विषय में अनुमान किया जाता है कि इसका पूर्वी अथवा पश्चिमी प्रसार ताम्र युग अर्थात् 3000 ई० पू० के लगभग प्रारम्भ हुआ होगा।

भाषिक साम्यों के आधार पर भारोपीय मूल से विकसित भाषाओं का वर्गीकरण दो रूपों में किया जाता है। एक वर्गीय विभाजन के रूप में तथा दूसरा शाखीय विभाजन के रूप में। जिनका संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है—

वर्गीय विभाजन—इस परिवार की विभिन्न भाषाओं में पायी जाने वाली कतिपय ध्वन्यात्मक प्रवृत्तियों के आधार पर अनुमान किया जाता है कि मूल *भारोपीय की दो विभाषाएं थीं जिनकी अपनी-अपनी कतिपय प्रवृत्तियां थीं जो कि* उनके बोलने वालों के साथ ही स्थानान्तरित होती रहीं और जिनका प्रतिबिम्ब उनसे विकसित विभिन्न कालिक भाषिक रूपों में बना रहा तथा इन भाषाओं के तुलनात्मक अध्ययनों के फलस्वरूप उभरकर सामने आया। उनको ये समानान्तर

प्रवृत्तियाँ एकाधिक रूपों में दिखाई देती हैं किन्तु जिन शब्द-रूपों के आधार पर अस्कोली (Ascoli) नामक विद्वान ने 1870 में सर्वप्रथम विद्वानों का ध्यान इस तथ्य की ओर आकृष्ट किया था, वे थे 'सौ' की संख्या के लिए प्रयुक्त किये जाने वाले शब्द। उसने देखा कि कुछ भाषाओं में तो 'सौ' के वाचक शब्द की प्रारम्भिक ध्वनि ऊष्म (स, श्) है तथा कुछ में कण्ठ्य (क्)। इस ध्वनितत्त्व का गहराई के साथ विश्लेषण करने पर वह इस तथ्य पर पहुंचा कि भाषिक पुनर् रचनाओं के आधार पर यह ध्वनि मूलतः कण्ठ्य (कण्ठ्य एवं कण्ठ्य-तालव्य) होनी चाहिए जो कि कुछ भाषाओं में तो यथा-मूल बनी रही तथा कुछ में ऊष्म/संघर्षी ध्वनियों में विकसित हो गयी।

आस्कोली के द्वारा दिये गये इस संकेत सूत्र को लेकर 'वान ब्रेडले' नामक जर्मन विद्वान ने इस विषय में और अनुसन्धान करके पहले तो *क्यमृतोम *(kmytom) के रूप में मूल भारोपीय रूप की कल्पना की तथा फिर एक ओर अवेस्ता के 'सौ' के वाचक शब्द 'सतम्' तथा दूसरी ओर लैटिन के 'केन्तुत्' शब्द को लेकर इन्हीं के नाम पर 'सतम्' और 'केन्तुम्' नाम से दो वर्गों की स्थापना की। जिसके अनुसार मूल भारोपीय की कण्ठ्य-तालव्य ध्वनि *क्य केन्तुम् वर्ग की भाषाओं में तो कण्ठ्य ध्वनि (क्) के रूप में विकसित हो गयी तथा 'सतम्' वर्ग की भाषाओं में इसका विकास सोष्म अथवा सोष्म-संघर्षी ध्वनियों (श्, ष् ज़्,) के रूप में हुआ। जिसे निम्नलिखित रूप के उदाहृत किया जा सकता है।

सतम् वर्ग	केन्तुम् वर्ग
अवेस्ता—सतम्	लैटिन—केन्तुम्
फारसी—सद्	ग्रीक—हेक्तोन्
संस्कृत—शतम्	इतालवी—केन्तो
रूसी—सुतो (स्लाविक)	फ्रांसीसी—केन्त
बुल्गारियन—सुतो	ब्रीटेन—केन्त
बाल्तिक—ज़िम्तस्	केल्टिक—केल्
लिथुआनियन—स्ज़िम्तस्	तोखारी—कन्त (कन्ध)
	गोलिक—क्युद्
	प्रा० आइरिश—केत्

इसी के समान ही कतिपय अन्य शब्दों में भी इसी प्रकार की नियमित द्वैधता की जिन प्रवृत्तियों ने उपर्युक्त अनुमान की पुष्टि करने में साहाय्य प्रदान किया उनमें से कुछ इस प्रकार है—

सौ के वाचक शब्दों के समान ही 'दस' तथा 'सात' के वाचक शब्दों में भी

देखा गया कि मूल भारोपीय के स्वरात्मक पदान्त म् तथा न् केन्तुम् (लैटिन) में तो पदान्त स्वर के साथ सुरक्षित हैं किन्तु सतम् (संस्कृत) में लुप्त हो गये हैं—

मूल भारोपीय	लैटिन	संस्कृत
देकृम् (dekm)	देकेम् (Decem)	दश
सेप्तृन (Septn)	सेप्तेन	सप्त

ऐसे ही मूल भारोपीय कण्ठोष्ठ्य ध्वनियों के सम्बन्ध में देखा गया कि 'केन्तुम्' में तो ये ज्यों की त्यों सुरक्षित हैं किन्तु 'सतम्' में इनका विकास शुद्ध कण्ठ्य ध्वनियों के रूप में हो गया है—

मूल भारो०	सतम्	केन्तुम्
क्विस	संस्कृत-कः (कस्)	लै० क्विस् (quis)
	लिथु० कस्	हित्ती—क्विस्

तुलनात्मक विश्लेषण की पद्धति से उपलब्ध उपर्युक्त साक्ष्यों के आधार पर यह मानने में कोई आपत्ति नहीं रह जाती कि मूल भारोपीय की कम से कम दो प्रमुख विभाषाएं थी जिनकी भिन्न-भिन्न प्रवृत्तियों का प्रतिबिम्बन उपर्युक्त रूपों में देखा जा सकता है तथा जिन्हें ब्रेडले ने सुविधा के लिए दो शब्दों के आधार पर *'सतम्' तथा 'केन्तुम्'* नाम दे डाला है।

केन्तुम् वर्ग के अन्तर्गत आने वाली हित्ती तथा तोखारी भाषाओं की खोज से पूर्व तक इन वर्गों को पूर्वी (सतम्) तथा पश्चिमी (केन्तुम्) वर्ग भी कहा जाता था किन्तु अब क् ध्वनि से प्रारम्भ होने वाली इन पूर्वी वर्ग की भाषाओं की खोज के बाद यह विभाजन निराधार हो गया है।

अब तक की उपलब्धियों के अनुसार सम्पूर्ण भारोपीय भाषाओं का यह द्विविध वर्ग विभाजन इस प्रकार बनता है—

सतम्—आर्य या भारत-ईरानी, बाल्तो-स्लाव, अल्बानी, आर्मीनी।

केन्तुम्—इतालवी, ग्रीक, जर्मनिक, केल्टिक, हित्ती एवं तोखारी।

शाखीय विभाजन—शाखीय विभाजन की दृष्टि से भारोपीय परिवार की भाषाओं का विभाजन जिन 10 प्रमुख शाखाओं में किया जाता है उनके नाम हैं—1 आर्य या भारत-ईरानी, 2 आर्मिनी, 3 अल्बानी, 4 बाल्तोस्लाव (बाली-स्लावी), 5 ग्रीक, 6 इतालवी, 7. केल्टिक, 8. जर्मन (ट्यूटानी), 9 तोखारी 10 हित्ती।

इनका संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है—

1 भारत ईरानी शाखा

इस शाखा की दो प्रधान उप शाखाएं हैं—(अ) भारतीय शाखा, (ब) ईरानी

शाखा। इनके अतिरिक्त इसकी एक और शाखा भी है जिसे कि दरद शाखा कहा जाता है।

(अ) भारतीय शाखा—समस्त उत्तर मध्य भारत में बोली जाने वाली सभी आर्य भाषाएं एवं बोलियां इसी वर्ग के अन्तर्गत आती हैं। भारत के अन्य भाषा वर्ग द्रविड परिवार से इसकी पृथकता जतलाने के लिए इसे 'आर्यभाषा परिवार' के नाम से अभिहित किया जाता है। इसमें इस परिवार की प्राचीन, मध्यकालीन तथा आधुनिक आर्य भाषाएं सम्मिलित की जाती है। वैदिक संस्कृत के रूप में इसका प्राचीनतम रूप कम से कम ढाई तीन हजार वर्ष पूर्व से सुरक्षित पाया जाता है। यही भाषा साहित्यिक संस्कृत, पाली, प्राकृत एवं अपभ्रंशों के रूप में विकसित होती हुई आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं के रूप में हमारे सामने आती हैं। इसका प्राचीनतम रूप ऋग्वेद की भाषा में पाया जाता है जोकि ईरानी वर्ग के साथ इसकी निकटता पर प्रकाश डालता है तथा उसका यही रूप है जोकि मूल भारोपीय के पुनर्गठन में हमारी सहायता करता है।

(ब) ईरानी शाखा—इसका प्राचीनतम रूप पारसियों की धर्म पुस्तक अवेस्ता में पाया जाता है जिसका समय ईसा से लगभग 800 वर्ष पूर्व माना जाता है। यह अपनी शब्दावली तथा रूप-रचना दोनों ही दृष्टियों से वैदिक संस्कृत के अति निकट है। इनमें इतनी निकटता है कि नियमित ध्वनि नियमों के आधार पर एक भाषा को दूसरी में परिवर्तित किया जा सकता है, दोनों में ही मूल भारोपीय ध्वनियों का समान रूप से विकास देखा जाता है।[1]

अवेस्ता के अतिरिक्त इसका एक अन्य प्राचीन रूप अकेमेनियन राजाओं (500 ई०पू०) के क्यूनिफॉर्म लिपि में अंकित शिलालेखों में भी पाया जाता है। इसका परवर्ती विकास पहलवी के रूप में हुआ, जिसमें कि अवेस्ता की टीकाएं तथा अन्य साहित्य पाया जाता है। आधुनिक फारसी, पश्तो, बलूची, कुर्दिश आदि इन्हीं के विकसित रूप हैं।

2 अल्बेनियन—(इलीरी) यह 'इलीरी' नामक एक प्राचीन भाषा की एकमात्र अवशिष्ट उपभाषा है। इसका क्षेत्र आड्रियातिक सागर के पूर्व में स्थित पहाड़ी प्रदेश है। इस शाखा का कोई प्राचीन लिखित रूप उपलब्ध नहीं होता। चौदहवीं शताब्दी के बाद से ही इसके साहित्य की उपलब्धि होने लगती है। इसमें पूर्व के इसके रूप को जानने तथा इसके क्रमिक भाषायी विकास के रूप को निर्धारित करने के लिए ऐतिहासिक सामग्री की न्यूनता पायी जाती है। ग्रीक, स्लाव तथा तुर्की के भाषिक सम्पर्कों के कारण इसमें इतने अधिक भाषिक परिवर्तन हो गये हैं कि प्रारम्भ में भाषा विज्ञानी इसे भारोपीय परिवारों की भाषाओं में परिगणित करने में संकोच करते थे।

1. देखो पृ० 112 आदि।

3 आर्मेनियन—आर्मेनियन में अल्बेनियन की अपेक्षा अधिक प्राचीन भाषायी सामग्री उपलब्ध होती है अर्थात् इसमें ईसा की पाचवीं शताब्दी के बाद निरन्तर साहित्य की उपलब्धि होने लगती है। जिसके कारण इसके भाषायी विकास को अधिक स्पष्टता के साथ देखा जा सकता है। फ्रेंच भाषाविद् मेये ने इसका भाषा शास्त्रीय अध्ययन करके इसके भाषीय स्वरूप तथा अन्य भाषाओं के साथ इनके सम्बन्धों पर अच्छा प्रकाश डाला है। इसमें ईरानी शब्द पर्याप्त मात्रा में पाये जाते हैं। इसकी आधुनिक बोली 'स्तबुल' है जो *कुस्तुन्तुनिया तथा कृष्ण* सागर में तट पर बोली जाती है। धर्म भाषा के रूप में अब भी पुरोहित वर्ग द्वारा इसका प्रयोग होता है।

4 बाल्तोस्लाव—'सतम्' वर्ग की अन्य महत्त्वपूर्ण शाखा है बाल्तोस्लाव। इसकी भी दो प्रमुख उपभाषाएं हैं—1. बाल्तिक, 2. स्लावानिक। बाल्तिक शाखा का प्राचीन साहित्य तो उपलब्ध नहीं होता, किन्तु मध्यकाल में इसकी तीन विभाषाओं—लियुआनियन, लेतिश या लेत्ती तथा प्रशियन का पता लगता है। *भाषा शास्त्रीय दृष्टि से इनमें लियुआनियन का विशेष महत्त्व समझा जाता है* क्योंकि भारोपीय परिवार की भाषाओं में लियुआनियन में ही प्राचीन भारोपीय की प्रकृति सबसे अधिक सुरक्षित रूप में पायी जाती है। इसमें अब भी द्विवचन के चिह्न अवशिष्ट हैं तथा विभक्तियों की दृष्टि से भी संस्कृत के बाद इसी का स्थान आता है। संस्कृत में सात (आठ) विभक्तियां हैं तो इसमें छः। मूल भारोपीय ध्वनियों की दृष्टि से भी इसमें अन्य यूरोपीय भाषाओं की अपेक्षा सर्वाधिक ध्वनियां सुरक्षित पायी जाती हैं। भाषा वैज्ञानिक दृष्टि से दोनों ही अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। साहित्य 16वीं शती के बाद का मिलता है।

स्लावानिक का प्राचीनतम रूप नवीं शताब्दी की प्राचीन बुल्गारियन में मिलता है। इसकी कई उपभाषाएं हैं जिनमें से उल्लेखनीय हैं—प्राचीन बुल्गारियन अथवा प्राचीन चर्च स्लावानिक, रूसी, पोलिश, चैक, सर्वो-क्रोशियन आदि। प्रा० चर्च स्लाव में भी नवीं शताब्दी से बारहवीं शताब्दी तक का साहित्य उपलब्ध होता है। भाषा शास्त्रीय अध्ययन की दृष्टि से यह विशेष महत्त्व का समझा जाता है, क्योंकि इसी के आधार पर बाल्तोस्लावानिक के मध्यकालीन रूपों का अनुमान एवं पुनर्गठन किया जा सकता है। स्लावी भाषाएं संस्कृत के समान ही श्लिष्ट योगात्मक अथवा विभक्ति प्रधान हैं। शब्द रूपों एवं धातुरूपों की रचना भी संस्कृत के ही समान की जाती है।

5. ग्रीक—केन्तुम् वर्ग की भाषाओं में इसका विशेष महत्त्वपूर्ण स्थान है, *क्योंकि भारोपीय परिवार में संस्कृत के बाद यही एक भाषा है जिसमें कि* प्राचीन साहित्य उपलब्ध होता है। होमर साहित्य का रचना काल 850 ई० पूर्व माना जाता है जो कि वैदिक काल के निकट बाद का समझा जाता है

तब से इस भाग मे संस्कृत के समान ही बराबर साहित्य का सृजन होता रहा है। इसकी दो प्रमुख उप शाखाएं मानी जाती हैं, (1) पूर्वी ग्रीक तथा (2) पश्चिमी ग्रीक। होमर की कृतिया पूर्वी ग्रीक मे ही है। इसे ही ऐतिक या आयोनिक भी कहा जाता है। इसी से आधुनिक ग्रीक का विकास हुआ है। पश्चिमी शाखा की प्रमुख बोली डोरिक (Doric) थी। जिसका आगे विकास नही पाया जाता है। जिस प्रकार माना जाता है कि मूल भारोपीय के व्यजनों का सर्वाधिक सरक्षण संस्कृत में हुआ है उसी प्रकार स्वरों के सम्बन्ध में माना जाता है कि इनका सरक्षण ग्रीक मे सर्वाधिक हुआ है। शब्द-रचना तथा विभक्ति प्रत्ययो की दृष्टि से भी यह सस्कृत के निकट हैं। लिंग तीन हैं किन्तु वचन दो ही।

6 इतालिक :—भारोपीय परिवार मे इतालिक की स्थिति सस्कृत तथा ग्रीक के ही समान महत्वपूर्ण है। इसका प्राचीन साहित्य 200 ई० पूर्व से उपलब्ध होने लगता है। इसकी मुख्य शाखा लैटिन मे मूल भारोपीय की रूप-रचना को संस्कृत, ग्रीक के ही समान सुरक्षित रखा गया है। इसी के बाद फ्रेंच, स्पेनिश, इटालियन, रूमानियन, पोतर्गीज आदि आधुनिक भाषाओं का विकास हुआ है। जिन्हे सामूहिक रूप से रोमांस भाषाएं कहा जाता है। लेटिन अभी भी रोमन कैथोलिक सम्प्रदाय की धर्म भाषा है, योरोप की भाषाओं पर इसका बड़ा प्रभाव है। फ्रांसीसी तथा इतालवी का साहित्य काफी समृद्ध है। रोमन जाति के लोगों के द्वारा योरोप पर प्रभुत्व कायम करने से पूर्व तक योरोप के बहुत बड़े भूभाग ब्रिटेन, फ्रास,, स्पेन, उत्तरी इटली से लेकर एशिया माइनर एव आधुनिक तुर्की तक केल्टिक जाति के लोगो का तथा उनकी भाषा का बोलबाला था, किन्तु रोमनो के प्रभुत्व के साथ ही उनकी जाति का तथा भाषा का ह्रास हो गया।

7. केल्टिक :—केल्टिक शाखा की तीन प्रमुख उप शाखाएं है (1) गेलिक (2) गालिश एवं (3) ब्रितेनिक। इनमे से गालिश की सत्ता छठी शताब्दी के बाद नही पायी जाती। इसमे केवल छह् शिलालेख ही पाये जाते है। गेलिक से ही आधुनिक भाषाओं—आयरिश, स्कॉट, गेलिक, मावस आदि का विकास हुआ है। इसमे साहित्यिक दृष्टि से आयरिश का विशेष महत्त्व है। इसका साहित्य ईसा की पाचवी शताब्दी से उपलब्ध होने लगता है। ब्रितेनिक उपभाषा का आधुनिक वेल्श एवं ब्रेतेन (ब्रेतो) के रूप में विकास पाया जाता है। इनमे वेल्श साहित्यिक दृष्टि से काफी समृद्ध है तथा ईसा की नवी शताब्दी से इसका साहित्य उपलब्ध होने लगता है। भाषा विज्ञान की दृष्टि से केल्टिक को इस परिवार की भाषाओं मे सबसे अधिक कठिन तथा अत्यन्त अस्पष्ट माना जाता है।

8. जर्मन या ट्यूटानिक :—इस शाखा की उप शाखाओ को तीन वर्गों मे विभक्त किया जाता है—(1) पूर्वी जर्मन या गॉथिक (2) उत्तरी जर्मन या स्केण्डि-

नेवियन (3) पश्चिमी जर्मन । पूर्वी जर्मन की कोई भाषा जीवित नहीं रही। इसकी प्राचीन भाषा गॉथिक का भारोपीय भाषाशास्त्र के अध्ययन के लिए विशेष महत्त्व है। इस दृष्टि से इस भाषा में अनूदित चतुर्थ शताब्दी के बाइबिल का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। उत्तरी जर्मन उपशाखा के केवल कुछ प्राचीन शिलालेख ही अवशिष्ट रह पाये हैं। इसका परवर्ती साहित्यिक रूप प्राचीन नोर्स या प्राचीन आइसलैंडिक के रूप में उपलब्ध होता है। इसी से आधुनिक स्वीडिश, डेनिश, नार्वेजियन तथा आईसलैंडिक भाषाओं का विकास हुआ है।

पश्चिमी जर्मन उपशाखा की दो प्राचीन शाखाएं पायी जाती हैं (1) उच्च जर्मन तथा (2) निम्न जर्मन। उच्च जर्मन का विकास आधुनिक डच एवं फ्लेमिश (बेल्जियम की भाषा) के रूप में हुआ है तथा निम्न जर्मन का विकास अंग्रेजी तथा फ्रीजियन उपवर्ग की आधुनिक भाषाओं में। इसमें साहित्यिक दृष्टि से प्राचीन अंग्रेजी (ऐंग्लो सेक्सन) का विशेष महत्त्व है। इसी से आधुनिक अंग्रेजी का विकास हुआ।

9. तोखारियन :—भारोपीय परिवार की इस भाषा की शाखा का पता आधुनिक काल में ही लगा है। हाल ही में *1904* में चीनी तुर्किस्तान में भूमि में सुरक्षित कुछ बौद्ध साहित्य तथा आयुर्विज्ञान से सम्बद्ध हस्तलेख प्राप्त हुए थे जिनका लेखन काल ईसा की छठी शताब्दी से दशवीं शताब्दी के बीच माना जाता है। ये लेख दो उपभाषाओं में पाए जाते हैं, पर इन दोनों को ही यहां के *निवासी 'तुषार' व 'तुखार' जाति के लोगों के नाम पर 'तुखारी' के नाम से अभि*हित किया जाता है। इसमें अनेक शब्द ऐसे हैं जो कि भारोपीय परिवार की प्राचीन भाषाओं के शब्द रूपों के साथ अति निकट साम्य प्रकट करते हैं। यथा पातर =सं० पितृ, मातर =सं० मातृ, ओक्त = सं अष्ट। यह भाषा यद्यपि भौगोलिक दृष्टि से 'सतम्' वर्ग की भाषाओं में मिली हुई है तथापि इसमें 'सौ' का वाचक 'कन्त kant शब्द होने से इसकी गणना 'केन्तुम्' वर्ग के अन्तर्गत की जाती है। ऐसा समझा जाता है कि ये लोग चीन के रास्ते से मध्य एशिया में पहुंचे थे। मध्य एशिया में ई० पू० द्वितीय शताब्दी से लेकर सातवीं शताब्दी तक इसका प्रभुत्व रहा जिसे हूणों ने ध्वस्त कर दिया।

10 हित्ती—तोखारियन के समान ही हित्ती की खोज भी आधुनिक काल की ही देन है। 'केन्तुम्' वर्ग की इस शाखा की खोज भी इसी शताब्दी में हुई थी। तुर्की (अनातोलिया) के 'बोगाजकुई' नामक स्थान पर ईंटों पर क्यूनिफार्म *लिपि में अंकित कुछ लेख प्राप्त हुए हैं, जो कि ईसा की नवीं शताब्दी से चौदहवीं*

शताब्दी पूर्व तक के माने जाते है। बोगाजकुई प्राचीन हित्ती राज्य की राजधानी थी। इसी के नाम पर इस भाषा का नाम भी हित्ती पड़ा है। भारोपीय परिवार की उपलब्ध भाषाओ में इसे प्राचीनतम अवशेष माना जाता है। इसकी खोज से भारोपीय परिवार की अनेक भाषायी समस्याओ पर नया प्रकाश पडा है। इसकी अनेक विशेषताओं के आधार पर कुछ विद्वानो ने प्राचीन 'भारत-हित्ती भाषा परिवार' की एक कल्पना कर डाली है। इस विषय मे प्रोफेसर एडगर एच स्टर्टेवण्ट की पुस्तक 'हित्ताइत का तुलनात्मक व्याकरण, (Comparative grammar of Hittite, 1933) विशेष रूप से महत्त्वपूर्ण देन कही जा सकती है। इस अध्ययन के अन्तिम निष्कर्ष के रूप में माना जाता है कि हित्ती भाषा पुनर्गठित भारोपीय की उसी रूप में उपज नही है जिस रूप मे कि अन्य प्राचीन भाषाएं—संस्कृत, ग्रीक, लैटिन आदि हैं। इन विद्वानो के अनुसार यह भाषा भारोपीय की पुत्री नही अपितु बहिन है, जिन्हे कि किसी प्राग्भारोपीय की पुत्रियां कहा जा सकता है। प्रो० बरो के अनुसार यह भारोपीय भाषाओ मे प्राचीनतम उपलब्ध सामग्री है।

मूल भारोपीय ध्वनियो के पुनर्गठन के समान ही हित्ती भाषा और ध्वनियो का भी कल्पनाश्रयी पुनर्गठन किया गया है। ध्वनि प्रक्रिया की दृष्टि से विशेष रुचिकर बात यह है कि इसमे अन्य भारोपीय भाषाओं के समान टवर्गीय ध्वनियों का अभाव तो है ही पर साथ ही अन्य वर्गों मे भी चार स्पर्श व्यजनो के स्थान पर तमिल की तरह केवल एक ही अघोष अल्पप्राण स्पर्श (क्, च्, त्, प्,) पाया जाता है।

हित्ती मे ह् (=ख्) का प्रश्न बडा महत्त्वपूर्ण है। हित्ती के अनेक शब्द रूपो मे एक कठ्य ऊष्म ध्वनि (spirant) ख् पायी जाती है जिसे कि ह् के रूप मे लिखा जाता है। किन्तु भारोपीय के समानार्थी शब्दो मे इसके स्थान पर कोई ध्वनि नहीं पायी जाती। यथा—खित्ती~हित्ती—एश्हर 'रक्त' : सं असृक् : ग्रीक—एऑर 'रक्त', हित्ती-खस्ताइ 'हड्डिया' सं अस्थि : ग्रीक-ओस्तेओन, लै० ओस् आदि।

भारत-हित्ती की स्वर प्रणाली सम्भवतः भारत यूरोपीय स्वर प्रणाली से बहुत भिन्न थी।"[2] इसकी स्वर प्रणाली का अभी सन्तोषजनक रूप से निर्धारण नही हो सका है।

ध्वनि विकास की दृष्टि से भारत हित्ती की ध्वनियो की उल्लेखनीय विशेषता यह है कि इसमे पार्श्ववर्ती दो दन्त्य ध्वनियो के बीच एक शिन् ध्वनि (sibilant) विकसित होने लगी थी त्त, त्थ, द्द, द्ध का विकास त्स्त, त्स्थ, द्ज़्द, दज्ध के रूप मे हो गया था।

2. बटर्जी 1963, पृ० 279.

"अनुमानाश्रयी भारत-हित्ती ने जिसके पुनर्गठन का कार्य अभी चल रहा है, हमें भारत यूरोपीय की ध्वनियों तथा पदों के उद्भव के सम्बन्ध में अनुमान करने का उचित अवसर दिया है।"[3] हित्ती तथा संस्कृत की अनुरूपी शब्दावली के लिए देखिए 'भारोपीय के साथ संस्कृत का आन्तरिक सम्बन्ध'।

इन उपर्युक्त प्रमुख वर्गों के अतिरिक्त भारोपीय परिवार की और भी अनेक भाषाएं हैं जो या तो अब लुप्तप्राय हैं या केवल शिलालेखों आदि के रूपों में ही यत्किंचित् अवशिष्ट रह पायी हैं।[4]

---

3. चटर्जी, 1963 पृ० 287
4. विवरण के लिए देखो, बरो पृ० 8-9

2

भारोपीय परिवार की भाषाओं की सर्वसामान्य विशेषताएं

यह परिवार भाषाओं तथा विभाषाओं का एक बहुत बड़ा जमघट-सा है जिसके बोलने वाले विश्व के सभी देशों में फैले हुए हैं। जिनमें स्थान व काल के भेद से अनेक प्रकार के विभेद पैदा हो चुके हैं। उन सबका विवरण एकत्र दे पाना कठिन है। फिर भी शब्द भंडार की समानरूपता के अतिरिक्त इस वर्ग की भाषाओं की कतिपय ऐसी संरचनात्मक विशेषताएं हैं जो कि न्यूनाधिक मात्रा में इस परिवार की सभी प्रमुख भाषाओं और विभाषाओं में पायी जाती है। उनमें से कुछ का दिशा संकेत निम्नलिखित रूप में किया जा सकता है—

1. श्लिष्टयोगात्मकता—इस परिवार की भाषाओं के प्राचीनतम ज्ञात रूपों *से पता चलता है कि प्रारम्भ से ही इसमें विभक्ति प्रत्ययों के योग से शब्द-रचना* हुआ करती थी, यथा सं० दातरि (दा+तर+ई) : ग्रीक—दोत्रि (दो+तोर+इ) जो कि समय के साथ संश्लिष्टावस्था से विश्लिष्टावस्था की ओर अग्रसर होती रही। फलतः आज कई आधुनिक भाषाएं पूर्ण या अर्ध विश्लिष्टावस्था को पहुंच

चुकी हैं, यथा संस्कृत से विकसित आधुनिक भारतीय भाषाएं अथवा ग्रीक या लैटिन से विकसित योरोपीय भाषाएं।

2. प्रकृति-प्रत्यय योग—मूलत. धातु या प्रातिपदिक एकाक्षरी थे। पद अर्थात् धातुमूल में एक ही स्वर ध्वनि होती थी, व्यंजन एकाधिक भी हो सकते थे, यथा पठ्=प्+अ+ठ्, चुर=च्+उ+र् आदि। पद रचना के लिए प्रकृति तथा प्रत्यय का योग आवश्यक था, किन्तु यह योग प्रकृति के अंत में ही होता था मध्य में नहीं, जैसा कि सेमेटिक वर्ग की भाषाओं में होता है। स्वतन्त्र रूप में न प्रकृति का प्रयोग हो सकता था और न प्रत्यय का। इसीलिए महा भाष्यकार भगवान पतंजलि को विधान करना पड़ा "न केवला प्रकृतिःप्रयोक्तव्या न च केवलः प्रत्ययः।"

3 प्रत्यय विकास—इस परिवार की भाषाओं में प्रयुक्त होने वाले प्रत्ययों के विषय में समझा जाता है कि पहले ये स्वतन्त्र शब्द रहे होंगे किन्तु प्रयोगाधिक्य के कारण इनकी अनेक ध्वनियों का ह्रास हो जाने से उनका प्रयोग प्रत्ययों के रूप में किया जाने लगा।

4 उपसर्गों की स्थिति—उपसर्गों के सम्बन्ध में भी अनुमान किया जाता है कि पहले इनकी स्थिति भी स्वतन्त्र थी। इनका संयोग पद रचनात्मक रूप में न होकर समस्त पद के अंग के रूप में होता था। इसकी पुष्टि दो रूपों में होती है, एक तो वैदिक भाषा में इनके स्वतन्त्र प्रयोग के आधार पर तथा दूसरे, समासों में 'प्रादिसमास' तथा 'नञ् समास' जैसे प्रयोगों के आधार पर। यदि ये स्वतन्त्र पदों के समान समास के घटक तत्त्व न होते तो इन्हें इन रूपों में मान्यता देने की आवश्यकता न होती।

5. द्वित्वीकरण—पद रचना के प्रसंग में अभ्यास अथवा द्वित्वीकरण की प्रवृत्ति भी इस परिवार की भाषाओं की मूल प्रवृत्ति प्रतीत होती है। कम से कम ग्रीक तथा संस्कृत में तो इसका पर्याप्त प्राधान्य पाया जाता है। संस्कृत के 'परोक्ष भूत' (लिट् लकार) के रूपों में इसे स्पष्टत. देखा जा सकता है, यथा संस्कृत—बभार, बद्यामि, ग्रीक पेफुका, तिथेमि।

6 अक्षरावस्थान—अक्षरावस्थान (Vowel Variation) अर्थात् प्रकृति के स्वर में परिवर्तन करके नवीन शब्दों की रचना इस परिवार की भाषाओं की एक अन्यतम विशेषता है, यथा पुत्र से पौत्र, कुमार से कौमार्य, युवा से यौवन। इसके अतिरिक्त स्वर परिवर्तन द्वारा सम्बन्ध तत्त्व का अवबोधन भी कतिपय भाषाओं में सामान्य रूप में पाया जाता है, यथा अंग्रेजी सिंग (sing) सैंग (sang) सङ्ग (sung)।

7. समस्तपद रचना—एकाधिक पदों को समस्त करने की प्रवृत्ति के दर्शन भी इस वर्ग की भाषाओं में प्राचीन काल से ही होते हैं। यद्यपि उनका रूप भिन्न-भिन्न भाषाओं में भिन्न-भिन्न मात्राओं में पाया जाता है। साहित्यिक संस्कृत

इसका जटिलतम रूप प्रस्तुत करती है। ग्रीक् मे भी समस्त पदो की स्थिति पर्याप्त मात्रा मे पायी जाती है। इस सम्बन्ध मे यह भी समझ लेना आवश्यक है कि समास केवल एकाधिक शब्दों का संयोजन मात्र ही नही अपितु शब्द रचना की अन्यतम विशिष्ट प्रक्रिया है जिसमे दोनो पद मिलकर एक नवीन शब्द तथा अर्थ का निर्माण करते हैं, यथा **राज+पुरुष** जो कि न तो राजा है और न अविशिष्ट पुरुष मात्र अपितु एक विशिष्ट कार्य सम्पन्न करने वाला व्यक्ति है। बहुव्रीहि मे तो निर्दिष्ट अर्थ दोनो पदो मे से किसी एक का भी अर्थ नही होता यथा **पीताम्बर, (पीतानि अम्बराणि सन्ति यस्य सः)**=श्रीकृष्ण। यहां वह व्यक्ति न तो स्वयं पीला है और न स्वय वस्त्र ही। ऐसे ही **पुष्पधन्वा, शशांक** आदि भी।

8. **अवश्रुति (Vowel gradation)** इस परिवार की भाषाओ की एक अन्य सर्वमान्य विशेषता है अवश्रुति। स्वर विकार के इस रहस्यात्मक ध्वनि नियम का पता लगने पर ही तो इस वर्ग की भाषाओं के बीच एक आन्तरिक सम्बंध की कल्पना कर पाना तथा भारोपीय के मूल रूपों का पुनर्गठन कर पाना सम्भव हो सका है।

भारोपीय की आर्य शाखा (भारत-ईरानी वर्ग)

जिस प्रकार सम्पूर्ण भाषा परिवारों मे भारोपीय परिवार को सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण समझा जाता है उसी प्रकार भारोपीय परिवार मे इसकी आर्य शाखा को, जिसे भारत-ईरानी शाखा भी कहा जाता है। समझा जाता है कि दो वर्गों मे विभक्त होने से पूर्व प्राचीन ईरानी अथवा अवेस्ता की भाषा बोलने वाले तथा प्राचीन भारतीय आर्य भाषा अथवा वेदों की भाषा बोलने वाले लोग कहीं इकट्ठे ही रहा करते थे क्योंकि इन दोनो भाषाओं मे वही निकट सम्बन्ध पाया जाता है जो एक ही माता-पिता की सन्तानों के बीच पाया जाता है। इस प्रकार वेदों तथा अवेस्ता के रूप मे पायी जाने वाली दोनो प्राचीन भाषाएं एक ही मूल की दो शाखाएं हैं जिन्हें भारतीय शाखा तथा ईरानी शाखा के नाम से अभिहित किया जाता है।

इनके भाषा वैज्ञानिक महत्त्व का विशेष कारण यह है कि इन दोनों मे ही भारोपीय की ही नहीं अपितु विश्व की प्राचीनतम भाषिक सामग्री को वेदों तथा अवेस्ता की भाषा के रूप में सुरक्षित रखा गया है। साथ ही इनमे साहित्यिक रचनाओं का एक ऐसा क्रम-बद्ध रूप रहा है कि उसके प्रकाश मे इस शाखा की भाषाओं का एक प्रामाणिक काल-क्रमिक लेखा तैयार किया जा सकता है तथा उसके प्रकाश मे अन्य भाषाओ के सम्बन्ध मे भी महत्त्वपूर्ण जानकारी प्राप्त की जा सकती है।

यहां पर ईरानी शाखा से सम्बद्ध भाषाओं के विवेचन पर कुछ न कह कर केवल उसके प्राचीनतम अवशेष अवेस्ता तथा वैदिक भाषा की कतिपय सर्व

सामान्य विशेषताओं तथा मूल भाषा से पृथक् होने के बाद दोनों में विकसित कतिपय मौलिक अन्तरों का ही उल्लेख करेंगे।

संस्कृत तथा प्राचीन ईरानी का पारस्परिक सम्बन्ध

पिछले अध्याय में इस बात का उल्लेख किया ही जा चुका है कि भारोपीय परिवार की विभिन्न शाखाओं में भारत-ईरानी शाखा का महत्त्वपूर्ण स्थान है। संस्कृत के साथ निकट का सम्बन्ध रखने वाली भाषाओं में अवेस्ता का स्थान सबसे प्रमुख है। इस अध्याय में हम इन दो भाषाओं के पारस्परिक सम्बन्धों एवं इन दोनों में प्राप्त होने वाली सामान्य भाषायी विशेषताओं पर विचार करेंगे।

सर्व विदित है कि भारतीय आर्य भाषाओं के इतिहास का प्राचीनतम प्रामाणिक लेखा ऋग्वेद की भाषा के रूप में उपलब्ध होता है। इसी के आधार पर हम उत्तर वैदिक कालीन एवं साहित्यिक संस्कृत में पाये जाने वाले सभी प्रकार के भाषायी परिवर्तनों की दिशा का निर्धारण करते हैं, किन्तु जैसा कि भाषा के स्वाभाविक विकास का नियम होता है उसके अनुसार वैदिक भाषा के इस रूप का विकास भी इसके किसी पूर्ववर्ती रूप से हुआ होगा। इसके नियत पूर्व की भाषा का स्वरूप क्या था तथा उससे इस वैदिक भाषा के रूप में विकसित होने में कितना समय लगा—इत्यादि प्रश्नों का हमारे पास यद्यपि कोई प्रामाणिक लेखा उपलब्ध नहीं है, किन्तु जिस मूल रूप में इसका विकास हुआ तथा उसी रूप से विकसित अन्य भाषाओं के साथ इसकी तुलना करने पर इसके अनुमाना-श्रयी मूल रूप की सामान्य रूप रेखाओं का पता लगा लेना असम्भव नहीं। भाषा शास्त्रियों ने संस्कृत के इस अनुमानाश्रयी पूर्व रूप का नाम 'भारत-ईरानी' रखा है, जिसका कि सामान्य परिचय पीछे दिया जा चुका है।

वैदिक संस्कृत की पूर्ववर्ती इस 'भारत-ईरानी' के स्वरूप का विश्लेषण दो आधारों पर किया जाता है। प्रथम आधार के अनुसार प्राचीन भारतीय (वैदिक) तथा प्राचीन ईरानी (अवेस्ता) भाषा की परस्पर तुलना करके इनके सम्भाव्य मूल रूपों का अनुमान किया जाता है तथा दूसरे के अनुसार भारत-ईरानी के इन पुनर्गठित रूपों की तुलना भारोपीय परिवार की अन्य भाषाओं के साथ करके इनकी आधारभूत मूल भाषा की विशेषताओं का पता लगाया जाता है।

भाषाशास्त्रियों का अनुमान है कि मूल भारत-ईरानी से पृथक् होकर ऋग्वेद की रचना किये जाने के काल के बीच इन दोनों भाषाओं में पर्याप्त समय का अन्तर रहा होगा। ऋग्वेद में कहीं भी आर्यों के पूर्ववर्ती निवास स्थानों का एवं प्रव्रजन आदि का किसी प्रकार का कोई स्पष्ट संकेत न पाया जाना इस बात का सूचक है कि ऋग्वैदिक आर्य अपने पूर्व निवास स्थान के साथ अपने सम्बन्धों को

भूल चुके थे। इनके अतिरिक्त भाषा तात्विक दृष्टि से भी इन दोनो रूपों के बीच इस काल तक इतने अधिक ध्वन्यात्मक एवं रूपात्मक परिवर्तन आ चुके थे कि इस भाषायी विकास के लिए इन दोनो के बीच बहुत बड़े समय का व्यवधान मानना आवश्यक हो जाता है। वैदिक भाषा के रूप स्पष्टतः इस बात का निर्देश करते हैं कि मूल भाषा से पृथक् होने के बाद, देश और काल के विशाल व्यवधान के कारण इसमे अनेक भाषायी विशेषताएं अपना रूप स्थिर कर चुकी थी। यही बात प्राचीन ईरानी के सम्बन्ध मे भी कही जा सकती है जो कि वैदिक संस्कृत की भांति ही अपनी मूल भाषा से पृथक होकर स्वतन्त्र रूप से अनेक भाषायी विशेषताओं का विकास कर चुकी थी। इस प्रकार देखा जाता है कि ये दोनो भाषाएं एक ही मूल उत्स से प्रस्फुटित होने पर भी दो भिन्न-भिन्न भू भागो मे अपने विकास का एक लम्बा रास्ता तय कर चुकी थी। जिस प्रकार संस्कृत से विकसित भारतीय आर्य भाषाएं आज अपने मूल से सर्वथा भिन्न प्रतीत होती हैं, वही स्थिति इन दोनो मे भी पायी जाती है। किन्तु इतना होने पर भी प्राचीन भारतीय आर्य भाषा तथा प्राचीन ईरानी भाषा का परस्पर इतना निकट सम्बन्ध है कि भारतीय भाषाओं के ऐतिहासिक विकास-क्रम को समझने के लिए इसका तुलनात्मक अध्ययन अत्यन्त आवश्यक समझा जाता है। ऐतिहासिक क्रम मे यह समझा जाता है कि ईरानी तथा संस्कृत का पृथकत्व मूल भारोपीय के भाषायी पृथकत्व के अन्तिम स्तर पर हुआ होगा।

विगत शताब्दी के तुलनात्मक भाषा शास्त्रियों के गहन अनुसन्धानों से अब निःसन्दिग्ध रूप से यह सिद्ध किया जा चुका है कि प्राचीन संस्कृत (वैदिक) तथा प्राचीन ईरानी (अवेस्ता एवं पहलवी) दोनो एक ही मूल से उद्‌भूत दो शाखाएं हैं। इनके अद्‌भुत निकट साम्यके आधार पर उनका अनुमान है कि मूल भारोपीय से पृथक् होने के उपरान्त वैदिक संस्कृत तथा अवेस्तन ईरानी के बोलने वालो के पूर्वज पर्याप्त काल तक एक साथ ही रहे। इस काल मे उनकी भाषा में कुछ ऐसे नवीन तत्त्वों का विकास हुआ जो कि भारोपीय परिवार की अन्य भाषाओ से पृथक् एवं स्वतन्त्र था। इतना ही नही अपितु इनकी सांस्कृतिक शब्दावली की समानताओं के आधार पर यह भी माना जाता है कि ये लोग एक ही समाज के अंग थे।

भारत-ईरानी भाषा के इन दो महत्त्वपूर्ण रूपों के सामान्य परिचय के रूप में इतना बतला देना ही पर्याप्त होगा कि ईरानी का वह प्राचीनतम रूप, जिसकी तुलना ऋग्वैदिक संस्कृत से की जाती है, अवेस्ता एवं प्राचीन फारसी (पहलवी) में पाया जाता है। पारसी धर्म में अनुयायियों के धार्मिक लेखों के संग्रह का ही नाम 'अवेस्ता' है और इसी के नाम पर इस भाषा को भी 'अवेस्ता' कहा जाता है। यह ईरान के पूर्वी प्रदेश की भाषा मानी जाती है। समझा जाता है कि इसका

प्राचीनतम भाग, जिसे 'गाथा' कहा जाता है, स्वयं पारसी धर्म के प्रवर्तक जरथुस्त्र की रचना है। पाश्चात्य विद्वानों के अनुसार जरथुस्त्र का समय 600-800 ई० पूर्व के लगभग माना जाता है। यद्यपि इस लिपि-क्रम के अनुसार इसका समय ऋग्वेद के रचनाकाल से काफी पीछे पड़ता है, किन्तु इसमें कुछ ऐसे आर्ष (archaic) रूप पाये जाते हैं जो कि ऋग्वैदिक काल की भाषा से भी पूर्व के प्रतीत होते हैं। अवेस्ता की टीका की भाषा 'पहलवी' के नाम से पुकारी जाती है तथा यह उसके बाद के काल की भाषा का प्रतिनिधित्व करती है। प्राचीन फारसी के नाम से अभिहित की जाने वाली ईरानी भाषा इस प्रदेश के दक्षिण पश्चिमी भाग की भाषा मानी जाती है। इसमें आधुनिक फारसी की ओर झुकाव पाया जाता है। इसका रूप एकमेनियन राजाओं के क्यूनिफार्म लिपि में अंकित शिलालेखों में पाया जाता है।

ईरान की इन प्राचीन भाषाओं का वैदिक भाषा के साथ इतना अद्भुत साम्य पाया जाता है कि विद्वान् इन दोनों को एक ही मां की दो पुत्रियां कहते हैं। इनका यह सम्बन्ध इतना निकट है कि एक के बिना दूसरे का विश्लेषण पूर्ण ही नहीं हो सकता। रूप-रचना की दृष्टि से दोनों में बहुत कम अन्तर पाया जाता है। ध्वन्यात्मक दृष्टि से भी जो अन्तर इनमें पाया जाता है, वह इतने स्पष्ट रूप में ध्वनिपरिवर्तन के नियमों से नियमित है कि उनके अनुसार यथोचित परिवर्तन किये जाने पर गाथा पद्यों को वैदिक मन्त्रों में परिवर्तन किया जा सकता है। उदाहरण के लिए अवेस्ता के यास्न 10-8 को प्रस्तुत किया जाता है।

यो यथा पुथ्रम् तउरुनम् हओमम् वन्दएता मश्यो।
फ आभ्यो तनुभ्यो हओमो वीसइते बएशजाइ॥

इसका वैदिक रूपान्तरण इस प्रकार किया जाता है—

यो यथा पुत्रम् तरुणम् सोमम् वन्देत मर्त्यः।
प्र आभ्यः तनुभ्य सोमो विशते भेषजाय॥

इसमें केवल अन्तिम शब्द को छोड़कर अन्यत्र केवल ध्वनि-प्रक्रिया मात्र का अन्तर है। किन्हीं दो भाषाओं की निकटता को दिखलाने के लिए इससे अधिक पुष्ट प्रमाण और क्या हो सकता है? इसी प्रकार का एक अन्य उदाहरण देखिए—

हावनीयम् आ रतूम् आ
हओमो उपाइत् जरथुस्त्रम्।
आत्रम् पइरि-यओजदथन्तम्
गाथाश्च श्रावयन्तम्
आदिम् परसत् (जरथुस्त्र) को नर अहि?

यिम् अजम् विस्पेह् अंहउस्
अस्त्वतो श्रएश्तं दादरस ।।

इसका अर्थ है—प्रात. काल सोम जरथुस्त्र के पास आया जो चारो ओर से अग्निवेदी को स्वच्छ कर रहा था और गाथा सुना रहा था, उसने (जरथुस्त्र से) पूछा—'आप कौन मनुष्य है जिन्हें मैं सभी अस्थिधारियो (प्राणियो) में श्रेष्ठ देख रहा हूं।'

इसका वैदिक रूपान्तर होगा—

सवनिम् आ ऋतुम् आ
सोम उपैत् जरथुष्ट्रम्।
अग्नि परि-योम्-दधन्तम्
गाथाश्च श्रावयन्तम्
आ तमपृच्छत् (जरथुष्ट्रः) को नरः असि ?
यम् अहम् विश्वस्य असो.
अस्थिवत. श्रेष्ठम् ददर्श ।।

इन दोनो रूपो में कितना नैकट्य है यह बतलाने की आवश्यकता नही।

इसके अतिरिक्त जिस बात के आधार पर भाषा वैज्ञानिक इन दोनो के निकट सम्पर्क तथा मूल भाषा से पृथक् होकर दीर्घकाल तक इकट्ठे रहने का अनुमान करते हैं, वह है मूल भारोपीय भाषा की ध्वनियों का इन दोनों मे समान विकास। इन दोनों के बीच इतनी अधिक साम्यता को देखकर विद्वानो ने तो यहा तक कह डाला कि वैदिक संस्कृत तथा अवेस्ता की भाषा मे इतना अधिक साम्य है जितना कि वैदिक संस्कृत तथा कालिदास की भाषा में भी नही। इस कथन मे किंचित् अतिशयोक्ति भले ही हो, पर वास्तविकता भी कम नही।

इसमे सन्देह नही कि वैदिक भाषा की तुलना मे प्राचीन ईरानी की भाषायी सामग्री की मात्रा उसके विकास की दिशाओं का सविवरण अध्ययन करने के लिए पर्याप्त नही है, किन्तु वर्तमान युग के नवीन अनुसधानो के फलस्वरूप अब हमारे पास मध्ययुगीन ईरानी की पर्याप्त सामग्री उपलब्ध है। मध्ययुगीन ईरानी अर्थात् पहलवी के अतिरिक्त दो अन्य पूर्वी ईरानी भाषाओ—सोग्दियन तथा शाका—की भी पर्याप्त भाषाई सामग्री उपलब्ध हो गई है जिसका कि विद्वानों के द्वारा अध्ययन एव विश्लेषण किया जा रहा है।

कल्पित भारत-ईरानी के साथ वैदिक संस्कृत तथा प्राचीन ईरानी (अवेस्ता) की तुलना करने पर जो प्रमुख ध्वन्यात्मक परिवर्तन दृष्टिगोचर होते हैं उनमे से कुछ उल्लेखनीय परिवर्तन इस प्रकार हैं। (1) मूल भारत-ईरानी के झ एवं झ (zh) का विकास आर्य भाषा मे ह् के रूप में तथा ईरानी मे ज्, ष़ के रूप मे हो चुका था। (2) संस्कृत में ज् तथा ज् में अभेद किया जाने लगा था, यद्यपि ईरानी में यह भेद

बना रहा। (3) क्+ष् तथा ग्+स् का आर्य भाषा में एक स्वतन्त्र संयुक्त ध्वनि क्ष के रूप में विकास हो चुका था, किन्तु ईरानी में ये ध्वनियां पृथक्-पृथक् ही बनी रहीं। इसी प्रकार प्राचीन ईरानी में ग्ज़् (gzh) ब्ज़् (bzh) जैसे घोष ध्वनि समूहों के स्थान पर क्ष् (ks-) एवं प्स् (ps-) जैसी ध्वनियों का विकास हो चुका था (तुल० अवे० दिवज़) (diwza)=सं० दिप्स। प्रा० ई० ज़् (z) का सभी स्थितियों में लोप हो चुका था, यथा—अवे० मज़्दा: स० मेधा। प्रा०ई० के ब् से पूर्व स्थित ज़् ध्वनि से प्रा० आ० में मूर्धन्य ड् का विकास हो गया था, यथा—नीड. अवे० नीज़्द (nizd)। इस ध्वनि-समूह के तथा अन्य संयोगी परिवर्तनों के कारण प्रा० आ० में उस नवीन मूर्धन्य ध्वनि वर्ग का विकास हुआ जो कि आर्य भाषा वर्ग की असामान्य विशेषता मानी जाती है। सभी अन्य संयुक्त ध्वनियों का सरलीकरण हो गया तथा इसमें केवल प्रथम ध्वनि ही अवशिष्ट रही (तुल० अवे० वाख़्श (vaxs) स० वाक्। महाप्राण ध्वनियों की महाप्राणता अथवा स्पर्श तत्व का ह्रास होने लगा, यथा—पहलवी इधः अवे० इद: स० इह (यहां)। इसी प्रकार मू० भा० ई० संध्यक्षर अइ, अउ का शुद्ध स्वर ए, ओ के रूप में विकास हो गया।

यद्यपि संयुक्त व्यंजनों के सरलीकरण तथा महाप्राण ध्वनियों के स्पर्श तत्व के लोप की वैदिक काल की यह भाषाई प्रवृत्ति साहित्यिक संस्कृत में अवरुद्ध हो गयी थी, किन्तु उसके साथ-साथ विकसित होने वाली लोक भाषाओं में इस प्रवृत्ति का इतना अधिक विकास हुआ कि अन्य संयोगों में ही नहीं वरन् सभी स्थितियों में *संयुक्त व्यंजनों का सरलीकरण तथा महाप्राण ध्वनियों के स्पर्शतत्व का लोप एक* सामान्य भाषाई प्रवृत्ति बन गया।

संस्कृत तथा ईरानी की भाषाई विशेषताएं

भारत-ईरानी शाखा की एकात्मकता तथा भारोपीय भाषा की अन्य भाषाओं में इसकी पृथक्ता का निर्देशन जिन भाषाई आधारों पर किया जाता है, उनमें से कुछ इस प्रकार हैं—

ध्वन्यात्मकता की दृष्टि से इन दोनों में जो विशेषता देखी जाती हैं वे हैं—मूल भारोपीय ध्वनियों *एँ, *ओ तथा *अ का अ अथवा आ के रूप में विकास। इसके विपरीत ग्रीक और लैटिन में ये तीनों ही ध्वनियां सुरक्षित पायी जाती हैं यथा—

मूल भारो०	ग्रीक	लैटिन	संस्कृत	अवेस्ता
* नेभोस	नेफ़ोस्	नेबुला	नभ.	नबो
*ओम्प	ओम्फ़ेओन्	ओम्	अम्बि	अम्न
* अपो	अपो	—	अप:	अप
* एकुओस्	—	एकुउस्	अश्व:	अस्प

ध्वन्यात्मक परिवर्तनों की इस एकरूपता से यह स्पष्ट हो जाता है कि उपर्युक्त तीन मूल भारो० ध्वनियों का इन दोनों भाषाओं में अ के रूपों में विकास ईरानी की उस मूल भाषा में हुआ होगा जिसे कि वैदिक आर्यों एवं ईरानियों के पूर्वज एकत्र प्रयोग में लाते होंगे। इस प्रसंग में यहां पर इतना और भी बता देना आवश्यक है कि उपर्युक्त भाषाओं में परिलक्षित होने वाली ध्वन्यात्मक विकास की इस विभेदकता के सम्बन्ध में प्रारम्भ में यह समझा जाता था कि संस्कृत तथा अवेस्ता ने तो मूल भारो० * अ ध्वनि को सुरक्षित रखा है, किन्तु ग्रीक में इसके तीन विभिन्न रूप (e, o, a) विकसित हो गये थे। पर तुलनात्मक भाषा विज्ञान के क्षेत्र में किये गये बाद के अनुसन्धानों से यह तथ्य सामने आया कि वस्तुतः मूल भारो० में ये तीन स्वर थे जिन्हें ग्रीक ने तो यथामूल सुरक्षित रखा, किन्तु संस्कृत तथा अवेस्ता ने इन्हें अकार के रूप में परिवर्तित कर डाला। इन ध्वनियों को मूल भारो० ध्वनि मानने का आधार यह था कि भारत-ईरानी में, एवं सामान्यतः 'सतम्' वर्ग की सभी भाषाओं में, उस प्रत्येक अकार से पूर्व, जिसका कि ग्रीक एवं लैटिन में एकार हो गया है, भारो० कण्ठ्य ध्वनियों का तालव्य रूप पाया जाता है, यथा ग्रीक—के (<* que), लै०—के (* que), किन्तु सं०-अवे० च। क्योंकि भारत-ईरानी में इस प्रकार का तालव्यीभाव इ अथवा य् से पूर्व में ही पाया जाता है (यथा—सं० ओजीयस् : किन्तु उग्र अवेस्ता-द्रओजिश्तः किन्तु द्रओग (सं० द्राघिष्ट की अतिशय कोटि Superlative degree)। अतः यह मानना आवश्यक है कि तालव्यीभाव करने वाला यह भारत ईरानी अ मूलतः इ-रंजित (i-coloured) रहा होगा; दूसरे शब्दों में यह मूल एकार रहा होगा। इसी से इस मत की स्थापना करना आवश्यक हो गया कि ग्रीक, लैटिन ने उस मूल ध्वनि को सुरक्षित रखा, जबकि संस्कृत-ईरानी ने उसे परिवर्तित कर डाला। फलतः ए को मूल भारो० स्वर स्वीकार किया गया। यही स्थिति ओकार के विषय में भी है, यद्यपि यह इतनी स्पष्ट नहीं जितनी कि एकार की है।

मूल भारोपीय में दुर्बल स्वर (अ्) (ə) अथवा 'श्वा' की कल्पना का आधार भारत-ईरानी की स्वर साम्यता ही है, क्योंकि मूल भारोपीय पूर्ण स्वर अ (a) का भारत-ईरानी में अ ही रहता है, किन्तु अनेक समानान्तर शब्द ऐसे भी हैं जिनमें कि ग्रीक तथा अन्य भारोपीय भाषाओं में अ तथा भारत ईरानी में इ का रूप पाया जाता है, यथा ग्रीक—पतेर (pater) : सं० पितृ (पित्र-)। यदि मूल भारोपीय में केवल एक ही अ (a) स्वर होता तो संस्कृत में इसका विकास*पत् (पतृ) होना चाहिए था। इससे अनुमान किया गया कि यहां पर मूल भारोपीय में यह स्वर अ (a) नहीं, अ् (ə) था। अतः इसका मूल भारोपीय रूप <प्अ्तेर (pəter) माना गया। ऐसे ही मू० भा० *भेरत्रोन्: ग्रीक : फ़ेरेत्रोन् : सं० भरित्रम्।

भारत-ईरानी शाखा की एक अन्य सर्वसामान्य विशेषता, जिसकी ओर भाषा

विज्ञानियों ने संकेत किया है, वह यह है कि इन दोनों ही प्राचीन भाषाओं में भारो० इकार से पूर्व यकार का तथा उकार से पूर्व वकार का लोप हो जाता था। भारोपीय भाषा के इस परिवार की यह एक ऐसी विशेषता है जोकि किसी अन्य भाषा में नहीं पायी जाती। *संस्कृत तथा अवेस्ता की इस विशेषता को संस्कृत के श्रेष्ठ* तथा अवेस्ता के स्रएश्त शब्दों के द्वारा दिखाया जाता है। इसमें ध्वनि लोप के अनुमान का आधार यह है कि ऋग्वेद में श्रेष्ठ शब्द को त्र्यक्षर (Tri-syllabic) माना गया है तथा इसके सादृश्य को व्यक्त करने वाले अन्य शब्द रूपों, यथा—शविष्ठ तथा शूर, दविष्ठ तथा दूर से यह प्रतीत होता है कि इसका मूलरूप श्रय् था। अतः भाषा विज्ञानियों के अनुसार श्रेष्ठ का मूल रूप * श्रयिष्ठ होना चाहिए तभी यह त्र्यक्षर हो सकता था। इसी का विकास बाद में *श्रयिष्ठ>श्रइष्ठ>श्रेष्ठ के रूप में हुआ होगा। इसी प्रकार ऋग्वेद में रेवत् तथा रयिवत् जैसे उभयात्मक रूपों की साथ-साथ उपलब्धि भी उपर्युक्त प्रकार की भाषायी स्थिति का ही अनुमोदन करती है। अवेस्ता में इसके अनुरूपी रएँवत् (Raevat) को देखने से अनुमान होता है कि ऋग्वेद का रेवत् रूप अवेस्ता के रएवत् से भी अधिक प्राचीन है जोकि भारत-ईरानी के *रयिवत्>* रइवत् से विकसित हुआ है तथा इसके द्वितीय रूप रयिवत् में यकार का अन्तर्निवेश बाद में सादृश्य के आधार पर किया गया होगा।

भारत-ईरानी की इसी विशेष ध्वन्यात्मक प्रवृत्ति के आधार पर देखा जा सकता है कि प्राचीन संस्कृत के यकार युक्त क्रिया रूप पदादि में यि के स्थान पर इ से लिखे जाते थे, यथा—ऋग्वेद में यज् धातु का सन्नन्त रूप यियक्षा न होकर इयक्षा के रूप में पाया जाता है तथा अनुमान किया जाता है कि लौकिक संस्कृत में सादृश्य के आधार पर इसमें पुनः यकार जोड़ दिया गया। यकार के पुनर्निवेश की यह प्रवृत्ति ब्राह्मण ग्रन्थों से ही मिलने लगती है, क्योंकि इनमें यम् का सन्नन्त रूप यियंस तथा यम् का यियप्स पाया जाता है, किन्तु प्राचीन वैदिक ध्वन्यात्मक प्रवृत्ति के परिचायक रूप में लौकिक संस्कृत के भी कुछ क्रिया रूपों में यकार के लोप की प्रवृत्ति विद्यमान रही, यथा—यज् का लिट् लकार में इयाज रूप ही प्रचलित रहा।

किन्तु उससे पूर्व व् के लोप के इस प्रकार के उदाहरण उपलब्ध नहीं होते हैं। अवेस्ता में तो ऐसे उदाहरण ही नहीं मिलते जो कि इसकी पुष्टि करते हों तथा संस्कृत में जहां इस प्रकार के उदाहरण मिलते भी हैं वहां पर जो स्वर उ है वह मूल भारो० का नहीं है। सच तो यह है कि मूल भारो० में व+उ जैसा ध्वनि संयोग कठिनता से ही बन सकता है। अतः संस्कृत में जहां कहीं भी उ से पूर्व व् के लोप की स्थिति पायी जाती है, वहां पर वह मूल भारोपीय की र् की ध्वनि के स्वरीभूत ऋ ध्वनि में विकसित उर् के कारण है, यथा—सं० उरु (भद्र), दीर्घ वरेत् <*मू० भारो० वुरेत् (*wreu*) से तथा सं० ऊर्मि (लहर) : प्रा० उर्व

जर्मन वल्म का विकास मूल भारो० *वृम (wrma) से माना जा सकता है। वकार लोप की यह विशेषता केवल संस्कृत में ही देखी जाती है, क्योंकि अवेस्ता में ऐसी स्थिति में वकार बराबर बना रहता है, यथा—स० उरस्: अवे० वरो: स० ऊर्णा : अवे० वर्अन्(waren) इसके अतिरिक्त संस्कृत में यद्यपि √वच्-तथा √वस्-धातुओं के लिट् लकार में क्रमश उवाच तथा उवास रूप तो मिलते हैं, किन्तु इनमे वकार लोप की स्थिति ही नहीं बनती है—कारण कि यहां पर व का उ होना भारतीय मूल का विकास है, मूल भारोपीय का नहीं। मूल भारोपीय मे तो इन द्वित्वीकृत रूपो मे *वु नहीं, व था जैसा कि अवेस्ता के अनुरूपी शब्द रूप ववस (wawas) मे देखा जा सकता है। इसीलिए अवेस्ता मे संस्कृत के पदादि उ वाले रूपों—परोक्ष भूत के शब्द रूपो, मे इसका अभाव पाया जाता है।

इसी प्रकार भारो० की मूल *स् ध्वनि का संस्कृत तथा अवेस्ता दोनो मे ही परिवर्तन हो जाता है। भाषाशास्त्रियो का विचार है कि ई, उ, र तथा कठ्य ध्वनियों के बाद आने वाले मूल भारोपीय स् का भारत ईरानी काल से पूर्व ही श् हो चुका था। अवेस्ता मे तो यह परिवर्तन इसी प्रकार इसी रूप में बना रहा, पर संस्कृत में पुनः इसका विकास ष् के रूप मे हो गया। संस्कृत मे भी इ, उ, ए, ओ के बाद तो यह मूर्धन्यीकरण देखा जाता है पर अ, आ के बाद नहीं, यथा—सप्तमी ब० व० विभक्ति प्रत्यय सु (जिसे कि मूल भारो० *सु माना गया है) का कविषु, भानुषु आदि रूपों मे तो षु हो जाता है पर रामसु या रमासु जैसे रूपों मे नहीं होता। अवेस्ता मे यह अपने प्रथम परिवर्तन के रूप मे ही पाया जाता है, यथा अवे० बूमिशु (स० भूमिषु) : अवे० गोउरुशु (सं० गुरुषु), मू० भा० *स्थिस्थामि = स० तिष्ठामि: अवे० हिश्तइति; मूल भा० *जिउस्तर=ज्येष्ठा=जओशा। इसी प्रकार र तथा कण्ठ्य ध्वनियो के बाद भी संस्कृत मे इसका मूर्धन्य रूप तथा अवेस्ता मे तालव्य रूप पाया जाता है, यथा स० तृष्णा : अवे० तर्श्नो, सं० उक्षित : अवे० उख्शेइति। ध्वनि परिवर्तन की दिशा मे एक द्रष्टव्य बात यह भी है कि मूल भारोपीय र् (ऋ) तथा ल् (ऌ) ध्वनियो को ग्रीक-लैटिन मे तो सुरक्षित पाया गया है किन्तु संस्कृत तथा अवेस्ता मे इनमे अभेद की स्थिति पायी गयी है जिसे रलयोरभेद' के रूप मे स्वीकार किया गया है।

मूल भारो०	ग्रीक	लै०	सं०	अवे०
*उल्कुओस	लुकोम्	लुपुए	वृक.	वह्रको
*रुच	ओरस्सो	लुनकारे	लुच्	—

रूप रचना के क्षेत्र में भारत-ईरानी की एक सर्वसामान्य नवीन उद्भावना यह है कि संस्कृत तथा अवेस्ता दोनों मे ही, विशेषकर ई, उ मूलक धातुओं मे वर्तमान काल मे द्वित्वीकरण के लिए उ स्वर का तथा परोक्ष भूत में इ या उ स्वर का प्रयोग किया जाता है।

आम तौर पर यह समझा जाता है कि यह द्वित्व किया जाने वाला स्वर मूल रूप में वर्तमान काल में इ तथा परोक्ष भूत में ए था जो कि बाद में भारत-ईरानी में अ के रूप में विकसित हो गया था। भारोपीय की किसी भी भाषा में वर्तमान तथा परोक्ष भूत का यह भेद स्थिर नहीं रहा तथा भारत-ईरानी में भी यह व्यवस्थित रूप में नहीं पाया जाता। किन्तु इस प्रसंग में विशेष ध्यान देने योग्य *बात यह है कि संस्कृत तथा अवेस्ता दोनों में ही यह विकृति एक समान पायी जाती* है। इन दोनों में ही इ अब भी वर्तमान में द्वित्व किया जाने वाला प्रधान स्वर है, यथा—सं० तिष्ठति अवे० हिश्तइन्ति (ग्रीक-हिस्तेमि) सं० सिषक्ति : अवे० हिशस्ति, किन्तु वर्तमान के द्वित्व पर परोक्ष भूत के ए वाले रूपों का प्रभाव भारत-ईरानी काल में ही स्पष्ट रूप से दिखाई देने लगता है। तुल० सं० ददाति : अवे० *दददाति तथा इनका ग्रीक अनुरूपी रूप मिलता है—दिदोति, जिसमें कि द्वित्वीकृत* अक्षर में मूल इ स्पष्ट रूप से दिखाई देता है। अतः अनुमान किया जाता है कि इसका मूल भारोपीय रूप *दिदोति ही रहा होगा *देदोति नहीं। यद्यपि अनेक अपवादों एवं मिथ्या सादृश्यों पर बने हुए रूपों के कारण परोक्ष भूत के रूपों की स्थिति इतनी स्पष्ट नहीं जितनी कि वर्तमान के रूपों में देखी जाती है।

इसी प्रकार हम देखते हैं कि इन दोनों ही भाषाओं में धातु के कर्मवाच्य रूप के सामान्य भूत में इ पायी जाती है जो कि भारोपीय परिवार की और किसी भाषा में नहीं पायी जाती। उदाहरणार्थ, सं० अवाचि : अवे० अवाचि। इसकी एक अन्य उल्लेखनीय विशेषता यह भी है कि दोनों में ही इसकी उपलब्धि कर्मवाच्य के अन्य पुरुषीय प्रयोगों में पायी जाती है।

रूप रचना की दृष्टि से इन दोनों भाषाओं की एक अन्यतम समानता है लोट् लकार के मध्यम पुरुषीय रूपों की समानता, यथा—सं० भरतु (ए० व०), भरन्तु (ब० व०) अवे० बरतु (ए० व०), बरन्तु (ब० व०)। इसी प्रकार इन दोनों में ही लोट् लकार उत्तम पुरुष एकवचन में -आ तथा -आनि दोनों ही वैकल्पिक रूपों का प्रयोग देखा जाता है, यथा—भवा~भवानि (वैदिक)। यद्यपि साहित्यिक संस्कृत *में केवल आनि वाले रूप का ही प्रयोग होता है, किन्तु वैदिक संस्कृति में ये दोनों* ही रूप प्रचलित थे।

संज्ञा रूपों की रचना में भी संस्कृत तथा अवेस्ता दोनों में ही कुछ ऐसे रूपों *का समान रूप से विकास देखा जाता है जो कि भारोपीय परिवार की किसी अन्य* भाषा में नहीं पाया जाता है। उदाहरणार्थ, दोनों में ही षष्ठी बहुवचन के विभक्ति चिह्न के रूप में आ (नाम्~अ) नम्~आम् का प्रयोग पाया जाता है। मूल भारोपीय में इसका रूप * ओम् था तथा यही सभी प्रकार के शब्दों के साथ प्रयुक्त होता था। संस्कृत में इसके दो उपरूप (allomorph)—आम्~नाम् विकसित हो गये थे। जिनमें से आम् का प्रयोग हलन्त् शब्दों के साथ तथा नाम् का

अजन्तों के साथ होता था—जगत्>जगताम्, देव>देवानाम्, कवि>कवीनाम्, भानु>भानूनाम् इत्यादि, यद्यपि वेद मे एक स्थान पर देवानां के बजाय देवां (देवां जन्म) रूप भी पाया जाता है। यद्यपि अवेस्ता में भी (केवल एक स्थान पर) आनम् वाला रूप पाया जाता है यथा, मश्यानम् : सं० मर्त्यानाम्, किन्तु अन्य स्थानों पर अनम् वाले रूप ही पाये जाते हैं। फिर भी अकारान्त शब्दो के साथ प्रयुक्त होने वाला यह आनम्~अनम् रूपिम भारत-ईरानी की एक अन्यतम सर्वसाधारण विशेषता है। इसके अतिरिक्त अनम् वाले रूपिम के विषय मे भी सोचा जाता है कि यह रूप सम्भवत लिपि दोष के कारण ही अनम् लिखा गया हो, क्योंकि प्राचीन फारसी में इसका रूप आनम् ही पाया जाता है न कि अनम्। इस प्रसग मे यह भी स्मरणीय है कि इसी काल मे दोनो ही भाषाओं ने अकारान्त शब्द रूपो के सादृश्य पर इकारान्त, उकारान्त शब्दो मे भी आम् के स्थान पर नाम् का प्रयोग शुरू कर दिया था, यथा म० गिरीणाम्: अवे० गइरिनम्, स० वसूनाम्: अवे० वोहुनम्। किन्तु अवेस्ता की अपेक्षा इस सादृश्यानुकरण मे सस्कृत बहुत आगे निकल गयी। क्योंकि इकारान्त, उकारान्त रूपों मे अवेस्ता मे सामान्यतया प्राचीन रूप—आम्~अम् प्रचलित रहे, किन्तु सस्कृत ने सर्वत्र ही नाम् का प्रयोग प्रारम्भ कर दिया, यद्यपि एकारान्त, ओकारान्त रूपों में-आम् ही चलता रहा, यथा-रै> रायाम्, गो>गवाम्, नौ>नावाम् इत्यादि।

आकारान्त स्त्रीलिंग शब्दों के अनेक रूपो में भी इन दोनों ही भाषाओ मे ऐसी असामान्य एकरूपता पायी जाती है जो कि भारोपीय परिवार की किसी अन्य भाषा में नही पायी जाती। इस प्रकार की एकरूपता विशेषकर तृतीया, चतुर्थी, पचमी, षष्ठी, सप्तमी तथा सम्बोधन के एकवचन मे पायी जाती है।

आकारान्त स्त्रीलिंग शब्दो के सम्बोधन के एकवचन में एकारान्त रूपो का विकास भी इन दोनो भाषाओं की एक असामान्य विशेषता है यथा—सं० सरभे! रमे! अवे० रजिश्ते! (स० * रजिष्टे)। अन्य भारोपीय भाषाओं मे इस प्रकार के आकारान्त स्त्रीलिंग शब्दो का सम्बोधन एकवचन में आकारान्त रूप ही पाया जाता है। यद्यपि सम्बोधन के इस प्रकार के विकास का क्रम स्पष्ट नही, किन्तु सस्कृत तथा अवेस्ता मे इसका समान रूप में विकास अवश्य ही ऐतिहासिक महत्त्व रखता है। यहां पर यह भी स्मरणीय है कि अवेस्ता मे एकारान्त के अतिरिक्त आकारान्त रूप भी पाया जाता है। यथा—पोउरुशिश्ता।

इसी प्रकार इकारान्त शब्दो के सप्तमी एकवचन मे पाये जाने वाले-औ विभक्त्यन्त रूप भी दोनो ही भाषाओं में विशेष रूप से पाये जाते है, यद्यपि अवेस्ता मे यह रूप औ के रूप में नही, अपितु आ के रूप मे देखा जाता है। समझा

जाता है कि संस्कृत में इकारान्त शब्दों—कवि, हरि आदि के कवौ, हरौ आदि रूपों का विकास उकारान्त शब्दों के भानौ आदि रूपों के सादृश्य पर हुआ होगा।

साहित्यिक संस्कृत में सामान्यतया इकारान्त शब्दों में तृतीया एकवचन में आ (-या) अथवा -ना विभक्ति चिह्नों का ही प्रयोग होता है यथा—मति+आ> मत्या, कवि+ना> कविना। किन्तु इनके अतिरिक्त वैदिक संस्कृत में ई विभक्त्यन्त रूप भी पाये जाते हैं, यथा अचित्ती, जो कि अवेस्ता की तृतीया एकवचन की सर्वसामान्य रूप-रचना के साथ पूरी तरह साम्य रखते हैं। कहा जाता है कि अवेस्ता में केवल एक रूप *हख्या (=स० सख्या)* को छोड़कर शेष सभी इकारान्त शब्दों के तृ० ए० व० के रूप -ई विभक्ति प्रत्यय में ही बनते हैं यथा—अशी, चिश्ती आदि।

इसी प्रकार अवेस्ता में उकारान्त शब्दों में से तृतीया एकवचन में एक रूप ऐसा मिलता है जो कि वैदिक संस्कृत की रूप रचना में पूरी तरह साम्य रखता है यथा—ख्र्वा तुल० स० क्रत्वा (वैदिक), क्रतुना (लौकिक) यद्यपि अन्यत्र ऊ विभक्त्यन्त रूप ही मिलते हैं।

रूपरचना सम्बन्धी इन विशेषताओं के अतिरिक्त शब्द भण्डार की दृष्टि से भी संस्कृत तथा अवेस्ता में अद्भुत साम्य एवं नैकट्य पाया जाता है, यथा स० हिरण्य : अवे० ज़रन्य "सुवर्ण, स० सेना : अवे० हएना : प्राचीन फारसी हइना 'सेना'; स० ऋष्टि : अवे०, प्रा० फा० अर्शित 'भाला,' स० क्षत्र : अवे० खश्र 'साम्राज्य,' स० असुर : अवे० अहुर 'प्रभु, स० यत्न : अवे० यस्न 'यत्न'; स० होतर : अवे० ज़ओतर होता, यज्ञ कराने वाला, स० सोम : अवे० ह्‌ओम' सोम रस; स० अथर्वन् 'पुरोहितों का एक वर्ग' अवे० अथ्रउर्वन्~आथ्रवन् 'अग्निपूजक पुरोहित,' स० अर्यमन् : अवे० अइर्यमन् 'धार्मिक परिषद् के सदस्य, स० इन्द्र : अवे० इन्द्र; स० मित्र अवे० मिथ्र 'देव विशेष,' स० वज्र 'इन्द्र का अस्त्र' वज़् 'गदा,' स० वराह 'सुअर' वराज़् 'वही,' स० सुरा : अवे० हुरा 'मादक पेय;' स० सेतु : अवे० हएतु 'पुल', स० सर्ज<सृज् : अवे० हरज् 'त्यागना, स० अश्वा : अवे० अस्पा 'घोड़ा'; स० 'यम : विवस्वन्त का पुत्र.' अवे० यिम 'विवह्वन्त का पुत्र, 'स०-अवे० अपानपात् 'जल देवता का पौत्र, स०-अवे० पशु 'पशु', स०-अवे० वायु 'वायु'।

ऊपर दिखाया ही जा चुका है कि किस प्रकार गाथा के पद्यों का वैदिक मंत्रों में ध्वन्यन्तरण किया जा सकता है। अवेस्ता तथा संस्कृत के बीच परस्पर नियमित रूप से परिवर्तित होने वाले कुछ प्रमुख ध्वनि नियमों को निम्नलिखित रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है—

1. संस्कृत की अघोष महाप्राण ध्वनियां (ख, थ, फ) अवेस्ता में सोष्म महाप्राण (ख़, थ, फ़) ध्वनियों में परिवर्तित हो गयीं।

ख→ख़:—सखा—हख़ा 'मित्र'

←थ→थ: यथा—यथा 'जैसे', रथ=रथ 'रथ', गाथा=गाथा 'गान', अथ=अथ फ→फ→यथा कफ़म्—'कफ'।

2 संस्कृत की घोष महाप्राण स्पर्श ध्वनियां इसमें संघर्षी ध्वनियों के रूप में मिलती हैं : यज्ञ=ख़ु 'यज्ञ', मित्र=मिथ्र, सप्त=हप्त, स्वप्न=ह्वफ़्न्, सत्यम्=हय्थम् कुम्भ=ख़ुम्ब, युक्त=युख़्त, मंत्र=मथ्रो, शुक्र=थुक्र, प्र=फ्र, पुत्रः पुथ्रो, अरतिं=अरथ्न्, त्वां=थ्वां, त्राता थ्रांता,

3 संस्कृत की घोष महाप्राण ध्वनियां (घ, ध, भ) अवेस्ता में घोष अल्पप्राण ध्वनियों (ग, द, ब) के रूप में पायी जाती हैं।

घ→ग : घर्म=गरमो 'धूप', दीर्घम्=दिरेगम्, जंघा=जंगा।

ध→द धेनु→दएनु 'गाय', अध्वानम्→अद्वानम्, धारयत्→दारयत्, अधात्→अदा।

भ→ब भूमि→बूमि 'धरती', भरतु→बरतु 'धारण' करें,' भरति→बरइति, भ्राता→ब्राता।

कभी-कभी भ, घ, छ, की अनुरूपी ध्वनि फ़, ज़, ज, भी पायी जाती है, उदाहरणार्थ गृभ्=घिफ़्त 'पकड़ना', गोमेध=गोमेज़ 'खेती', छंद=जंद 'छंद' इत्यादि।

4 इसी प्रकार संस्कृत की सोष्म ध्वनियों—स, श, ह—का अवेस्ता में निम्नलिखित ध्वन्यात्मक परिवर्तन पाया जाता है।

(1) पदादि स→ह—सखा=हख़ा 'मित्र', सप्त=हप्त 'सात', सुरा=हुरा, सेना=ह् एना=हेना, सेतु=ह् एतु(=हेतु) 'पुल', सोम=होम। कभी-कभी मध्य में भी यह परिवर्तन देखा जाता है, यथा असुर=अहुर, भरसि=बरहि, अस्मि=अह् मि, नासम्=नाहम् 'नाक', अस्मत्=अहमत्।

(2) ह→ज, हस्त=ज़स्तो 'हाथ'; हिरण्य=ज़रन्य 'सुवर्ण'; बाहु=बाज़ू ('बाहु'), अहि=अजि 'सर्प'; हन्ति='जइन्ति' मारता है, वराह=वराज़ 'सुअर, अहम्=अज़म् 'मैं, होता=ज़ओता 'होता'।

(3) पदादि श→स—शतम्→सतम् 'सौ', :शरत् (द्)सर्अद् 'शीतकाल'; शूर=सूर 'वीर'।

(4) क्ष→श : क्षिति=शिति, तक्षन्=तशन्, ऋक्ष=अरश, राक्षस=राशो आदि।

5. संस्कृत स्पर्श ज का अवेस्ता में संघर्षी रूप ज़ पाया जाता है यथा—अजा=अज़ा "जानु=ज़ानु 'घुटना'।

6 संस्कृत श्व का अवेस्ता में स्प के रूप में परिवर्तन देखा जाता है, यथा—विश्व→विस्पो 'जगत्', अश्व→अस्पो 'घोड़ा'।

7 संस्कृत ऋ→अवे॰ अर् : कृणोति=करनओति, मृत्यु=मरध्युस्, पृष्ठ=परीम् ।

8 स्वरागम—शब्दादि र से पूर्व इ या अ स्वर का आगम भी पाया जाता है, यथा रिणक्ति=इरिनख्ति, रिष्यति=इरिष्येइति, तथा च अरवेभ्यो=अरपएइब्यो, रजत=अरजत ।

9. अपिनिहिति—अवेस्ता मे पदान्त स्वर की अपिनिहिति भी सामान्यतः पायी जाती है—यथा भवति=बवइति, भरति=बरइति, रिष्यति=इरिष्येइति, गिरि =गइरि ।

10 ध्वनियों की दृष्टि से इन दोनों भाषाओं में पाया जाने वाला एक प्रमुख अन्तर यह है कि अवेस्ता मे ट वर्गीय स्पर्शों, कण्ठ्य नासिक्य (ङ) तथा पार्श्विक ल् का सर्वथा अभाव है । तालव्य वर्ग में भी केवल च, ज ही मिलते हैं ।

11. कहीं-कहीं अनियमित रूप में स्वरों की मात्राओं का अन्तर भी दृष्टि-गोचर होता है यथा—ऋतुम्=रितुम्, अथ=अथा आदि ।

उपर्युक्त सभी सरचनात्मक एवं ध्वन्यात्मक प्रवृत्तियां इस बात की स्पष्ट निर्देशक हैं कि संस्कृत तथा अवेस्ता के बीच अति घनिष्ठ सम्बन्ध रहा है । इन दोनों में पाया जाने वाला यह सम्बन्ध ऐसा ही है जैसा कि दो सहोदर बहिनों में पाया जाता है । जैसा कि पहले भी संकेत किया जा चुका है कि इस पारस्परिक तुलना का आधार इन दोनों भाषाओं के उस प्राचीन रूप से है जिसमें कि इनकी विभाषाएं भी सम्मिलित हैं । ऋग्वेद के समान ही गाथा साहित्य भी एक ही व्यक्ति अथवा एक ही काल की रचना नहीं है । इनमें तत्कालीन विभाषीय ध्वन्यात्मक विशेषताएं भी अवश्य रही होंगी जो कि अब मूल रूप से सुरक्षित नहीं रह सकी हैं । हम देखते हैं कि अवेस्ता की प्राचीन गाथाओं में जो आर्ष प्रयोग एवं ध्वन्यात्मक तथा रूपरचनात्मक अनेकानेक विशेषताएं पायी जाती हैं वे मध्यकालीन ईरानी में नहीं पायी जाती । यही स्थिति वैदिक संस्कृत तथा साहित्यिक संस्कृत में पायी जाती है ।

संस्कृत तथा अवेस्ता के इस तुलनात्मक विश्लेषण से यह स्पष्ट है कि संस्कृत के ऐतिहासिक अध्ययन के लिए अवेस्ता के अध्ययन का विशेष महत्त्व है । इस प्रकार के अध्ययन से निश्चित ही अनेक ध्वन्यात्मक विकास के सिद्धान्तों एवं बिन्दुओं पर महत्त्वपूर्ण प्रकाश पड़ता है । इसके प्रकाश में वैदिक संस्कृत में पाये जाने वाले अनेक शब्द रूपों एवं प्रयोगों की अव्याख्येय गुत्थियों को सुलझाया जा सकता है जो कि हमें संकेत देता है कि संस्कृत की √ब्रू धातु का प्राचीन भारत-ईरानी रूप √म्रू था । इससे व्युत्पन्न अवेस्ता का म्रव् इसका स्पष्ट प्रमाण है । इसी प्रकार के और भी अनेक रूप हैं जो कि संस्कृत ध्वनियों के विकास पर सर्वथा नवीन प्रकाश डाल सकते हैं ।

4

संस्कृत का क्रमिक विकास

भारतीयों के लिए तो 'सस्कृत' एक ऐसा महत्त्वपूर्ण शब्द है जिसके बिना इस देश के सास्कृतिक एव भाषायी इतिहास की कल्पना भी नही जा सकती। इसी के उपादानो से तो इस देश की सस्कृति एव भाषाओ का विकास हुआ है। इतना ही नही, अपितु इस महाद्वीप की विभिन्न भाषाओं एवं संस्कृतियो के उपादानो का समीकरण करते रहने के कारण यह उन सभी भाषाओ एवं संस्कृतियों का प्रतिनिधित्व करती है जो इसके इस प्रदेश मे पहुचने से पूर्व यहा विद्यमान थी तथा जो बाद में भी समय-समय पर यहा आकर स्थिर होती रही। संस्कृत मे अपने अतीत से ही विभिन्न विजातीय तत्त्वो को आत्मसात्' करने की अद्भुत शक्ति थी, जिसके फलस्वरूप वह अपने भारत प्रवेश के बाद भी इस उपमहाद्वीप की अन्य किरात, द्रविड़, निषाद आदि पुरातन जातियों की भाषाओ और संस्कृतियों मे उपलब्ध तत्त्वो का निरंतर समीकरण करती रही है।

भाषायी इतिहास की दृष्टि मे सस्कृत का इतिहास बहुत प्राचीन तथा इसकी ऐतिहासिक परम्परा विश्व की सभी भाषाओ से अधिक दीर्घकालीन है। अपने वैदिक काल के स्वरूप को प्राप्त् करने मे पूर्व यह भाषा अपने इतिहास का एक

लम्बा रास्ता पार कर चुकी थी। इसका वह वैदिक कालीन रूप सैकड़ों वर्षों के निरन्तर, किन्तु शनैः-शनैः होने वाले विविध प्रकार के सम्मिश्रणों एवं परिवर्तनों का परिणाम था। अनुसंधान के पश्चगामी क्रम से खोज करने पर पता चलता है कि संस्कृत की विकास परम्परा का यह इतिहास सैकड़ों नहीं अपितु हजारों वर्ष पुराना है। स्वयं भारतवर्ष में हमें इसका लगभग 3500 वर्ष पुराना इतिहास अपने अविच्छिन्न रूप में प्राप्त होता है। इसके अतिरिक्त भारत-ईरानी मूल के रूप में इससे पूर्व का लगभग 1000 वर्ष का इतिहास भी इस रूप में उपलब्ध हो जाता है कि उसके प्रकाश में हम इसके वैदिक पूर्वकालीन रूप की झांकी स्पष्टतः पा सकते हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि हमारे समक्ष इसका 4500 वर्षों का इतिहास लगभग अपने क्रमबद्ध विकास के रूप में आ जाता है, पर भाषाशास्त्रीय दृष्टि से संस्कृत का वास्तविक इतिहास इससे भी बहुत पुराना है। भाषातत्त्व-विदों की सूक्ष्मेक्षिका ने इसके उस मूल रूप तक को देख लिया है जो आज से हजारों वर्ष पूर्व इस उप-महाद्वीप से हजारों मील की दूरी पर प्रचलित रहा होगा। इसकी ऐतिहासिक खोजों तथा इसके मूल रूपों के पुनर्गठन की पद्धतियों पर हम आगामी पृष्ठों में विचार करेंगे। इनके प्रकाश में हम देख सकेंगे कि संस्कृत भाषा का इतिहास कितना प्राचीन है तथा इसके साहित्यिक (Classical) रूप का विकास किन-किन स्तरों को पार करने के बाद हुआ है।

सामान्यतः 'संस्कृत' का अभिप्राय उस पूर्ण विकसित भाषायी रूप से है जो संस्कृत साहित्य के सृजन के लिए पाणिनि तथा उनके बाद के युग में इस देश में प्रयुक्त होता रहा है, किन्तु इसके भाषायी इतिहास को समझने तथा इसके विकास क्रम को देखने के लिए इसका प्रयोग उस विस्तृत अर्थ में किया जाता है जिसके अन्तर्गत इसके पूर्ववर्ती रूपों, विशेषकर वैदिक संस्कृत का भी समावेश हो जाता है। प्रस्तुत ग्रन्थ में संस्कृत शब्द का प्रयोग इसी विस्तृत अर्थ में किया जा रहा है।

संस्कृत भाषा के मूल रूप की उत्पत्ति एशिया या यूरोप, चाहे जहां भी हुई हो, किन्तु 'संस्कृत' शब्द से जिस भाषा का बोध होता है उसका विकास भारत की इसी भूमि में हुआ है। प्राचीन वैदिक साहित्य में भाषा की दृष्टि से मध्य-देशीय भाषा को बड़ा महत्त्व दिया गया है। *शतपथ-ब्राह्मण में कुरु-पांचाल प्रदेश की* भाषा को आदर्श भाषा के रूप में स्वीकार किया गया है।[1] इसी प्रकार कौषीतकी ब्राह्मण में भी एक स्थान पर कहा गया है कि जो भाषा सीखना चाहता है उसे उत्तर की ओर जाना चाहिए या फिर जो उस दिशा से आता हो, उससे उसे

1. तस्मात् अत्रोत्तरा हि वाग् वदति कुरु पांचाला'''। शत० ब्रा० 3.2.3.12

भाषा सीखनी चाहिए।[1] भाषा-विषयक इन प्राचीनतम उल्लेखों के आधार पर कहा जा सकता है कि संस्कृत भाषा के विकास का प्रारम्भिक भारतीय केन्द्र मध्य-देश अर्थात् आर्यावर्त प्रदेश था। केन्द्र प्रदेश की भाषा होने के कारण इसने मानक-भाषा का रूप ग्रहण कर लिया तथा साहित्य एवं विज्ञान की माध्यम बनकर महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त कर लिया। इसीलिए प्राचीन भारत में धार्मिक ग्रन्थों के अतिरिक्त गणित, राजनीति, ज्योतिष, अर्थशास्त्र, कामशास्त्र, दर्शन, शिल्प, रसायन आदि सभी विषयों का प्रणयन भी इसी भाषा के माध्यम से होने लगा। संस्कृत ही उस काल की शिष्ट भाषा थी।

यद्यपि आधुनिक भाषावैज्ञानिक अनुसंधानों के आधार पर संस्कृत का उद्‌गम भारोपीय मूल स्रोत से सिद्ध किया जा चुका है, किन्तु इससे पूर्व भारतीय परम्परा में इसका उद्‌गम वैदिक भाषा से ही माना जाता रहा है।[2] स्वयं ऋग्वेद में और 'काव्यादर्श' में इसे 'दैवी वाग्' कहा गया है।[3] भाषा के अर्थ में 'संस्कृत' शब्द का प्रयोग सर्वप्रथम वाल्मीकि रामायण में पाया जाता है।[4]

भारत में आर्य-भाषा की जननी के रूप में संस्कृत का प्राचीनतम रूप हमें ऋग्वेद में देखने को मिलता है। वैदिक साहित्य के उत्तरवर्ती रूपों में हमें इसके शनैः-शनैः विकसित होते हुए रूपों के दर्शन होते हैं तथा हम देखते हैं कि निरुक्तकार यास्क के समय तक आते-आते इसका यह वैदिक रूप काफी बदल चुका था। इसके बाद हम देखते हैं कि आचार्य पाणिनि के समय में वैदिक एवं लौकिक भाषा में इतना अन्तर आ चुका था कि इन्हें दो पृथक्-पृथक् नामों से पुकारा जाने लगा था। स्वयं पाणिनि ही 'छंदस्' (वैदिक) एवं 'भाषा' (लौकिक) के रूप में इन दोनों की संरचना के अन्तर का स्पष्ट निर्देश करते हैं। कात्यायन और पतंजलि के समय तक तो दोनों में भेद और भी अधिक बढ़ गया था। हम देखते हैं कि महाभाष्य के प्रारम्भ में ही 'अथ शब्दानुशासनम्' पर लिखते हुए उन्हें '**केषां शब्दानाम्? लौकिकानां वैदिकानां च**' कह कर दोनों का स्पष्ट रूप से पृथक्-पृथक् निर्देश करना पड़ा था। वैदिक तथा लौकिक दोनों भाषाओं की तुलना करने पर देखा जाता है कि इन

3. तस्मात् उदीच्यां प्रज्ञाततरा वाक् उद्यते। उदञ्च उ एव यन्ति वाचं शिक्षितुम्। यो वा तत आगच्छति तस्य वा शुश्रूषन्त।

कौ० ब्रा० 7.6

3. अनादि निधना नित्या वागुत्सृष्टा स्वयम्भुवा।
आदौ वेदमयी दिव्या यतः सर्वाः प्रवृत्तयः॥ महा० शान्ति० 231.56

4. 1. देवीं वाचमजनयन्त देवास्तां विश्वरूपाः पशवो वदन्ति। ऋग्० 8.100.11
2. संस्कृतं नाम दैवी वागन्वाख्याता महर्षिभिः। काव्यादर्श, 1.33

5. द्रष्ट०, वाल्मीकि रामायण, सुन्दरकाण्ड, 30.17
हनुमान्—वाचं चोदाहरिष्यामि मानुषीमिह संस्कृताम्।

दोनों में ही ध्वनि-प्रक्रिया, रूप-रचना, वाक्य-रचना एवं शब्दार्थों की दृष्टि से पर्याप्त अन्तर आ चुका था।

संस्कृत के भाषाई इतिहास को देखने से पता चलता है कि पाणिनि के बाद भी इसमें प्राकृत एवं द्रविड भाषाओं के अनेक तत्त्वों का सम्मिश्रण होता रहा। इसीलिए आचार्य कात्यायन को संस्कृत में आगत इन नये शब्दों एवं प्रयोगों की सिद्धि के लिए पाणिनि के सूत्रों पर वार्तिक लिखकर उन्हें प्रामाणिकता प्रदान करनी पड़ी, पर ज्यों-ज्यों समय बीतता गया, शुद्धतावादियों के कारण संस्कृत की ग्रहणशक्ति का ह्रास होता गया और गुप्तकाल में आकर इसका रूप लगभग स्थिर हो गया।

ऐतिहासिक विकास की दृष्टि से भारतीय आर्य भाषाओं के विकास का *अध्ययन तीन चरणों में किया जाता है। प्रथम प्राचीन भारतीय आर्य भाषा* (प्रा० भा० आ०) काल, जिसकी पूर्व सीमा ऋग्वेद तथा अपर सीमा पाणिनि, पतंजलि द्वारा व्याख्यात एवं मानकीकृत रूप है। इसके दो रूप हैं एक वैदिक तथा दूसरा लौकिक। दूसरे चरण का प्रारम्भ भगवान् बुद्ध के द्वारा अपने प्रवचनों के लिए अपनायी गयी पाली से लेकर उन विभिन्न प्राकृतों तक है जिनका उपयोग जैनों और बौद्धों ने धार्मिक साहित्य के लिए एवं अन्य प्रकार की साहित्यिक रचनाओं के लिए किया तथा जिन्हें कई शिलालेखों व सिक्कों में भी अंकित पाया *जाता है। सामान्यतः इसे प्राकृत-काल कहा जाता है तथा इसे तीन कालों* में विभक्त किया जाता है अर्थात् 1. प्रथम प्राकृत (500 ई० पू० से लेकर ईस्वी सन् के प्रारम्भ तक) जिसमें पाली तथा अशोक के शिलालेखों का समावेश किया किया जाता है, 2 द्वितीय प्राकृतकाल (ईस्वी सन् के प्रारम्भ से 500 ई० तक) *जिसमें महाराष्ट्री, शौरसेनी, आदि प्राकृतों के साहित्य का समावेश किया जाता है,* एवं 3 तृतीय प्राकृत काल (500 ई० से 1000 ई० तक) जिसे अपभ्रंश काल भी कहा जाता है। प्राकृतों के सम्बन्ध में हेमचन्द्र जैसे कुछ लेखकों का कथन है कि *इनका विकास संस्कृत से हुआ है—प्रकृतिः संस्कृतम्, तत्र भवं ततः आगतं वा प्राकृतम्* तथा कुछ अन्य लोग प्रकृत्या स्वभावेन सिद्धम् प्राकृतम् की निरुक्ति के अनुसार इसे भाषा का स्वतन्त्र विकास मानते हैं। हमें प्रथम की अपेक्षा द्वितीय व्युत्पत्ति अधिक सार्थक लगती है। इसके बाद भा० आ० भा० का तृतीय काल प्रारम्भ होता है जिसे आधुनिक भारतीय आर्यभाषा काल कहा जाता है। भारत की सभी आर्य-भाषाओं का विकास तत् तत् क्षेत्रीय अपभ्रंशों से दसवीं शताब्दी के उपरान्त प्रारम्भ हुआ था जो कि अभी भी चल रहा है। किन्तु इस ग्रन्थ में हम केवल प्रा० *भा० आ० भा० के सम्बन्ध में ही चर्चा करेंगे।*

भाषा के इन सभी रूपों को अपनी विकास यात्रा के प्रत्येक चरण में अनेक प्रकार के परिवर्तनों से गुजरना पड़ा है। इनके अनेक कारण हैं, किन्तु इन सब में *अन्यतम कारण है भाषिक सम्पर्क तथा भाषिक सम्मिश्रण। यह एक स्वयंसिद्ध तथ्य*

है कि जब दो भिन्न-भिन्न भाषिक समुदायों के लोग दीर्घ काल तक निकट सम्पर्क मे रहते हैं तो उनमे पारस्परिक भाषिक आदान-प्रदान होता ही है किन्तु इस प्रकार का आदान-प्रदान भाषा के शब्द-भण्डार को ही प्रभावित करता है। पर जब कोई भाषिक समुदाय व्यवहार भाषा के रूप मे किसी अन्य भाषिक समुदाय की भाषा को अपनाता है तो वह भाषा के सभी स्तरो पर इसे अपनी भाषिक प्रवृत्तियों से प्रभावित कर डालता है, जैसे भारतीय भाषा भाषियों के द्वारा अंग्रेजी भाषा के प्रयोगो मे देखा जा सकता है। यहा पर भी हम देखते है कि आर्येतर भाषा-भाषियो के साथ आर्य भाषा भाषियों का सम्पर्क वैदिक काल मे ही हो चुका था। ऋग्वेद में इन्हें 'दास' तथा 'दस्यु' नामो से अभिहित किया गया है। इसके बाद के साहित्य मे जिन अनार्य जातियो का उल्लेख मिलता है, उनके नाम है निषाद, किरात, बाह्लीक आदि। वैदिक काल के प्रारम्भिक युगो में यद्यपि इन भाषिक समुदायों मे सघर्ष की स्थिति पायी जाती है किन्तु बाद मे इनमे सह अस्तित्व की सामान्य स्थिति पैदा हो गयी थी।

इसमें सन्देह नही कि आर्येतर वर्ग के इन लोगो का, जिन्हे 'दास' कहा गया है, पुरातन काल मे ही आर्यीकरण किया जाने लगा था। ऋग्वेद मे इन्द्र के द्वारा इनके आर्यीकरण का उल्लेख मिलता है (ऋक् 6 2.21)। यद्यपि इन्हे आर्यों के सामाजिक सगठन के हिसाब मे निम्न वर्ग मे रखा गया था किन्तु ऋग्वेद मे कृष्ण (ऋग्० 8 85-86) तथा दीर्घतमस् (ऋ० 1.158) जैसे अनार्य वर्ग के लोगो का मंत्र-द्रष्टा ऋषियो के वर्ग मे सम्मिलित किया जाना, इस बात का स्पष्ट सकेतक है कि अनार्य वर्ग के लोगो को भी उच्च वर्ग मे स्थान मिल सकता था। सम्भव है कि अनार्यों के आर्यीकरण की इस प्रक्रिया मे उन्हे क्रमशः आर्यों के ढाचे में भी वही स्थान दिया गया हो जो कि उन्हें अपने समाज में प्राप्त था। इसके अतिरिक्त यह भी सम्भव है कि आर्य वर्ग मे गुण-कर्म के आधार पर जाति के उन्नयन तथा अवनयन की सुविधा उपलब्ध होने के कारण इस वर्ग मे सम्मिलित कतिपय महत्त्वाकाक्षी अनार्य लोगो ने आर्य भाषा को व्यवहार भाषा के रूप मे अपना लिया हो और उसमे प्रवीणता भी प्राप्त कर ली हो तथा कालान्तर मे भाषिक आदान का क्षेत्र विस्तृततर होता गया हो।

प्राचीन भारतीय आर्य भाषाओं का विकास दो चरणों मे हुआ है। इनमें से प्रथम चरण को वैदिक संस्कृत तथा दूसरे को लौकिक संस्कृत के नाम से अभिहित किया जाता है। इन दोनों के भाषिक रूपो का परिचय निम्नलिखित रूप मे प्रस्तुत किया जा सकता है।

वैदिक भाषा

वैदिक भाषा का प्राचीनतम रूप ऋग्वेद के प्रारम्भिक मण्डलों में पाया जाता है। भाषा का यह रूप न केवल आर्य परिवार की भाषाओं का अपितु सम्पूर्ण *भारोपीय परिवार की भाषाओं का प्राचीनतम उपलब्ध रूप है।*

भाषिक दृष्टि से वेदों की भाषा का विश्लेषण करने पर देखा जाता है कि यह भाषिक विकास के कई पड़ावों से गुजरी है तथा इसमें कई क्षेत्रीय विभाषाओं का *योगदान रहा है। स्वयं ऋग्वेद के विभिन्न मण्डलों की भाषा के तुलनात्मक* अध्ययन में भी वैदिक भाषा का यह रूप प्रत्यक्ष हो जाता है। उदाहरणार्थ, इसके प्रथम मडलों में यदि रकार का अधिक प्रयोग पाया जाता है तो उत्तरवर्ती मडलों में लकार का *यथा*—मुच>म्लुच्, रम्>लम्, रोहित>लोहित, रघु>लघु आदि।

मूल भारोपीय के पुनर्गठित रूपों के साथ वैदिक भाषा के रूपों की तुलना करने पर यह भी देखा जाता है कि मूल स्वरों की दृष्टि से इसमें बहुत परिवर्तन आ चुका है जो कि ग्रीक तथा लैटिन में अपेक्षाकृत कम हुआ है, यद्यपि व्यजन-ध्वनियों का सरक्षण इसमें अधिक हुआ है (देखो, वैदिक ध्वनि प्रक्रिया तथा संस्कृत ध्वनियों का विकास)। वैसे तो व्यजनध्वनियों की दृष्टि से भी इसकी अपेक्षा अवेस्ता में कतिपय ऐसी ध्वनियों का सरक्षण पाया जाता है जो कि इसमें या तो लुप्त हो गयी हैं या अन्य ध्वनियों में विलीन हो गयी हैं।

इसके अतिरिक्त कई धातु मूल तथा प्रातिपदिक भी ऐसे हैं जो कि इसकी इस लम्बी यात्रा में बहुत पीछे छूट गये हैं, यथा सत्तार्थक अस् धातु के रूप। हित्ती में इसके रूपों की सत्ता सभी वचनों तथा लकारों में पायी जाती है जब कि प्रा० भा० आ० भा० में केवल लट्, लोट् तथा विधिलिङ् के कतिपय रूपों में ही। हित्ती के रूप इस प्रकार हैं—

लट्	अ० पु०	एश्ज़ि	ए० व०	अशन्ज़ि	ब० व०
	म० पु०	—	,,	एश्तेनि	,,
	प्र० पु०	एश्मि	,,	एशुएनि	,,
लोट्	म० पु०	एश्	,,	एश्तेन	,,
	अ० पु०	एशतु	,,	अशन्तु	,,

आदि।

सर्वनामों की दृष्टि से विचार करने पर भी हम देखते हैं कि कतिपय सर्वनाम मूलों के कुछ वैकल्पिक रूप ही प्रा० भा० आ० भा० में बच पाये हैं, यथा संस्कृत में अस्मद् के रूपों के साथ द्वितीया, षष्ठी आदि विभक्तियों के कतिपय रूपों में वैकल्पिक रूप नः भी पाया जाता है जो कि अस्मद् मूल से बना हुआ न होकर किसी अन्य मूल से विकसित होना चाहिए, पर संस्कृत में इस मूल का कोई सर्वनाम

नही है। किन्तु इस मूल का भी कोई सर्वनाम भारोपीय मे था, इसकी पुष्टि उन अनेक भाषाई रूपो से होती है जो कि इस परिवार की अन्य पुरातन भाषाओ मे पाये जाते है, यथा हित्ती—अन्सस्=सं० नस्>(नः), नास्, नाशा (हमको, हमारा। लैटिन मे यद्यपि अहम् का प्रतिरूपी तो **एगो** है किन्तु **वयम्** का **नोस्**। इसी से प्र० पु० के **नोस्त्रुम्**, **नोबीस** आदि ब० व० रूप बनते है। ग्रीक मे भी यद्यपि अहम् का अनुरूपी **एगो** ही है तथा ब० व० मे **ऐम**, **एमोन** आदि बनते हैं पर द्वि० व० मे रूप बनते है **नो** और **नोन**। जो कि न मूल की सत्ता के स्पष्ट द्योतक है।

न के समान ही लौकिक सस्कृत मे **युष्मद** के द्वि०, चतुर्थी षष्ठी विभक्तियो मे वैकल्पिक रूप मे वः का प्रयोग मिलता है। यद्यपि सस्कृत मे इस सार्वनामिक प्रतिपादक की स्थिति नहीं पायी जाती, किन्तु भारो० वर्ग की अन्य प्राचीन भाषाओ मे, विशेषकर लैटिन मे, इसकी पूरी रूप रचना का अस्तित्व पाया जाता है। पुरातन भाषाओ, लैटिन तथा अवेस्ता, मे इसे इन रूपो में देखा जा सकता है—

कारक	ग्री०	लै०	अवे०	वै० स०	सा० स०	पाली
कर्ता	उमेइस्	वोस्	युजेम्	यूयम्/युष्मे	यूयम्	तुम्हे/वो
कर्म	उमस्	वोस्	वो	युष्मान्	युष्मान्/व	,, ,,
करण	—	वोबिस्	—	,,	युष्माभि	तुम्हेहि ,,
सम्प्रदान	उमिन्	वोबिस्	युस्मा-ओयो	युष्मभ्यम्/युष्मे	युष्मभ्यम्/व·	तुम्हे/वो
अपादान	—	वोबिस्	युष्मत	युष्मत्/"	युष्मंत्	तुम्हेभि/वो
सम्बन्ध	उमोन	वेस्त्रुम्	युष्माकेम्	युष्माकम्	युष्माकम्/व.	तुम्हाकं/वो
अधिकरण	उम्मिन्	वोबिस्	—	युष्मे	युष्मासु	तुम्हेसु

उपर्युक्त कारकीय रूपों को देखने से यह स्पष्ट हो जाता है कि लैटिन मे सार्वनामिक पद वः के रूप सभी कारको मे प्रयुक्त होते थे। इसके अतिरिक्त अवेस्ता मे भी इसके एक रूप (द्वि० व० व०) का पाया जाना, इस बात का निश्चित प्रमाण है कि भारत-ईरानी काल मे इस सर्वनाम का प्रयोग प्रचलित था। वैसे वैदिक संस्कृत में यद्यपि इसका प्रयोग नही पाया जाता, किन्तु पाली तथा लौकिक संस्कृत में इसका पाया जाना इस बात का सकेतक है कि वैदिक काल मे भी यह प्रयोग मे प्रचलित रहा होगा। यह भिन्न प्रश्न है कि साहित्य मे कही इसका लिखित रूप नहीं मिलता।

वैदिक भाषा की विशेषताएं—भाषिक दृष्टि से वैदिक भाषा की कई ऐसी विशेषताए हैं जो कि प्रा० भा० आ० भा० के विकास के विभिन्न चरणो पर पीछे छूटती गयी। इनमें से कुछ का परिचय इस प्रकार है—

वैकल्पिक रूपों का बाहुल्य—व्याकरणिक नियमों से नियमित न होने तथा इसी कारण किसी सार्वदेशिक मानकीकृत रूप के न होने से वैदिक भाषा में सभी कोटियों के शब्दों में अनेक वैकल्पिक रूप विकसित हो गये थे तथा भाषा में उनको मान्यता प्राप्त थी। पाणिनि जी ने 'छन्दसि बहुलम्' के द्वारा इसी तथ्य का संकेत किया है। महाभाष्यकार ने इस प्रकार के रूपों को 'व्यत्यय' कहकर 'व्यत्ययो बहुलम्' (3-1-85) के प्रसंग में इन्हें भली भांति स्पष्ट भी कर दिया है। वे कहते हैं—"योगविभागः कर्तव्य। छन्दसि सर्वे विधयो भवन्तीति। सुपां व्यत्ययः। तिङ् व्यत्ययः। वर्ण व्यत्ययः। लिंग व्यत्ययः। पुरुष व्यत्ययः। काल व्यत्ययः। आत्मनेपदः व्यत्यय। परस्मैपद व्यत्ययः इति।"

इन व्यत्ययों को स्पष्ट करने के लिए उन्होंने वैदिक साहित्य से जिन अनेक मंत्रों को उद्धृत किया है, उनमें से कुछ इस प्रकार हैं—ऋजव सन्तु पन्था/पन्थान; परमे व्योमन् (व्योम्नि~व्योमनि)। लोहिते चर्मन् (चर्मणि)। आर्द्रे चर्मन् (चर्मणि)। धीती (धीत्या)। मती~(मत्या)। या सुरथा रथीतमा दिविस्पृशा अश्विना (=यौ सुरथौ रथीतमौ दिविस्पृशौ अश्विनौ)। नताद् ब्राह्मणम् (नत ब्राह्मणम्)। यादेव (यमेव)। युष्मे (युष्मासु)। अस्मे (अस्मभ्यम्)। उरुया (उरुणा)। धृष्णुया (धृष्णुना)। नाभा (नाभौ) आदि। स्मरणीय है कि उपर्युक्त विकल्पों में से लौकिक संस्कृत में केवल वही रूप मान्य हुए जो कि कोष्ठकों में रखे गये हैं।

इसी प्रकार कारकों के व्यत्ययों के विषय में पाणिनि जी कहते हैं—चतुर्थ्यर्थे बहुलं छन्दसि (2. 3. 62), षष्ठ्यर्थे चतुर्थी वाच्यम् (वा)। यजेश्च करणे (2-3-63) आदि। वैदिक भाषा में सप्तमी के स्थान पर प्रथमा या षष्ठी का प्रयोग, द्वितीय-चतुर्थी के स्थान पर षष्ठी का प्रयोग इसके भाषिक प्रयोगों का एक सामान्य रूप है। संज्ञा पदों में देवाम /देवा, देवेभिः/देवैः, पन्थान /पन्था, गवाम्/गोनाम्, पत्या/पतिना, जैसे विकल्प तथा क्रियापदों में इच्छसे/इच्छन्ति, (इष् का उभयपदी प्रयोग)। भिद्, मृ, हन् आदि के भेदति, भिनत्ति, मरति, मारयति, हनति, हन्ति जैसे वैकल्पिक रूपों का प्रयोग सर्वमान्य रूप से पाया जाता है (अधिक विवरण के लिए देखिए—वैदिक तथा लौकिक संस्कृत में अन्तर)।

वैदिक भाषा में पुरुष वाचक सर्वनामों के प्रयोगों के सम्बन्ध में विशेष उल्लेखनीय बात यह है कि इसमें कई विभक्तियों एवं वचनों में कतिपय वैकल्पिक रूप भी चलते थे जो कि बाद की भाषा में समाप्त हो गए। यथा प्रथम पुरुष द्वि० व० में वैकल्पिक रूप में आवम् तथा आवाम् का प्रयोग चलता था। इनमें से आवम् रूप अधिक प्रचलित था, किन्तु लौकिक भाषा में आवाम् ही रह गया। इसी प्रकार पंचमी विभक्ति के द्वि व० में आवाभ्याम् के साथ आवत् का भी प्रयोग होता था जो कि बाद में समाप्त हो गया।

चतुर्थी षष्ठी, सप्तमी विभक्तियों के बहु वचनी रूपों के वैकल्पिक रूपों में अस्मे, युष्मे भी चलता था। प्रातिशाख्यों ने भी इनका उल्लेख किया है, अस्मे, युष्मे त्वे मे इति चोदात्ताः (अथर्व० प्राति० 1-77)। ऋग्वेद (1-173-10) में अस्माकम् के स्थान पर अस्माक रूप भी मिलता है। इसी प्रकार युष्माकम् के साथ युष्माक भी पाया जाता है (ऋग्० 7 59.9-10)। युष्मद् के रूपों मे सप्तमी ए०व० में त्वयि के साथ त्वे रूप भी मिलता है। ऋग्वेद मे तो केवल त्वे रूप ही मिलता है। त्वयि के प्रयोग का बाहुल्य वैदिकोत्तर साहित्य मे ही मिलता है, वैदिक साहित्य मे बहुत कम। इसी प्रकार प्रथमा द्वि० व० मे युवम् तथा युवाम् रूपों का युक्त प्रयोग पाया जाता है। सूत्रकाल तक के प्रयोगों मे युवम् का प्रयोगाधिक्य तथा बाद के कालों मे युवाम् का प्राधान्य पाया जाता है। ऐसे ही तृतीया द्वि० व० मे युवभ्याम् तथा युवाभ्याम् की भी स्थिति पायी जाती है। इसमें भी प्रथम प्रयोग केवल वैदिक काल तक ही सीमित रहा है।

ऋग्वेद (1 109 1) मे त्वत् तथा आवत् जैसे रूपो के समकक्ष युष्मत् के साथ युवत् का भी प्रयोग पाया जाता है जोकि बाद मे एकदम प्रयोग-बाह्य हो गया। यही बात षष्ठी तथा सप्तमी के द्विवचनी रूपों—युवोः तथा युवयोः के सम्बन्ध मे भी देखी जाती है। इनमे युवोः का प्रयोग वैदिक काल के बाद अनुपलब्ध हो जाता है।/ ऐसे ही सप्तमी ब० व० मे युष्मासु के साथ युष्मे भी मिलता है, जो कि चतुर्थी, व षष्ठी ब० व० मे भी इसी रूप मे मिलता है।

सार्वनामिक रूपो मे पुरुष वाचक सर्वनामों के वैकल्पिक रूपों के अतिरिक्त और भी अनेक विभेद देखे जाते हैं, यथा संकेत बोधक सर्वनामों के प्रथमा तथा द्वितीया के द्वि वचन मे औ के अतिरिक्तआ विभक्ति प्रत्यय की स्थिति भी पायी जाती है, जैसे तद् से ता/तौ, एतद् से एता/एतौ, त्यद् मे त्या/त्यौ। इसी प्रकार नपुंसक बहुवचनी रूपों मे भी-आनि के साथ साथ-आ का भी प्रयोग किया जाता है, जैसे—तानि/ता, एतानि/एता, त्यानि/त्या,/इमानि। इमा, यानि/या, कानि/का आदि। लौकिक संस्कृत मे आ वाले रूप प्रयोग-बाह्य हो गए थे।

संज्ञा पदों के समान ही सर्वनाम रूपों मे भी तृतीया ब० व० मे भिस् तथा ऐस् दोनों ही प्रत्ययों का प्रयोग पाया जाता है, यथा तैः/तेभिः। स्मरणीय है कि तैः के यथावत् अनुरूपी रूप अवे० तथा लियु० में तथा तेभिः का अनुरूपी त्येभि प्रा० स्लाव मे मिलते हैं। इससे प्रतीत होता है कि मूल भारोपीय मे ये दोनो प्रत्यय प्रयुक्त होते थे।

वैदिक काल मे तद् के समानार्थी स सर्वनाम की भी सत्ता थी, इसका प्रमाण मिलता है इससे निर्मित रूपो—सस्मिन् (ऋग्० 1 52.15 आदि नौ बार) तथा सस्मत् (छन्दो० मे)। ऐसे ही इदम् पु० के तृ० ए० व० मे एतेन/एना, स्त्रीलिंग मे अनया/अया, षष्ठी-सप्तमी द्वि० व० मे अनयोः। अयोः/पद्। के येन/येना

ययो-/यो: जैसे वैकल्पिक रूप सामान्यत: पाये जाते हैं। यद्यपि लौकिक संस्कृत में केवल अनया, अनयो तथा ययोः वाले रूप ही प्रयोग-सम्मत माने गये थे।

यही स्थिति संख्या वाचक शब्दों की रूप-रचना में भी देखी जाती है—द्वौ/द्वा, त्रीणाम् /त्रयाणाम्, अष्ट/अष्टौ अष्टा। इसमें अष्टा रूप केवल वैदिक भाषा तक ही सीमित है। क्रम वाचकों में चौथे से लेकर सातवें तक निरपवाद रूप में 'थ' प्रत्यय का योग पाया जाता है। फलतः पंचथ, सप्तथ जैसे रूप मिलते हैं जो कि बाद में बिल्कुल प्रयोग-बाह्य हो गये।

पुरुष वाचक सर्वनामों के समान ही संकेत बोधक सर्वनामों के भी कई रूप थे, यथा त्यद् (त्य) 'वह'। वैदिक भाषा में इसका प्रयोग सर्व सामान्य रूप में पाया जाता है जो कि उत्तरोत्तर कम होता गया और लौकिक संस्कृत तक आते-आते बिल्कुल समाप्त हो गया। भारोपीय वर्ग की कतिपय पुरातन भाषाओं में इसकी स्थिति इस बात की द्योतक है कि यह सर्वनाम भारोपीय मूल का था, जैसे थिउय (गॉ०) त्य (अवे०), दुयस् (प्रा० जर्मन) आदि।

त्यद् के समान ही 'अम/अमः' 'यह' भी एक संकेत-बोधक सर्वनाम था जिसका प्रयोग संहिता, मन्त्र ब्राह्मण तथा सूत्र सभी में मिलता है। यथा काठक संहिता में अमोहमस्मि सा त्वम् (35 18)। इसके अमा, अमात् आदि रूप भी पाये जाते हैं। गृह्यसूत्रों तक इसका काफी प्रयोग होता था किन्तु उसके बाद समाप्त हो गया। बरो (पृ० 274) के अनुसार संस्कृत के अतिरिक्त प्रा० फा० में भी इसका प्रयोग पाया जाता है।

वैदिक भाषा में इसी वर्ग का एक अन्य सर्वनाम था 'अव'। ऋग्वेद में इसका प्रयोग इन रूपों में पाया जाता है—अवोरित्था वाम (6 67.11) अवोर्वाम् (7 67 4) अवोर्वा (10.132 5), किन्तु उत्तरवर्ती वैदिक साहित्य में इसका प्रयोग मिलना बन्द हो जाता है। संस्कृत के अतिरिक्त अन्य प्राचीन भारोपीय भाषाओं में इसकी उपलब्धि इस बात की संकेतक है कि यह भारोपीय मूल का शब्द है, जैसे प्रा० स्लाव ओवु० अवे तथा प्रा० फा०—अव।

संकेत बोधक सर्वनाम त्व (त्वद्) का प्रयोग वैदिक साहित्य में तो बहुतायत से पाया जाता है किन्तु सूत्र तथा उपनिषद् काल में आकर बिल्कुल समाप्त हो गया है। संस्कृत के अतिरिक्त अवेस्ता में इसका अनुरूपी रूप थ्वत् पाया जाता है जो कि इसके भारोपीय मूल का होने की पुष्टि करता है।

यही स्थिति अनिश्चयार्थक सर्वनामों सम तथा सिम की भी है जो कि 'प्रत्येक' या 'कोई' अर्थ का बोध कराते थे। यह सम समानार्थक सम से भिन्न था। इसे स्पष्ट करते हुए सिद्धान्त कौमुदी में कहा गया है कि 'समः सर्वपर्यायः, तुल्यपर्यायस्तु नेह गृह्यते (पा० 1.1.27 पर तत्त्वबोधिनी)। इसी प्रकार सिमः के विषय में भी कहा गया है—*सिमः कृत्स्ने च शक्ते च स्यात्सर्वार्थकशब्दयोः (वही)।*

इनका प्रयोग वैदिक भाषा में तो चलता रहा, किन्तु उत्तरवर्ती उपनिषद् तथा सूत्र काल की भाषा में समाप्त हो गया।

ऐसे ही वैदिक भाषा में प्रश्न वाचक सर्वनाम किम् का वैकल्पिक रूप कम् भी मिलता है, यथा कमस्यचित् (ऋ० 1 27.8 आदि), किन्तु बाद के साहित्य में ऐसा कोई प्रयोग नहीं पाया जाता है।

लौकिक संस्कृत

प्राचीन भारतीय आर्य भाषा अपने विकास के प्रत्येक चरण पर भाषिक परिवर्तनों से प्रभावित हो रही थी, इसे सिद्ध करने के लिए किसी विस्तृत अध्ययन की आवश्यकता नहीं। इसके उपलब्ध साहित्य की प्रत्येक विधा—वैदिक मंत्रों, संहिताओं, आरण्यकों, उपनिषदों तथा महाकाव्यों की भाषा के रूपों को देखने से यह बात किसी अभाषाशास्त्री को भी स्पष्ट हो सकती है। यदि बीच की कड़ियों को निकाल दें तो वैदिक तथा लौकिक के भाषाई रूपों का अन्तर बहुत साफ दिखाई देने लगता है। किन्तु ये परिवर्तन किसी चमत्कार के नहीं अपितु एक सहज बोधगम्य भाषाई प्रक्रिया के परिणाम हैं। आवश्यकता है भाषाई परिवर्तनों की इस पृष्ठभूमि को समझने की।

साहित्यिक अथवा लौकिक संस्कृत के विकास के सम्बन्ध में डॉ० सुनीति कुमार चटर्जी लिखते हैं—600 ई० पू० के पूर्व तक अफगान प्रदेश से बंगाल तक एक छत्र राज्य करने वाली संस्कृत भी स्वयं एक अन्यतम बोली थी जिसने समस्त आर्य उपभाषाओं के उपादानों को लेकर एक साहित्यिक अथवा कलात्मक भाषा का निर्माण किया (भा० आ० भा० और हिं०, पृ० 184)।

इसके स्वरूप निर्माण तथा अभिवृद्धि में योगदान करने वाले कतिपय तत्त्वों का विवेचन निम्नलिखित रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है।

नव शब्दनिर्माण—संश्लिष्टात्मक भाषा होने के कारण संस्कृत में प्रारम्भ से ही नव शब्दनिर्माण की एक बहुत बड़ी शक्ति थी। अतः बदलते हुए सामाजिक तथा सांस्कृतिक परिवेशों में जब कभी भी नूतन अभिव्यक्तियों के लिए नवीन भाषाई रूपों की आवश्यकता हुई तो इसे वैदिक तथा पूर्व वैदिक काल से चले आ रहे धातु मूलों के साथ विभिन्न उपसर्गों तथा प्रत्ययों का योग करके नवीन शब्दों का निर्माण करने में कोई कठिनाई नहीं हुई। यथा, अन्न के उत्पादन के हिसाब से खेतों की माप के सूचक शब्दों का निर्माण, जिन्हें कि अन्न राशि सूचक शब्द के साथ इक प्रत्यय का योग करके बना लिया, जैसे द्रोण से द्रौणिक, प्रस्थ से प्रास्थिक, खारी से खारीक आदि। ऐसे ही बाजार में हरी सब्जियों के परिमाण (मुट्ठे, गड्डियों) के लिए पण शब्द का योग करके शाकपण, मूलकपण आदि शब्द बना लिये। ऐसे ही रंगों के सम्बन्ध में भी प्रत्ययों के योग से मांजिष्ठ, लाक्षिक,

रोचनिक आदि पदों का निर्माण कर लिया गया था।

नवीन शब्दों के निर्माण के लिए *प्रकृति-प्रत्यय योग-विधि* के अतिरिक्त जिस विधि का बहुतायत से प्रयोग किया गया था, वह थी समस्तपद रचनाविधि। किसी वस्तु के सम्बन्ध में किन्हीं पौराणिक या व्यावहारिक संकल्पनाओं के आधार पर किसी एक शब्द का निर्माण करके उनके पर्यायवाची शब्दों से उसी अर्थ के बोधक अनेक शब्दों की रचना कर डालना एक सामान्य बात हो गयी थी। जैसे एक पौराणिक संकल्पना के आधार पर पहाड़ के लिए 'पृथ्वी को धारण करने वाला' इस भाव के द्योतक एक शब्द की रचना कर लेने पर फिर तदनुरूपी अनेक शब्दों की रचना कर ली गयी, यथा—भूभृत्, क्षितिभृत्, क्ष्माभृत्, क्षितिधर, महीधर, धराधर आदि। संस्कृत कोशों में तो इस प्रकार से गढ़े गये अनेक ऐसे शब्द भी मिलते हैं जिनका प्रयोग न किसी साहित्यिक कृति में मिलता है और न किसी शिलालेख आदि में। लोक-भाषाओं में भी इनसे विकसित शब्द रूपों की स्थिति नहीं पायी जाती।

सर्वविदित है कि विकास की ओर बढ़ते हुए भारतीय समाज ने समय-समय पर अनेक नवीन विद्याओं, शास्त्रों, कलाओं, कौशलों, व्यवसायों, प्रशासनिक प्रणालियों आदि का विकास किया। फलतः नाट्यशास्त्र, वास्तुशास्त्र, अर्थशास्त्र, संगीतशास्त्र, धनुर्वेद, आयुर्वेद, अश्वशास्त्र आदि अनेक विषयों का विवेचन किया गया। *इनके विविध पक्षों एवं तत्त्वों के बोधन के लिए नवीन शब्दावली का निर्माण किया गया। जिसके फलस्वरूप नये शब्द तथा नयी अभिव्यक्तियाँ प्रयोग में आईं। राजसी वैभव ने भी सैकड़ों नये शब्दों को जन्म दिया,* क्रीडाशैल, प्रमदवन, जल-विहार, विलासभवन, अन्तःपुर, कंचुकी, द्वारपाल, वैतालिक, चमरग्राहिणी आदि अनेक शब्द इसी की देन हैं।

लौकिक संस्कृत में शब्द भण्डार की अभिवृद्धि में पौराणिक संकल्पनाओं का भी बड़ा योगदान रहा है। अनेक वैदिक तथा पौराणिक देवी-देवताओं के स्वरूप एवं कार्यों से सम्बद्ध क्रियाओं एवं संकल्पनाओं के आधार पर उनके विशेषणों तथा संकेतक नामों के लिए नये शब्दों तथा उनके पर्यायों का निर्माण किया गया। यथा पर्वत के लिए भूभृत् आदि नामों की रचना उस पौराणिक संकल्पना की देन है, जिसके अनुसार पृथ्वी को पहाड़ पर, पहाड़ को कूर्म पृष्ठ पर तथा कूर्म को जल पर स्थित माना गया है। इसी प्रकार ब्रह्मा के लिए आत्मभू, स्वयंभूः, आत्मयोनि, कमलयोनि, अब्जभू, अब्जयोनि, कमलोद्भव, कमलासन आदि भी उनके जन्म से सम्बद्ध पौराणिक संकल्पना के परिणाम हैं।

इसके अतिरिक्त दैनन्दिन व्यवहार की भाषा होने के कारण इसमें मुहावरेदार एवं आलंकारिक अभिव्यक्तियों का भी विकास हुआ, यथा—शय्योत्थायं धावति, गुल-वार्तिकं पृच्छति, मनोऽप्यपयः पिबति, (जी भर कर दूध पीता है), यथाकामहूं मोदते

तथाकारं, कि तवाने ? 'मैं जैसे भी खाऊ, मेरी मर्जी, तुझे इससे क्या ? आदि।

नवार्थयोग—संस्कृत भाषा के विकास क्रम मे केवल शब्दात्मक तथा रूपात्मक विकास ही नही, अपितु अर्थपरक विकास भी होता रहा। फलतः साहित्यिक/लौकिक संस्कृत के स्वरूप को प्राप्त होने तक अनेक वैदिक शब्दो मे अर्थ-सकोच या विस्तार भी हो गया। कहीं-कहीं तो अर्थादेश की स्थिति भी पायी जाती है। इस सम्बन्ध मे कतिपय प्रसिद्ध परिवर्तनो को निम्नरूप मे दिखाया जा सकता है—

शब्द	वैदिक अर्थ	लौकिक अर्थ
क्रतु	बुद्धि, अर्न्तदृष्टि	यज्ञ
वह्नि	ले जाने वाला (विशे०)	अग्नि
धी	कर्म	बुद्धि
अराति	कृपणता, शत्रुता	शत्रु
अरि	प्रतिवेशी, शत्रु	शत्रु
क्षिति	बस्ती, निवासस्थान	पृथ्वी
वध	बल, वज्र	हत्या
असुर	देव, परमेश्वर	राक्षस
न	उपमार्थक	निषेधार्थक

इसके अतिरिक्त भ्रमात्मक व्युत्पत्ति के फलस्वरूप भी कई नवीन शब्द सत्ता मे आ गये थे। यथा असुर 'राक्षस' तथा असित 'काला' जैसे शब्दो मे 'अ' को निषेधार्थक समझकर सुर 'देवता' तथा सित 'सफेद' जैसे शब्द बना लिये गये।

नव-शब्द-निर्माण के साथ ही नये धातुमूलों की भी रचना की गई। ह्विट्ने के द्वारा प्रस्तुत विवरण के अनुसार (1963 : 243) पाणिनि ने जिन 800 धातुओ की रूपरचना का विवेचन किया है, उनमे से लगभग 150 से ऊपर ऐसी है जिनकी सत्ता वैदिक भाषा मे नही पायी जाती, (वैसे धातुपाठ मे 2048 धातु मूलों का परिगणन किया गया है, इसके अनुसार भ्वादि वर्ग में 1007 मूल हैं जिनमे से 142 केवल लौकिक संस्कृत मे पाये गये है।)

प्राकृत शब्दों का संस्कृतीकरण—देशी तथा सजातीय स्रोतो से आगत शब्दो मे प्रमुख स्थान रखते है प्राकृत भाषाओ से शुद्ध या सस्कृतीकृत रूप मे गृहीत शब्द। इस सम्बन्ध में थोड़ा इसकी पृष्ठ-भूमि पर विचार कर लेना भी अनुपयुक्त नही होगा। उत्तर वैदिक काल में आर्यो का प्रसार पश्चिमोत्तर भागों से पूर्वोत्तर की ओर होने लगा था। उनके इस प्रसार के साथ-साथ आर्यीकरण की प्रक्रिया का तथा आर्य भाषा का प्रसार भी इन प्रदेशों मे होता रहा। फलतः भिन्न-भिन्न भाषिक पृष्ठ-भूमि वाले आर्यों के द्वारा संस्कृत भाषा का व्यवहार किया जाने

लगा। किन्तु उनके लिए अपनी भाषिक प्रवृत्तियों का परिहार करके उत्तर-पश्चिम के ब्राह्मण आर्यों के समान संस्कृत का शुद्ध रूपों में उच्चारण कर पाना, तथा उसे सर्वथा अमिश्रित रूप में प्रयोग कर पाना कठिन था। क्योंकि भाषाई अन्तरायों का होना तो स्वाभाविक ही था। फलत एक ओर संस्कृत का उच्चारण भ्रष्ट होने लगा तथा दूसरी ओर संस्कृत के कठिन दुरूह शब्दों के स्थान पर स्थानीय भाषाओं के सुलभ एवं सरल शब्दों का प्रयोग किया जाने लगा। यहां तक कि लोगों में द्विभाषिता (bilingualism) की स्थिति आ गयी अर्थात् वे औपचारिक अवसरों पर संस्कृत के रूपों का यथासम्भव निकटतम उच्चारण करने का यत्न करते थे तथा अन्य अवसरों पर उन्हें अपने स्थानीय भाषिक रंगों में रंजित कर डालते थे। पतंजलि ने अपने महाभाष्य में वैदिक ऋषियों से सम्बद्ध एक कथा का उल्लेख किया है, जिसमें वे कहते हैं कि दो ऋषि थे जो कि अपनी अनौपचारिक बातचीत में 'यद् वा नः, तद् वा नः' को **यर्वाणः तर्वाणः** के रूप में बोला करते थे। उनके इसी विशिष्ट उच्चारण के आधार पर लोग उन्हें भी **यर्वाणस्तर्वाणः** कहा करते थे।

पाणिनि जी ने अपने प्रदेश की भाषा का विवरणात्मक विश्लेषण तथा उसके मानक रूपों का निर्धारण तो अवश्य किया, किन्तु उन्होंने न तो कहीं उसे संस्कृत भाषा का व्याकरण कहा और न उसके अध्ययन पर ही बल दिया, क्योंकि वे जिस प्रदेश की भाषा का विवरण दे रहे थे वहां पर इसकी कोई समस्या ही नहीं थी। वह वहां के शिष्ट जनों की भाषा थी, उसमें न उच्चारणात्मक दोष थे और न अपशब्दों का सम्मिश्रण। यह समस्या तो तब आई जब कि इसका प्रसार उन क्षेत्रों में हुआ जहां कि लोग अपनी अलग-अलग स्थानीय बोलियों का व्यवहार करते थे। इसीलिए व्याकरण के अध्ययन पर बल देने के लिए पतंजलि को पहली बार महाभाष्य में 'शब्दों' और 'अपशब्दों' का भेद बताते हुए भाषा की शुद्धता के लिए व्याकरण का अध्ययन करने की आवश्यकता पर बल देना पड़ा। उन्होंने देखा कि लोग संस्कृत बोलते समय शुद्ध संस्कृत शब्दों के स्थान पर अपनी स्थानीय भाषाओं के शब्दों का मुक्त रूप से प्रयोग कर डालते हैं। इसका जो एक उदाहरण उन्होंने दिया है वह है 'गो' के स्थान पर गावि, गोणी, गोता, गोपोतलिका जैसे स्थानीय रूपों का प्रयोग। इस प्रकार के शब्दों को उन्होंने 'अपभ्रंश' कहकर इनका बहिष्कार करने की सलाह दी। महाभाष्य के प्रथम आह्निक की सारी चर्चा से उनका अभिप्राय था भाषा के शुद्ध एवं मानक रूपों का प्रयोग तथा अशुद्ध एवं अमानक रूपों का परिहार।

पर साथ ही यह भी एक तथ्य है कि कोई वैयाकरण अपने नियमों व आदेशों से न तो भाषा के प्रवाह को बदल सकता है और न रोक सकता है। जहां तक वैदिक भाषा का प्रश्न था वह तो केवल यज्ञ-यागादि में ही प्रयुक्त होती थी और उसके

अध्येताओ को प्रातिशाख्यो तथा शिक्षाओ मे विहित विधानो का पालन करना पडता था अत उनको विशेष समस्या नही थी। किन्तु दैनन्दिन व्यवहार की भाषा के लिए इस प्रकार के नियमों का अनुपालन कराना असम्भव था, विशेषकर अप्रशिक्षित लोगो के लिए। प्रयत्न करने पर भी कही-न-कही भाषाई अन्तराय आ ही जाते थे। मानक प्रयोगो के समय अमानक प्रयोग अनायास ही हो जाया करते थे। अतः इसे भाषिक प्रयोगो की एक अपरिहार्य स्थिति समझकर पतञ्जलि जैसे वैयाकरण को भी इतनी छूट देनी पड़ी कि सामान्य वाग्व्यवहार मे ऐसे शब्दों का प्रयोग किया जा सकता है किन्तु धार्मिक विधि-विधानो मे किसी प्रकार भी नही (महा० 1 10-11)। फलतः प्रारम्भिक अवरोधो के बावजूद सस्कृत मे स्थानीय बोलियो अर्थात् प्राकृतो के शब्दो का समावेश निरन्तर होता रहा। कभी मूल रूप मे तथा कभी संस्कृतीकृत रूप मे। उदाहरणार्थ, भट्ट, भट्टार, भट्टारक, भट्टिणी जैसे शब्दो को लिया जा सकता है जो कि सस्कृत भर्ता या भर्तारक से विकसित हुए थे, किन्तु बाद मे सस्कृत की मूल शब्दावली मे सम्मिलित कर लिये गये। ऐसे ही हम देखते हैं कि सस्कृत के ऋतुपति 'चन्द्रमा' से प्राकृत रूप उडुअई का विकास हुआ, किन्तु इसमे भ्रम के कारण इसे तारकपति का प्रतिरूप समझकर उडु का प्रयोग तारा मे किया जाने लगा। ऐसे ही और भी अनेक शब्दो का प्राकृत भाषाओ के माध्यम से सस्कृत मे प्रवेश हो गया।

इसके अतिरिक्त सस्कृत भाषा के समानान्तर प्रयुक्त की जाने वाली पाली भाषा मे अनेक ऐसे शब्द पाये जाते है जिनके अनुरूपी शब्द वैदिक भाषा मे नही मिलते, किन्तु लौकिक सस्कृत मे मिलते है। संस्कृत के इन शब्दो को देखने से पता चलता है कि लौकिक सस्कृत मे इनका प्रवेश पाली के माध्यम से हुआ जो कि एक क्षेत्रीय भाषा थी।

प्राकृत भाषाओ ने न केवल संस्कृत के शब्द भण्डार को समृद्ध करने मे योगदान किया, अपितु इसके ध्वनि विकास तथा रूप विकास मे भी काफी योगदान किया। वैदिक सस्कृत तथा पाली मे स्वरान्तवर्ती मूर्धन्य ळ् तथा ळ्ह का पाया जाना तथा लौकिक सस्कृत मे इनका अभाव इस बात का सकेतक है कि हो न हो वैदिक सस्कृत मे इसका प्रवेश उन वैदिक भाषा भाषी लोगो के माध्यम से हुआ हो जो कि मूलतः उन प्राकृत भाषाओ को बोलने वाले थे जिनमे कि इस परिवेश मे दन्त्य ल् को मूर्धन्य ळ् के रूप मे बोला जाता था।

इसके अतिरिक्त प्राकृत भाषा-भाषियो ने संस्कृत के उस उच्चारण को भी प्रभावित किया जहा पर कि हमे भ्, ध् जैसी घोष महाप्राण ध्वनियो के स्थान पर या इनके मुक्त विकल्प मे ह् ध्वनि मिलती है, क्योंकि यह कुछ प्राकृत भाषाओ की ध्वनि प्रक्रिया की अन्यतम विशेषता देखी जाती है, उदाहरणार्थ, गृभ्णामि=गृह्णामि, भरामि=हरामि 'ले जाता हू', ऋणुधि=ऋणुहि, द=दिदेहि, यद्धि=धेहि, आदि।

लौकिक संस्कृत में तिङन्त क्रिया रूपों के प्रयोग की अपेक्षा कृदन्त क्रिया पदों की ओर अधिक झुकाव का कारण भी इन्हीं प्राकृत भाषाओं के प्रभाव के अन्तर्गत होना अधिक सम्भव प्रतीत होता है।

आदान—लौकिक संस्कृत के शब्द भण्डार की अभिवृद्धि का एक अन्य स्रोत था भाषिक आदान। यह देशी तथा विदेशी, सजातीय तथा विजातीय सभी प्रकार की भाषाओं से किया गया। विदेशी भाषाओं में विशेष रूप से प्राचीन ईरानी तथा यूनानी का नाम लिया जा सकता है जिनके साथ कि इन आर्यों का बहुत प्राचीन काल से ही सम्बन्ध रहा है तथा ऐतिहासिक काल में भी यही भाषाई समुदाय थे जिनके साथ आर्यों का सम्पर्क विदेशी शक्तियों के रूप में सर्वप्रथम हुआ। संस्कृत में इन स्रोतों से आगत कई शब्द पाये जाते हैं, यथा ईरानी—लिपि, अशोक—लिपि=दिपि >प्रा० फारसी दिपि, वारबाण 'कवच' > प्रा० ई० *वरोपान 'वक्षरक्षक', खोल एक प्रकार का लोहे का सिरस्त्राण (helmet)' <अवे० खओद (xaoda), पश्तो—'खोल', असवार <प्रा० फा० असवार 'घुड़सवार', पुस्तक <प्रा० फा० पुस्त 'पृष्ठ/चर्म' आदि।

यूनानी—संस्कृत में प्रचलित अनेक शब्द प्राचीन भारत-यूनान सम्पर्क की देन हैं, यथा खलीनः <खलीनोस् 'लगाम', सुरंग 'भूमि के अन्तर्गत मार्ग', क्रमेलकः <कमिलोस् 'ऊंट', जामित्र <दिआमित्रोन् 'ज्यामिति', होडा (चक्र) <होरा 'मुहूर्त', आदि।

स्वदेशी आदान—स्वदेशी आदानों के प्रमुख स्रोत हैं, द्रविड़, मुण्डा तथा प्राकृत भाषाएं। सम्पर्कजन्य भाषिक प्रभावों में इन सबका बहुत अधिक योगदान है। प्रो० बरो तथा किपर ने संस्कृत में सामान्य रूप से व्यवहृत होने वाले ऐसे सैकड़ों शब्दों की सूचियां प्रस्तुत की हैं जो कि मूलतः उपर्युक्त दो अनार्य भाषा परिवारों से सम्बन्ध रखते हैं। इनके साथ हुए आर्यों के समसामयिक सम्पर्कों के सम्बन्ध में पीछे विचार किया जा चुका है। उदाहरणार्थ, कतिपय शब्द इस प्रकार हैं—सं० अनल 'अग्नि' अनल (तमिल, मल०), अनलु (कन्नड़) 'उष्णता'; सं० कुटी/कुटीर कुटिया : कुटि (तमिल-मल०), गुडि (कन्नड़, तेलुगु-तुलु) 'झोंपड़ी, मकान, मन्दिर', कुट्ट-कूटना, खल 'खलिहान', घुण 'घुन', घूक 'उल्लू' (म०-कूकई), कठेर 'पत्थर', चूड़ा 'चोटी', पिटक 'पोटा', पुट/पुटक 'पत्तों का दोना', बिडाल 'बिल्ली', बिल 'बिल', मसी 'काला/स्याही', मुकुट 'मुकुट, डमरू 'डमरू', पोतक 'बच्चा', कुट्टिम फर्श, चिक्कण 'चिकना', पल्ली 'गांव', पाणि 'हाथ', पत्तन 'नगर', पुष्प 'फूल', गंगा, नदी, सिन्दूर, अटवि 'जंगल', अणि/आणि 'गाड़ी की धुरी की कील', कटुक 'तीखा', मीन 'मछली', नीर 'जल', मल्लिका (त०-मुल्लई, कन्नड़-मोल्ले), ताल 'ताड़' (कन्नड़-ताड़, ते०-ताड़) आदि सैकड़ों शब्द हैं। डॉ० बरो ने अपने ग्रन्थ 'संस्कृत' में ऐसे आगत शब्दों की काफी लम्बी सूची दी

है। (दे० पृ० 385-86.)।

इसके अतिरिक्त बिशप काल्डवेल (1961: 3rd ed:149) का कथन है कि संस्कृत में मूर्धन्य ध्वनियों के विकास में भी द्रविड़ भाषाओं का प्रमुख योगदान रहा है, क्योंकि भारोपीय वर्ग की भाषाओं में संस्कृत के अतिरिक्त इन ध्वनियों की स्थिति किसी अन्य भाषा में नहीं पायी जाती है जबकि ये द्रविड़ भाषाओं की ध्वनि प्रक्रिया के अभिन्न अंग हैं। किन्तु फूट, फर्तुनातोव तथा बरो (1972) आदि काल्डवेल की धारणा से असहमति व्यक्त करते हुए इसे विभिन्न ध्वनि संयोगों का परिणाम मानते हैं। (दे० मूर्धन्य ध्वनियों का विकास)। इसी प्रकार बरो द्वारा दी गई शब्द सूची पर भी पॉल थीमे आदि विद्वानों ने अनेक शब्दों के सम्बन्ध में आशंका व्यक्त की है तथा उन्हें भारोपीय स्रोतों से सिद्ध करने का यत्न किया है। (दे० I. J. D L. XVI-I pp. 16-17)।

क्षेत्रीय विभेदों का विकास

पीछे संकेत किया जा चुका है कि जब सप्तसिन्धु प्रदेश के रहने वाले आर्यभाषाभाषी जनों का आर्यावर्त के अन्य क्षेत्रों की ओर प्रसार हुआ तो उनके साथ ही उनकी संस्कृति तथा भाषा का भी उन क्षेत्रों में प्रसार हुआ। आर्येतर जातियों के लोगों ने भी आर्यों की जीवन पद्धति का तथा उनकी भाषा का अनुकरण किया। फलतः जैसा कि ऐसी स्थिति में सामान्यतः हुआ करता है, इनमें भी सांस्कृतिक एवं भाषिक सम्मिश्रण हुआ ही होगा। स्वाभाविक है कि आर्येतर भाषाभाषियों के द्वारा आर्य भाषा संस्कृत का प्रयोग करते समय एक ओर तो उनकी अपनी भाषिक प्रवृत्तियों के कारण संस्कृत के शब्दों के उच्चारण में ध्वन्यात्मक अन्तराय उत्पन्न होते होंगे, दूसरी ओर अभी तक संस्कृत का कोई सार्वभौम व्याकरण अथवा मानकीकृत रूप न होने से रूप-रचना में प्रदेश विशेष के भाषाई रूपों की रचना उन प्रचलित नियमों के अन्तर्गत की जाती होगी जिनका कुछ-कुछ संकेत क्षेत्रीय भाषाओं के वैयाकरणों के रूप में पाणिनि जी ने किया है। इसके अतिरिक्त शब्द-सम्पदा तथा शब्द-रचना की दृष्टि से भी यह बात सर्वथा अनुमेय है कि सुविधा के लिए अनेक प्रादेशिक बोलियों के शब्दों का संस्कृतीकरण करके संस्कृत वाग्व्यवहार में उनका निर्बाध रूप में प्रयोग किया जाता हो या उन्हीं पर प्रत्यय आदि के योग से संस्कृतवत् नवीन शब्दों की रचना कर ली जाती हो। इन क्षेत्रीय अन्तरों की ओर संकेत करते हुए महाभाष्यकार कहते हैं—प्रकृतय एवैकेषु भाष्यन्ते, विकृतय एकेषु। शवतिर्गतिकर्मा कम्बोजेषु भाष्यते, विकारमस्यार्येषु भाषन्ते शव इति। दाति लवनार्थ प्राच्येषु, दात्रोमुदीच्येषु। (महा०, प्र० आ०)। इसी प्रकार पाणिनि के सूत्र—न यासयोः (7.2.45) पर वार्तिककार कहते हैं कि बत्तख के लिए प्रयुक्त किये जाने वाले शब्द का रूप पूर्वी प्रदेश में 'वर्तका' तथा उत्तर में 'वर्तिका' होता

है। (वर्तका शकुनी प्राचाम्)। संस्कृत के प्रादेशिक रूपों में इस प्रकार के अनेक वैकल्पिक रूपों का प्रयोग किया जाता था, इसका भी साक्ष्य हमें महाभाष्य में मिलता है। इस प्रकार के प्रयोगों को 'अपभ्रंश' प्रयोगों की संज्ञा देते हुए आचार्य पतंजलि कहते हैं—*एकैकस्य शब्दस्य बहवोऽपभ्रंशाः यथा 'गौरित्यस्य शब्दस्य गावी, गोणी, गोता, गोपोतलिकेत्येवमादयोऽपभ्रंशाः।*

इसके अतिरिक्त दैनन्दिन व्यवहार की वस्तुओं तथा प्रकृति के प्रमुख तत्त्वों, यथा, जल, वायु, अग्नि, सूर्य, चन्द्र, आकाश, पृथ्वी आदि के लिए अनेकानेक पर्यायवाची शब्दों की स्थिति भी इस बात का संकेत देती है कि मूलतः ये भिन्न-भिन्न शब्द भिन्न-भिन्न क्षेत्रीय बोलियों में प्रचलित रहे होंगे, बाद में कोषकारों ने इन्हें एकत्र संग्रहीत कर दिया होगा। इस अनुमान का कारण यह है कि कोई भी बोलचाल की भाषा व्यावहारिक दृष्टि से एक ही संकेतित वस्तु के लिए एकाधिक शब्दों का प्रयोग नहीं करती। यह बात सर्वथा अकल्पनीय है कि संस्कृत का *प्रयोग करने वाला कोई एक भाषिक समुदाय 'पानी' जैसी जीवनाधार* वस्तु के लिए तोय, जल, नीर, सलिल, उदक, आप, अम्बु, अम्भ, शवर, पुष्कर, क्षीर, वन, आदि एक दर्जन से भी अधिक वैकल्पिक रूपों का प्रयोग करता होगा। निश्चित ही इनमें से प्रत्येक का प्रयोग क्षेत्रविशेष में ही होता होगा, जैसाकि उनमें विकसित विभिन्न क्षेत्रीय बोलियों के रूपों में देखा जा सकता है।

अष्टाध्यायी के माध्यम से संस्कृत के सार्वदेशिक रूप का मानकीकरण करते समय आचार्य पाणिनि ने वैकल्पिक उच्चारणों वाले तथा वैकल्पिक रूपतत्त्वों के योग से बनाये जाने वाले कतिपय रूपों को तो अन्यतरस्याम्, विभाषायाम्, प्राचाम्, उदीचाम्, शाकल्यस्य, शाकटायनस्य, स्फोटायनस्य आदि के रूप में *मान्यता दे दी तथा अन्यों को अमानक रूप मानकर छोड़ दिया।* क्योंकि सभी रूपों का समावेश कर लेने से तो फिर मानकीकरण का कोई अर्थ ही नहीं रह जाता और न सभी को संक्षिप्त सूत्रों के नियमों की परिधि में रख पाना सम्भव होता। फिर भी कहना होगा कि एक ईमानदार भाषा-विज्ञानी के समान उन्होंने देश के विभिन्न क्षेत्रों तथा वर्गों में प्रचलित भाषाई विभेदों का निर्देश करते हुए देश की भाषाई एकता को बनाये रखने के लिए, जहाँ तक सम्भव हो सका, उन्हें भी सार्वदेशिक भाषा में प्रयुक्त किये जाने की स्वीकृति दे दी।

भिन्न-भिन्न प्रदेशों में उच्चारण तथा रूप-रचना के सन्दर्भ में कितनी भिन्नता थी इस सम्बन्ध में अधिक विस्तार में न जाकर हम केवल एक-दो उदाहरण ही देकर सन्तोष करेंगे—यथा प्राक्+षष्ठ का उच्चारण अलग-अलग क्षेत्रों की भाषिक पृष्ठभूमियों में अलग-अलग प्रकार से किया जाता था। उनमें से जिन तीन उच्चारणों को पाणिनि जी ने अपने मानकीकृत रूप में स्वीकृति दी है, वे हैं—प्राङ्षष्ठ, प्राङ्क्षष्ठः और प्राङ्ख्षष्ठः। ऐसे ही 'भाभी' के लिए अलग-अलग

क्षेत्रों के लोग अलग-अलग प्रत्ययों के योग से रूप-रचना करते थे, अर्थात् कहीं तो 'मातुल' (मामा) शब्द से स्त्री प्रत्यय आ लगाकर मातुला बनाया जाता था, कहीं ई प्रत्यय लगाकर मातुली तथा कहीं आनी प्रत्यय लगाकर मातुलानी (विस्तृत विवरण के लिए देखिए लेखक का शोध-पत्र—'जनभाषा के रूप में संस्कृत का प्रयोग एवं उसके वैभाषिक रूप,' हरियाणा साहित्य अकादमी, चण्डीगढ़, 1983, पृ० 1-37)।

संस्कृत का मानकीकरण—जैसा कि संकेत किया जा चुका है कि आर्यावर्त के बहुत बड़े भूभाग तथा बहुत बड़ी संख्या के लोगों की व्यवहार भाषा हो जाने के कारण इसमें प्रत्येक स्तर पर अनेक स्थानीय भेदों का विकास हो गया था, जो कि स्वाभाविक भी था क्योंकि अभी तक भाषा के रूपों को नियमित करने तथा उनका मानकीकरण करने की दिशा में कोई सार्वभौम प्रयास ही नहीं हुआ था। छुट-पुट क्षेत्रीय प्रयास तो होते रहे पर वे क्षेत्र विशेष में प्रचलित भाषिक रूपों तक ही सीमित थे। भाषा के रूपों में पायी जाने वाली यह विविधता अनेक प्रकार की थी, यथा उच्चारण, सन्धि, रूपरचना, समास, प्रत्यय, लिंग, वचन, कारक प्रयोग आदि। इस दिशा में सबसे महान् प्रयास किया गया महर्षि पाणिनि के द्वारा। उन्होंने आर्यावर्त के विभिन्न प्रदेशों में प्रचलित संस्कृत के रूपों का संकलन किया तथा उनमें से किसी एक अथवा एकाधिक रूपों का मानकीकरण कर दिया। यथा वैदिक में चौथे के लिए 'तुरीय' तथा 'तुर्य' दो रूप प्रचलित थे, जैसे तुरीयं वाचो मनुष्या वदन्ति। किन्तु पाणिनि जी ने द्वितीय, तृतीय के समान चतुर्थ एवं तुर्याण्यन्यतरस्याम्" (2 2 3) के द्वारा तुर्य को मानकीकृत रूप में मान्यता दे दी। ऐसे ही देहि/दद्धि, नह/नद्ध, घ्नन्ति/हन्ति, भवामसि/भवामहे, मेघमान/मेहन्त, आदि सैकड़ों रूप थे जो वैकल्पिक रूपों में प्रयुक्त हो रहे थे। पाणिनि ने इनमें से एक रूप पर व्याकरण सम्मतता की मोहर लगा दी। पर कई स्थानों पर एकाधिक रूपों को भी भाषिक प्रयोगों के लिए मान्यता दे दी, जैसे मत्या/मतिना, पूर्वस्मात्/पूर्वात् जहाहि / जहिहि / जहीहि, नाम्ने / नामनि, तितरिषति / ततरीषति/तितीर्षति, दर्शिष्यते/द्रक्ष्यते, हनिष्यते/घानिष्यते आदि।

लिंग एवं वचन के सम्बन्ध में भी काफी गड़बड़ी थी। किसी शब्द का कहीं पुल्लिंग में प्रयोग होता था तो कहीं स्त्री या नपुंसक लिंग में। ऐसे ही किसी शब्द का प्रयोग एक बोली में एक वचन में होता था तो दूसरी में बहु वचन में। जैसे बृहदारण्यक में दार शब्द का प्रयोग एक वचन में किया गया है—तस्मादेवं विच्छोन्नियस्य दारेण नोपहासमिच्छेत् (6 4.12) किन्तु पाणिनि जी ने इसका बहु वचन में प्रयोग निश्चित कर दिया। ऐसे ही अनेक शब्दों के विषय में रूप, लिंग, वचन आदि की दृष्टि से मानकीकरण कर दिया गया।

किन्तु किसी जीवित भाषा के सभी प्रयोगों को व्याकरण के तथा मानकीकृत

रूपों के साँचे में जकड़ कर रख देना सम्भव नहीं, हिन्दी में ही हम देखते हैं कि व्याकरण की दृष्टि से 'कर्' धातु का भूत कालिक रूप 'किया' होने पर भी अनेक लोग बेधड़क 'करा' का प्रयोग करते हैं। यही स्थिति संस्कृत में भी रही होगी। इसका आभास हमें उन कतिपय रूपों में मिलता है जो कि व्याकरणिक विधानों के बाह्य भी प्रचलित रहे, जैसे लिंगानुशासन (सूत्र 30) के अनुसार अप, सुमनस्, सिकता, समा, वर्षा शब्द नित्य बहुवचनान्त तथा स्त्रीलिंग माने गये हैं। किन्तु इनका प्रयोग इससे भिन्न रूप में भी होता रहा। भट्टोजी दीक्षित के अनुसार, 'सुमनस्' शब्द का 'पुष्प' अर्थ में स्त्रीलिंग में तथा 'देवता' अर्थ में पुल्लिंग में प्रयोग होता है, (सुपर्वाणः सुमनसः)। ऐसे ही 'सिकता' तथा 'समा' का प्रयोग एक वचन में होता था। महाभाष्य में उद्धरण दिया गया है—एका च सिकता तैलदाने असमर्था, समा विराजते (सूत्र 5 1 2 के भाष्य में)। काशिका ने विभाषा ग्राहुर्पेट शाच्छासः (2 8 88) के भाष्य में 'सुमनस्' के एक वचनी तथा द्विवचनी रूपों का भी उल्लेख किया है। इस प्रकार के और भी अनेकानेक प्रयोग मिलते हैं जो कि पाणिनि जी के व्याकरणिक विधानों से प्रतिबद्ध नहीं होते। कट्टरतावादी वैयाकरण इस प्रकार के प्रयोगों को 'अपशब्दों' की संज्ञा से अभिहित करते हैं जब कि ये भाषा के जीवन्त होने का प्रमाण देते हैं।

इस सम्बन्ध में यह भी स्मरणीय है कि अपनी इस लम्बी यात्रा के दौरान संस्कृत ने जहां बहुत कुछ अर्जित किया वहीं बहुत कुछ खोया भी। अनेक शब्द, धातु, प्रत्यय, स्वर-प्रक्रिया आदि, जो कि वैदिक भाषा के अभिन्न अंग थे, वे संस्कृत तक आते-आते अपना रूप तथा महत्त्व खो बैठे, यथा शब्द भण्डार की दृष्टि से वैदिक भाषा के जो शब्द लौकिक संस्कृत में प्रयोग-बाह्य हो गये थे, उनमें से कतिपय इस प्रकार हैं—दशत 'सुन्दर', दृशीक 'सुन्दर', अक्तु 'रात्रि', अमीवा 'व्याधि', अतूदर 'दयालु', रपस् 'दुर्बलता, रोग', मूर 'मूर्ख', अमूर 'बुद्धिमान्', अमुया 'इस प्रकार', आशुया 'जल्दी में', रघुया 'तेजी में', साधुया 'ठीक से', मिथुया 'झूठमूठ से', यति 'इतने', तति 'उतने', त्वावत् 'तुम सा', तेरे बराबर, युवावत् 'तुम-सा', युष्मावत् 'तुम-सा', मावत् 'मुझ-सा', मेरे बराबर। ऐसे ही कद 'कौन, क्या', कोम 'सदा, हमेशा', माकीम् 'कभी नहीं, इद 'अभी', ईम 'हमेशा', सीम् 'हमेशा', मोसम् 'तुरन्त', आदि अनेक अव्यय भी प्रयोग बाह्य हो गये। इसी प्रकार धातु वर्ग में अनेक धातु ऐसे हैं जो कि या तो सर्वथा प्रयोगबाह्य हो गये या केवल आर्षिक प्रयोगों में ही अवशिष्ट रह गये। जैसे वाल्मीकि रामायण के प्रयोगों को देखने से पता चलता है कि संस्कृत में √वध्- तथा √हन्-, √आह- तथा √ब्रू-, के पूरे रूप बनते थे। इन साक्ष्यों के आधार पर अनुमान किया जा सकता है कि पाणिनि के द्वारा स्था- तथा तिष्ठ-, गम्- तथा गच्छ्- दृश्- तथा पश्य्-, मृग्- तथा मार्ग्-, दृश्- तथा दर्श्-, प्रछ्- तथा पृच्छ-, दा- तथा दद्-,

कृन्त- तथा कर्त्- के रूपों का लकार विशेष तथा वचन विशेष के लिए निर्धारण करने से पूर्व इनके सभी लकारो तथा वचनो मे पूरे-पूरे रूप बनते होगे। यहा तक कि 'पीने' के अर्थ मे प्रयुक्त √पा- धातु के भी तीन पृथक्-पृथक् धातु मूल रहे होंगे जिनके अवशेष पिबति (√पिब-), पातुम् (√पा-) तथा पीत्वा, पीतम् (√पी-) मे स्पष्ट रूप से देखे जा सकते हैं। इसी प्रकार कई धातु रूप, जो कि वाल्मीकि ने प्रयुक्त किये है, वे बाद मे लुप्त हो गये है, यथा मृदयन्ति (<√मृद-) 'मर्दन करते हैं', (रा 2 108 17), बीजयते (<√बीज-) पखा झलना है (रा 2 23 10), अबीजयत् (वही 6.60.14.)। ऐसे ही प्राकृतो मे दिण्णा जैसे रूप यह सकेत करते हैं कि सस्कृत मे दा- तथा दद्- के अतिरिक्त दि- धातु भी रहा होगा। धातु मूल √अस्- के अनेक रूपो का तो वैदिक से पूर्व ही लोप हो चुका था। सस्कृत की धातुओ के सम्बन्ध मे ह्विट्ने (1963: 243) के द्वारा प्रस्तुत विवरण के अनुसार पाणिनि द्वारा परिगणित धातु मूलो मे लगभग 200 ऐसे है जो कि वैदिक भाषा मे तो प्रचलित थे किन्तु लौकिक सस्कृत तक आते-आते प्रयोग-बाह्य हो गये। फलत. लौकिक सस्कृत में उनका प्रयोग बिल्कुल नही मिलता है (अन्य प्रकार के पदो तथा रूपो की प्रयोग बाह्यता के लिए देखिए—वैदिक तथा लौकिक मे अन्तर)।

वैदिक तथा लौकिक संस्कृत में अन्तर

यदि वैदिक सस्कृत का प्रारम्भ बिन्दु ऋग्वेद है तो साहित्यिक संस्कृत का वाल्मीकि रामायण। संस्कृत भाषा के इतिहास की दृष्टि से यह काल बड़े ही महत्त्व का है। वस्तुत यही वह काल है जिसमें हम संस्कृत के विकास के विभिन्न स्तरो को देख सकते हैं। ऋग्वेद तथा अथर्ववेद के मत्रो की भाषा, सहिताओ एव ब्राह्मणो की भाषा, ब्राह्मणो एव उत्तरवर्ती साहित्य की भाषा की पारस्परिक तुलना करने पर स्पष्ट हो जाता है कि सस्कृत में, एक जीवित भाषा मे कालक्रम मे पाये जाने वाले परिवर्तनो के समान, महत्त्वपूर्ण परिवर्तन हो रहे थे। रामायण मे आकर हम इस भाषा को इतने अधिक परिवर्तित रूप मे पाते है कि इसे एक पृथक् नाम से पुकारने की आवश्यकता प्रतीत होने लगती है। इस काल की भाषा, संरचनात्मक दृष्टि से, वैदिक भाषा से अनेक अशो मे पृथक् हो चुकी थी। रूप-रचना मे ही अनेक प्राचीन रूप-तत्त्व प्रयोग-बाह्य हो चुके थे तथा उनके स्थान पर अनेक नये रूप तत्त्वो का विकास हो गया था। अर्थतत्त्व की दृष्टि से भी अनेक शब्दो के अर्थों का संकोच-विस्तार हो चुका था, जिसे समझने के लिए ही निघण्टुओ और निरुक्तों की रचना की गई थी। नवीन भाषायी रूपो को समझने तथा भाषा के एक मानक रूप को स्थिर करने की दिशा मे प्रयास होने लगे थे, जिसकी चरम परिणति पाणिनि एवं कात्यायन मे आकर हुई।

वैदिक एवं साहित्यिक संस्कृत के बीच भाषायी विकास क्रम को पूरी तरह समझने एवं प्रस्तुत करने के लिए एक स्वतन्त्र ग्रन्थ की आवश्यकता होगी। क्योंकि इनके विकास के इस अन्तराल में इनमें सभी स्तरों—ध्वनि, रूप तथा अर्थ—पर पर्याप्त अन्तर आ चुका था। यहां पर हम संक्षेप में कुछ मोटे-मोटे अन्तरों की ओर संकेत मात्र ही कर सकेंगे। जिन्हें निम्नलिखित रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है—

ध्वनि-प्रक्रियात्मक विभेद : ध्वनि प्रक्रिया की दृष्टि में कतिपय महत्त्वपूर्ण अन्तर इस प्रकार हैं—

1 वैदिक संस्कृत में र का उच्चारण दन्त्य या वर्त्स्य माना गया है जबकि साहित्यिक संस्कृत में इसे मूर्धन्य माना गया है।[1] यही स्थिति ऋ एवं ऋृ के उच्चारण की भी है।[2]

2. स्वरान्तरवर्ती वैदिक ळ/ळ्ह का संस्कृत में ड, ढ हो गया था।

3 भारोपीय ल से विकसित वैदिक र का साहित्यिक संस्कृत में ल हो गया है, रघु (वै०) : लघु (सा०), रिह् (वै०) : लिह् (सा०)।

4 वैदिक इय्, उव् के स्थान पर य, व का विकास हो गया था, तनुवम्> तन्वम्।

5 स्वर एवं व्यंजन सन्धियों में अनेक प्राचीन रूपों का लोप एवं नवीन रूपों का विकास हो गया था। अभिनिहित सन्धि (पूर्वरूप) का रूप वेद में पर्याप्त *शिथिल है किन्तु लौकिक संस्कृत में काफी नियमित हो गया है, यथा* ऋग्० *आतो* अरोचत।। अन्यत्र भी सन्धि नियमों की शिथिलता देखी जाती है, यथा तितउना पुनन्तो आदि। इसी प्रकार पदान्त न् के बाद यदि त आ रहा तो बीच में स् का आगम हो जाया करता था, यथा—सर्वान्+तान्=सर्वांस्तान् इत्यादि।

6 व्यंजन ध्वनियों की दृष्टि से एक पूरे वर्ग, टवर्ग, का विकास हो गया था। यद्यपि वैदिक युग में ही इसका प्रारम्भ हो गया था किन्तु इसकी परिणति साहित्यिक भाषा में हुई।

7 वैदिक संस्कृत में र स्वर तथा व्यंजन दोनों ही था, पर साहित्यिक संस्कृत में यह केवल व्यंजन माना गया है।[3]

8 स्वर प्रक्रिया की दृष्टि से भी वैदिक तथा लौकिक संस्कृत में बड़ा भारी अन्तर आ गया था। वैदिक भाषा में उदात्तादि स्वरों का न केवल स्वनिमिक *महत्त्व था अपितु रूपिमिक महत्त्व भी था। शब्दों के अर्थों तथा व्याकरणिक* कोटियों के निर्धारण में इनका महत्त्वपूर्ण प्रभाव होता था। किन्तु लौकिक संस्कृत

---

1. दे० वर्मा, पृ० 8
2. दे० वही, पृ० 8-9
3. दे० वही, पृ० 58-60 (अ० सरू०)

तक आते-आते इनका स्वनिमिक महत्त्व समाप्त हो गया था, मात्र स्वनिक (Phonetic) महत्त्व रह गया था। साथ ही इनका रूप भी बदल गया था अर्थात् उसका रूप स्वराघात के स्थान पर बलाघातात्मक हो गया था।

रूपरचनात्मक विभेद

वैदिक तथा लौकिक संस्कृत में ध्वनि-प्रक्रिया की दृष्टि से इतने अन्तर नहीं पाये जाते जितने कि रूपरचना के प्रसंग में पाये जाते हैं। ये अन्तर अनेक एवं विविध प्रकार के हैं। सभी अन्तरों को यहाँ पर दिखाना न सम्भव है और न अपेक्षित ही, मात्र कतिपय प्रमुख अन्तरों पर प्रकाश डाला जायेगा, जो कि इस प्रकार हैं—

संज्ञापद-रचना सम्बन्धी विभेद

संज्ञा पदों की रूप-रचनाओं में सम्बद्ध विभेदों में प्रमुख हैं—लिंग, वचन एवं विभक्ति सम्बन्धी विभेद।

1 **लिंग-व्यवस्था**—वैदिक भाषा में संज्ञा पदों की रूप रचना में लिंग संबंधी नियमों की व्यवस्था ऐसी कठोर न थी जैसी कि लौकिक संस्कृत में पायी जाती है। मधु, शुचि आदि अनेक शब्द हैं जिनके रूप तीनों लिंगों में पाये जाते हैं। ऐसे ही विशाखा शब्द के रूप स्त्री लिंग तथा नपुंसक लिंग दोनों में मिलते हैं, यथा विशाखा नक्षत्रम् (का० सं० 39-13), विशाखं नक्षत्रम् (मैत्रा० सं० 2.13.20) एवं विशाखे नक्षत्रम् (तै० सं० 4.4 10 2)। वैदिक भाषा की इस अनियमितता को देखकर ही शायद महाभाष्यकार ने घोषित किया होगा—**लिंगमशिष्यम् लोकाश्रयत्वाद्लिंगस्य।**

2. **वचन-व्यवस्था**—लिंग व्यवस्था के समान ही वचन सम्बन्धी प्रयोगों में भी काफी स्वतंत्रता पायी जाती है। विशाखा के एक वचनी तथा द्विवचनी प्रयोग ऊपर के उदाहरणों में देखे जा सकते हैं। ऐसे ही **पुनर्वसु** नक्षत्र के रूपों में भी देखा जाता है, जैसे पुनर्वसु नक्षत्रम् (काठक० 29.13 तथा मैत्रा० 2.13.20) तथा **पुनर्वसू नक्षत्रम्** (तै० सं० 4 4.10)। प्रथम प्रयोग एक वचनी है तो द्वितीय द्विवचनी। इसी प्रकार हम देखते हैं कि नदी सूक्त में (ऋग् 3 33 4) विपाट् तथा शतद्रु इन दो नदियों के लिए नद्यः रूप प्रयुक्त किया गया है।

3 **कारक व्यवस्था**—दोनों भाषाओं में कारकीय प्रयोगों के सम्बन्ध में भी अनेकत्र विभेद दृष्टिगोचर होता है, जैसे **घृतस्य यजते। घृतस्ययजते** (कौ० ब्रा० 16.5) में षष्ठी विभक्ति का प्रयोग जब कि लौकिक संस्कृत के अनुसार तृतीया

होनी चाहिए। इसी प्रकार √हु-यजने के कर्म में द्वितीया के अतिरिक्त तृतीया विभक्ति के रूपों का प्रयोग, यथा यवाग्वाग्निहोत्रं जुहोति, या यवागुनाग्निहोत्रं जुहोति (शा० श्रौ० सू० 3 12 15-16), जब कि लौकिक संस्कृत के अनुसार इसे यवागूमग्निहोत्रं जुहोति होना चाहिए था। वैदिक भाषा के इस तृतीयान्त प्रयोग की पुष्टि पाणिनि ने भी की है—तृतीया होश्छन्दसि (2 3 3)। ऐसे ही √दिव्-'व्यवहृपणे' के योग में लौकिक भाषा में षष्ठी का विधान किया गया है, जैसे शतस्य दीव्यति, सहस्रस्य दीव्यति, किन्तु वैदिक में इस में द्वितीया का प्रयोग पाया जाता है, तथा पाणिनि द्वारा भी इसकी पुष्टि की गई है—द्वितीया ब्राह्मणे, (2.3 60)। इसी प्रकार के और भी अनेक भिन्न भिन्न प्रयोग पाए जाते हैं।

विभक्ति प्रत्ययों के वैकल्पिक रूप—वैदिक तथा लौकिक भाषाओं के रूपों में सर्वाधिक भेदवैषम्य पाया जाता है विभक्ति प्रत्ययों के योग में, जिनमें से कुछ इस प्रकार हैं—

1 आचार्य पाणिनि के अनुसार लौकिक भाषा में अकारान्त शब्दों के कर्ता, कर्म तथा सम्बोधन के द्विवचन का एक मात्र विभक्ति प्रत्यय है—औ, किन्तु वैदिक भाषा में सकेत-बोधक सर्वनामों के समान ही (यथा—एता/एतौ आदि) अकारान्त पुल्लिंग शब्दों के भी कतिपय रूप ऐसे देखे गए हैं जो *औ के अतिरिक्त-आ प्रत्यय* के योग से निष्पन्न होते हैं, जैसे नद्या, यमा, पर साथ ही पत्न्यौ, गवीयौ आदि भी। *इसके अतिरिक्त ईकारान्त स्त्रीलिंग शब्दों में शून्य प्रत्यय (प्रत्ययहीन)* रूप भी पाये जाते हैं, यथा—रोदसी, देवी, पृथ्वी, मही आदि।

2 लौकिक संस्कृत में अकारान्त पुलिंग शब्दों का एक मात्र बहुवचन प्रत्यय है—अस् (<अस्), किन्तु वैदिक भाषा में-अस् के अतिरिक्त-आसस् का भी प्रयोग होता था, जो कि आवृत्ति की दृष्टि से अस् की अपेक्षा कहीं अधिक प्रयुक्त होता था। फलतः उसमें अकारान्त शब्दों के दो-दो रूप बनते थे, यथा देवासः/देवाः, प्रियासः/प्रियाः।

3. इसी प्रकार ईकारान्त स्त्री लिंगी शब्दों में-अस् के अतिरिक्त-ईस् प्रत्यय का विकल्पन भी पाया जाता है, यथा देवीः, पत्नीः, उर्वीः, महीः आदि। पर साथ ही स्त्रियः, उर्व्यः सुपर्ण्यः, पवमान्यः भी। लौकिक में केवल अस् वाले रूप ही मिलते हैं।

इसी प्रकार पाणिनि के अनुसार नपुसक लिंगी शब्दों में प्रथमा तथा द्वितीया विभक्तियों के बहुवचन का एकमात्र प्रत्यय है—आनि, किन्तु वैदिक भाषा में इसके वैकल्पिक रूप में-आ प्रत्यय का योग भी पाया जाता है जो कि कुल रूपों के दो तिहाई में भी अधिक रूपों में प्रयुक्त हुआ है। वैदिक भाषा में इस सन्दर्भ में एकाधिक प्रत्ययों की स्थिति आचार्य पाणिनि द्वारा भी स्वीकृति की गई है—शेश्छन्दसि बहुलम् (6 1.70)। फलतः वैदिक भाषा में नामानि, विश्वानि,

भुवनानि के साथ-साथ नामा, विश्वा, भुवना आदि रूप में मिलते हैं।

इसके अतिरिक्त कतिपय उकारान्त शब्दो मे केवल दीर्घता भी पायी जाती है जैसे उरू, पुरू, वसू आदि, साथ ही-नि वाले रूप उरूणि, वसूनि, सानूनि, अश्रूणि आदि भी पाये जाते हैं। ऐसे ही इकारान्त नपुसक शब्दों में नि के अतिरिक्त ई तथा शून्य प्रत्यय वाले रूप भी पाये जाते हैं, जैसे अप्रति~अप्रती~अप्रतीनि, भूरि~भूरी/भूरीणि, शुचि/शुचीनि, सुरभि/सुरभीणि आदि।

4. वैदिक भाषा मे उकारान्त स्त्रीलिंग शब्दो के प्रथमा ब० व० मे-अस् के अतिरिक्त-उस् प्रत्यय की भी सत्ता पायी जाती है, फलत धेनु तथा इषु जैसे शब्दो के रूप धेनूः, इषूः आदि बनते है।

5 हम देखते हैं कि लौकिक भाषा मे तृ० ए० व० के प्रत्यय इन तथा ना पूरक वितरण मे हैं अर्थात् अकारान्त पदों के साथ इन तथा इकारान्त-उकारान्त के साथ ना का प्रयोग किया जाता है किन्तु वैदिक भाषा मे इन दोनो के अतिरिक्त आ (पा० टा) प्रत्यय भी प्रयुक्त होता था जो कि दोनो के ही साथ मुक्त विकल्पन में आ सकता था, जैसे, देवा/देवेन, यज्ञा/यज्ञेन, वीर्या/वीर्येण, स्वधा/स्वधया। आ तथा-ना का मुक्त विकल्पन उकारान्त पदो मे पाया जाता है। वैदिक भाषा मे एक ओर तो परश्वा, पश्वा, क्रत्वा, शिश्वा, इष्वा, मध्वा जैसे रूप मिलते हैं तथा दूसरी ओर अंशुना, अवतुना, इषुणा, उरूणा, इन्दुना, ऋजुना, मधुना आदि।

इनके अतिरिक्त इसमें कतिपय ऐसे रूप भी पाये गये हैं जो कि प्रत्ययहीन (शून्य प्रत्यय) स्थिति का निर्देश करते हैं, यथा अचित्ती (=अचित्या<अचित्ती)।

6 पाणिनि व्याकरण के अनुसार लौकिक सस्कृत मे तृ० ब० व० के विभक्ति प्रत्ययो के दो उपरूपिम है जो कि पूरक वितरण मे आते है अर्थात्-ऐस् का प्रयोग अकारान्त प्रातिपदिकों तथा अपुरुषवाची सर्वनामो के साथ तथा-भिस् का अन्यो के साथ, किन्तु वैदिक भाषा मे एक अन्य उपरूप-एभिस् भी पाया जाता है जो कि-ऐस् के मुक्त विकल्पन मे देखा जाता है, फलत. वैदिक भाषा मे देवैः~देवेभिः, प्रियैः~प्रियेभिः, पूर्वैः~पूर्वेभिः जैसे रूप सामान्यत पाये जाते है जब कि लौकिक भाषा में केवल-ऐस् वाले रूप ही पाये जाते हैं।

7. लौकिक सस्कृत मे उकारान्त पुंलिंग शब्दो मे चतुर्थी ए० व० के प्रत्यय ए (ङे) के सन्दर्भ मे देखा जाता है कि इसमे प्रातिपदिक के स्वर को गुण होकर 'अयादि' आदेश हो जाता है। वैदिक भाषा मे भी इस प्रकार के रूप मिलते हैं, जैसे वायवे, मनवे, मन्यवे, रिपवे आदि। किन्तु वैदिक भाषा मे इस प्रसग मे ऐसे रूप भी पाये जाते हैं जिनमे-ए प्रत्यय का योग सीधे ही प्रातिपदिक मूल के साथ हो जाता है जैसे क्रत्वे, शिश्वे, सहस्रवाह्वे, पश्वे, (नपु०) आदि।

8. लौकिक संस्कृत में पंचमी-षष्ठी विभक्तियों में उकारान्त पुल्लिग शब्दो

के साथ गुण पूर्वक स् (:) प्रत्यय का तथा नपुंसकलिंगी शब्दों के साथ-नस् का प्रयोग किया जाता है, किन्तु वैदिक संस्कृत में इन दोनों ही पद मूलों के साथ वैकल्पिक रूप से-अस् का भी प्रयोग देखा जाता है। फलतः हमें उसमें क्रत्वः, मध्वः, वस्वः, शिश्वः जैसे प्रयोग भी मिलते हैं तथा मधु के मध्वः~मधोः~मधुनः तीनों ही रूप मिलते हैं।

9 इसके अतिरिक्त षष्ठी ब० व० में कतिपय शब्द रूपों में-आम् से पूर्व -न् के आगम का अभाव भी पाया जाता है, यथा, नराम् (=नराणाम्), स्वस्राम् (=स्वसृणाम्) आदि, पर साथ ही ऐसे भी रूप मिलते हैं जहां कि लौकिक भाषा की प्रवृत्ति के विपरीत न् का आगम हो जाता है, यथा गवाम्~गोनाम्।

10 सप्तमी विभक्ति के एक वचनी रूपों में भी विभक्ति प्रत्ययों के योग में वैदिक तथा लौकिक भाषा में काफी अन्तर पाया जाता है। यथा—1. लौकिक संस्कृत में इकारान्त शब्दों के सप्तमी ए० व० में औ विभक्ति प्रत्यय का विधान किया जाता है, यथा—भूमौ, योनौ, समितौ आदि, किन्तु वैदिक में इस परिवेश में भी-आम् प्रत्यय वाले रूप पाये जाते हैं, यथा—भूम्याम्, युवत्याम्, अग्न्याम्, योन्याम्, *समित्याम्, भूत्याम् आदि।*

इसी प्रकार उकारान्त पद मूलों में औ तथा-ई प्रत्ययों का प्रयोग मुक्त विकल्पन में पाया जाता है, फलतः एक ओर तो क्रतौ, अप्सतौ, पशौ, मन्यौ, सिन्धौ आदि रूप मिलते हैं और दूसरी ओर दस्यवि (दस्यु+इ), त्रसदस्यवि, विष्णवि, सूनवि (सूनु+ई), मानवि (मनु०) आदि।

किन्तु नपुंसकलिंगी पदों में इन दोनों के अतिरिक्त एक नये प्रत्यय-नि का भी प्रयोग पाया जाता है, यथा आयुनि, दारुणि, ऋणि, सानुनि आदि (दे० मैक्डोनल, 1958 297),

इसके अतिरिक्त वैदिक भाषा में कतिपय, अन्, इ, उ, ई, से अन्त होने वाले पद मूलों में स० ए० व० के शून्य प्रत्ययी रूप भी पाये जाते हैं, जैसा कि लौकिक संस्कृत में नहीं देखा जाता है, यथा अहन् (=अह्नि) मूर्धन् (=मूर्ध्नि), तनी (=तन्वाम्), तन् (=तन्वि)।

11 सर्वनामों की रूप रचना में तो दोनों में कई प्रकार के अन्तर पाये जाते हैं। इन पर विस्तृत चर्चा वैदिक भाषा के प्रसंग में की जा चुकी है। उसे वहीं देख लेना चाहिए।

समस्त पद-रचना—समस्त पद-रचना की दृष्टि से संस्कृत भाषा के इन दोनों रूपों का तुलनात्मक अध्ययन किये जाने पर जो प्रमुख अन्तर हमारे सामने आते हैं वे हैं (1) समस्त किये जाने वाले पदों की संख्या तथा (2) समस्त पदों में लिंग-निर्धारण। सर्वविदित है कि साहित्यिक संस्कृत में समस्त किये जाने वाले पदों की संख्या की कोई सीमा नहीं। बाण तथा सुबन्धु जैसे गद्य लेखकों की भाषा में 20 से भी अधिक

पदों के समस्तपद पाये जा सकते हैं किन्तु वैदिक भाषा में समस्त किये जाने वाले पदों की संख्या सामान्यतः दो से अधिक नहीं होती।

जहां तक द्वन्द्व तथा तत्पुरुष समास में लिंग-निर्धारण की बात है उसमें लौकिक भाषा के विषय में आचार्य पाणिनि का विधान है कि इन समस्त पदों में लिंग का निर्धारण उत्तरपद के लिंग के अनुसार किया जाना चाहिए (परवल्लिंगं द्वन्द्व तत्पुरुषयोः (2-2-26), किन्तु वैदिक भाषा में इस प्रकार का कोई विधान नहीं देखा जाता है। फलतः हम देखते हैं कि संहिता में कहीं तो इस प्रकार के पदों में लिंग का प्रयोग पूर्वपद के लिंग के अनुसार किया गया है तथा कहीं उत्तर पद के लिंग के अनुसार। यथा वाजसनेयी संहिता में ही हमें कहीं तो अहोरात्रे (18-23), अहोरात्राणि में पूर्व पद 'अहन्' के अनुसार नपुंसक लिंग का प्रयोग मिलता है और कहीं उत्तर पद 'रात्रि' के अनुसार अहोरात्राः यथा—अहोरात्रास्ते कल्पन्ताम् (27-45) पुल्लिंग का। इसी प्रकार के कुछ और उदाहरण दिये जा सकते हैं।

हेमन्तशिशिरौ=हेमन्त (पु०)+शिशिर (नपु०) वाज सं० 10.14
उक्थामदानि=उक्था (नपुं०)+मद (पु०) अथर्व०, 4 35.4
उक्थार्का—उक्था (नपु०)+अर्का (पु०) ऋग् 6.34.1
उक्षवशौ—उक्ष (नपु०)+वशा (स्त्री) तै० सं० 2 1.44

इसके अतिरिक्त एक अन्य उल्लेखनीय अन्तर जो इन दो भाषाओं के बीच देखा जा सकता है वह यह कि वैदिक भाषा में समस्त पदों में पूर्व पद के रूप में वर्तमान-कालिक कृदन्त का भी प्रयोग हो सकता था जैसे विवद्वसु, सादद्योनिः आदि में, किन्तु लौकिक भाषा में इस प्रकार की पद-रचना सर्वथा अनुपलब्ध है।

क्रियापद-रचना सम्बन्धी विभेद—संस्कृत भाषा के इन दो स्तरों के बीच पाये जाने वाले कतिपय उल्लेखनीय अन्तर इस प्रकार हैं—

1 वैदिक भाषा में लकारों के 10 भेद थे किन्तु लौकिक में केवल 9 रह गये। लेट् लकार बिल्कुल ही प्रयोग बाह्य हो गया। अन्य लकारों के प्रयोगों में भी काफी अन्तर आ गया। इस दृष्टि से सबसे अधिक महत्वपूर्ण अन्तर यह आया कि जहां वैदिक भाषा में लकारों का सम्बन्ध काल विशेष के साथ सम्बन्ध न होकर प्रकारता विशेष के साथ हुआ करता था, वहां ये अब काल विशेष व वृत्ति विशेष के साथ सम्बद्ध हो गये। फलतः जहां लङ्, लिट् का प्रयोग वैदिक भाषा में सभी कालों के लिए किया जाता था वहां लौकिक भाषा में इनका प्रयोग भूत के भिन्न-भिन्न रूपों के लिए नियत कर दिया गया था।

2. वैदिक भाषा में लकारों के प्रयोग व्यत्ययों को इन रूपों में देखा जा सकता है। देवो देवेभिरागमत् (ऋग्, 1-1-5) 'हे अग्नि देव! देवताओं के साथ यहां आओ।' इसमें लोट के अर्थ में लङ् (आगमत्) का प्रयोग किया गया है। ऐसे ही

अग्निमद्य होतारमवृणीतायं यजमानः (मैत्रा० सं० 4-13-9) 'आज के लिए इस यजमान ने अग्नि का होता के रूप में वरण किया है।' यहां पर लट् के अर्थ में लङ् का प्रयोग किया गया है। ऐसे ही निम्न रूप भी हैं यत् सायं जुहोति राम्यं तेन दाधार (मैत्रा० 1-8-1), लट् के अर्थ में लिट्। ये भूतस्य प्रचेतम् इदं तेभ्योः करम् (ऋग् 10-85-17), लट् के अर्थ में लिङ्। उतत्व पश्यंत ददर्शवाचमुतत्व शृण्वन्न शृणोत्येनाम् (ऋग् 10-71 4), लट् के अर्थ में लिट्।

3. वैदिक भाषा में धातुओं के लिए आत्मनेपद, परस्मैपद जैसा कोई विभाजन नहीं था। प्रायः सभी धातुओं की दोनों रूपों में पद रचना की जाती थी। *इतना ही नहीं, अपितु धातुमूल गण विशेष के साथ भी आबद्ध नहीं थे।* ऐसे अनेक धातु हैं जिनकी रूप-रचना 2,3,4, तथा 5 गणों के अनुसार पायी जाती है। पाणिनि ने 'व्यत्ययं बहुलम्' (3-1-85) के रूप में इस स्थिति को स्वीकारा भी है। फलत. कृ-धातु के रूप भ्वादि (करति), स्वादि (कृणोति~कृणुते), तनादि (करोति/कुरुते), तुदादि (क्रियते) गणों के अनुसार पाये जाते हैं।

4 क्रियापदों के वाच्यात्मक प्रयोगों की दृष्टि से भी देखा जाता है कि वैदिक भाषा में कर्तृ वाच्य रूपों का बाहुल्य है तथा भाववाच्य रूपों का सर्वथा अभाव, किन्तु लौकिक भाषा की अधिक प्रवृत्ति कर्मवाच्य प्रयोगों की ओर है तथा भाव-*वाच्य प्रयोग भी पर्याप्त संख्या में मिलते हैं।*

5 रूप रचनात्मक प्रत्ययों की दृष्टि से भी संस्कृत के इन दोनों रूपों में कई अन्तर पाये जाते हैं। यथा वैदिक भाषा में लट् लकार के उत्तम पुरुष ब० व० में दो प्रत्यय पाये जाते हैं—मस् और मसि तथा दोनों का प्रयोग मुक्त विकल्पन में किया जाता है, फलत. इसके दो-दो रूप मिलते हैं जैसे—स्मः/स्मसि, भवामः/भावमसि, चरामः/चरामसि आदि, किन्तु लौकिक, भाषा में केवल मस् वाले रूप ही मान्य समझे गये। रूप-रचना की दृष्टि से वैदिक भाषा में कई धातुओं के आत्मनेपद प्रयोग तथा रूप रचनात्मक प्रत्ययों के योग के ऐसे रूप पाये जाते हैं, जिनको स्वीकृति पाणिनीय व्याकरण नहीं देता, यथा—(आत्मने० प्र० पु०, ब० व०) ददामहे<√दा-, वृमहे<√वृ-, निनीमहे<√नी-, तुष्टुमहे<√ष्टु-, जगन्महे<√गम्- आदि।

इसी प्रकार लोट् लकार उत्तम पुरुष, एक वचन में भी दो प्रत्ययों, -आ तथा -आनि का प्रयोग मुक्त विकल्पन में पाया जाता है, यथा—भवा~भवानि, जबकि लौकिक संस्कृत में केवल आनि वाला रूप ही व्याकरण सम्मत माना गया है।

ऐसे ही लोट् मध्यम पुरुष एक वचन में त तथा तात् का मुक्त विकल्पन पाया जाता है, यथा कृणुत~कृणुतात्, वेद~वित्तात् आदि। किन्तु लौकिक में केवल त प्रत्ययान्त रूप ही पाये जाते हैं। इसके अतिरिक्त अन्य पुरुष, ए० व० में

भी तात् का प्रयोग देखा जाता है, जैसे गच्छतात्, विशतात्।

वैदिक भाषा में लोट् आत्मने०, म० पु०, ए०व० में तीन प्रत्ययों—ध्वम्, ध्व, तथा ध्वात् की स्थिति पायी जाती है, किन्तु लौकिक में ध्वात् सर्वथा प्रयोग बाह्य हो गया था।

6 लौकिक भाषा में लङ्, लुङ् तथा लृङ् लकारों में अट् तथा आट् के आगम के सम्बन्ध में स्थिति बिल्कुल स्पष्ट है अर्थात् हलादि धातुओं के साथ अट् तथा अदादियों के साथ आट् का प्रयोग किया जाता है। (आडजादीनाम्, पा० 6.4.72), किन्तु वैदिक में ऐसी कोई व्यवस्था नहीं। दोनों का मुक्त विकल्पन में अनियन्त्रित प्रयोग किया जाता था, यथा—आविधात्~अविधात् < √ विध्, आयुनक्~अयुनक् < √युज्:

इसके अतिरिक्त यह भी स्मरणीय है कि वैदिक भाषा में इन लकारों में अट् या आट् का आगम आवश्यक नहीं समझा जाता था। वधीम् वृत्रम् (=अवधिषम्), क्रमीम् वृक्षस्य शाखाम् (=अक्रमिषम्)। इन प्रयोगों में यह भी दर्शनीय है कि जहां वैदिक भाषा में संरचक प्रत्यय केवल म् है वहां लौकिक में षम् हो गया है।

7. क्रियापद रचना के प्रसंग में एक अन्य उल्लेखनीय विशेषता यह भी पायी जाती है कि लौकिक भाषा के समान वैदिक भाषा में जुहोत्यादि गण के धातुओं की रूपरचना में धातु मूल का द्वित्वीकरण आवश्यक नहीं था। फलतः इनके दो-दो रूप बनते थे, जैसे ददाति~दाति < √दा, दधाति~धाति < √धा आदि।

8. कृदन्तीय रचनाओं में भी दोनों में कई अन्तर पाये जाते हैं। इनमें से विशेष रूप में उल्लेखनीय हैं 'तुमुनार्थक' तथा 'क्त्वार्थक' प्रत्ययों का वैविध्य।

वैदिक में भाववाचक तुमुनार्थ के अभिव्यंजक 16 प्रत्ययों की स्थिति पायी जाती है, यथा—असे (जीवसे/दोहसे), तवै (पातवै/गन्तवै), से (वक्षे, अभिप्रचक्षे), कसेन (भरसे/म्रियसे), कसेन् (ऋचसे, भियसे), अध्यै (चरध्यै/जमध्यै), अध्यैन्, (गमध्यै, सहध्यै), कध्यै (दुहध्यै, वृंजध्यै), कध्यैन् (आहुध्यै), सध्यै (मादयध्यै, पृणध्यै), सध्यैन् (पिबध्यै), त्वेङ् (सूतवे, एतवे), त्वेन् (कर्तवे, गन्तवे), तवैन् (दातवै, गन्तवै), तुमुन् (दातुम्, गन्तुम्) आदि। किन्तु लौकिक संस्कृत के मानकीकृत रूप तक पहुंचते-पहुंचते केवल अन्तिम रूप ही भाषा में प्रयुक्त किये जाने की स्वीकृति पा सका।

इसी प्रकार क्त्वार्थक प्रत्ययों के उपसर्गहीन प्रयोग की स्थिति में 4 रूप नामतः त्वा, त्वी, त्वाय, तथा त्वीनम् एवं सोपसर्ग स्थिति में य तथा त्य रूप पाये जाते हैं, यथा—खात्वी (खोदकर), पीत्वा, सुप्त्वा, कृत्वाय (करके), गत्वाय (जाकर), इष्ट्वीनम् (यजन करके), पीत्वीनम् (पीकर) आदि। किन्तु लौकिक संस्कृत में केवल एक रूप अर्थात् क्त्वा को ही मान्यता मिल सकी थी।

यही स्थिति भविष्यार्थक कृदन्त प्रत्ययों की भी देखी जाती है यथा ऋग्वेद में इस अर्थ में जो प्रत्यय पाये जाते हैं वे हैं य, आय्य, तेय्य, एन्य, त्व, तव्य, अनीय, किन्तु लौकिक में केवल य, तव्य, तथा अनीय को ही मान्यता मिली है। इसमें से तव्य एवं अनीय का प्रयोग अथर्ववेद के उत्तरवर्ती काल में ही पाया जाता है।

9 वैदिक संस्कृत में य मूल वाले धातुओं के साथ इच्छार्थक सन् प्रत्यय का योग होने पर य का इ हो जाता था, यथा—इयक्षा, किन्तु साहित्यिक संस्कृत में इसका रूप यियक्षा ही पाया जाता है। यह प्रवृत्ति ब्राह्मण ग्रन्थों में ही दिखाई देने लगती है, यियंस<यम्+सन्, यियप्स<यभ्+सन् आदि।

10 उपसर्गों का स्वतन्त्र प्रयोग—उपसर्गों के प्रयोग की दृष्टि से इन दोनों भाषाओं में जो अन्तर दृष्टिगत होता है वह यह कि वैदिक भाषा में उपसर्गों की स्वतन्त्र सत्ता थी तथा उनका प्रयोग वाक्य में कहीं भी पृथक् रूप में हो सकता था किन्तु लौकिक संस्कृत में उनकी स्थिति क्रियापद से नियतपूर्व में निश्चित कर दी गयी थी। इनके कतिपय वैदिक प्रयोग इस प्रकार हैं—आ त्वा विशन्तु 'वे तुझमें प्रवेश करें' (=आविशन्तु)।

इन्द्रो गा अवृणोत् अपा 'इन्द्र ने गायों को बन्द कर दिया' (=अपावृणोत्)। परि द्यावापृथिवी यन्ति नद्यः 'नदियां द्यावा पृथिवी के चारों ओर चलती हैं' (=परियन्ति)।

इन्द्रो वायू इमे सुता उप प्रयोभिरागतम् (=उपागतम्)।

आ ये तन्वन्ति रश्मिभिस्तिरः समुद्रमोजसा (=आतन्वन्ति)।

अभि त्वा पूर्व पीतये सृजामि सोम्यं मधु (=अभिसृजामि)।

11 तुलना बोधक प्रत्ययों के योग में भी देखा जाता है कि वैदिक संस्कृत में इनका योग संज्ञा, सर्वनाम, विशेषण, व्यक्तिवाचक संज्ञा, विभक्ति प्रत्यय, क्रियार्थक संज्ञा सभी के साथ हो सकता था, किन्तु लौकिक संस्कृत में इनका योग केवल विशेषणों के साथ ही हो सकता है। इनके कतिपय वैदिक प्रयोग इस प्रकार हैं—

करिष्ठ=कर्तृ+इष्ठ, वहिष्ठ=वहितृ+इष्ठ, वहीयस्=वहितृ+ईयस्, कवितर, कवितम, पूर्वाह्णेतरे, पूर्वाह्णतरे, पूर्वाह्णेतमे, पूर्वाह्णतमे, (विभक्ति-प्रत्ययों के बाद), प्रतरम्, प्रतमम्, प्रतराम् (स्त्री०), प्रतमाम् (स्त्री०), उत्तरम् उत्तमम् (उपसर्गों के साथ),—मरुत्तम, इन्द्रतम, [illegible] (व्यक्तिवाचक संज्ञाओं के साथ।

12 गणनावाचक शब्दों के सम्बन्ध में भी वैदिक भाषा की कतिपय संरचनात्मक विशेषताएं पायी जाती हैं। इसके अनुसार किसी भी दशक की पूर्ण संख्या में न्यून की जाने वाली संख्या के साथ तृतीया, चतुर्थी, पंचमी के विभक्ति प्रत्ययों का योग करके तथा उसमें न्यूनार्थक न लगाकर अभिलषित संख्या का बोध कराया जाता था, यथा एकया न त्रिंशत् (=एकोनत्रिंशत्) 29।

एकस्यै न पञ्चाशत् (=एकोनपचाशत्)। 49.
एकान्न विंशति (=एकोनविंशति) 19.
द्वाभ्यां नाशीतम् (=अष्ठसप्तति) 78.
पंचभिर् न चत्वारि शतानि (=पचनवत्युत्तर चतुश्शतम्)।

इसके अतिरिक्त अन्य सख्यावाचक पदों की सरचना अंग्रेजी के समान दशक बोधक पद के बाद अभिलषित संख्या बोधक पद का योग करके की जाती थी, जैसे त्रिंशत् त्रीं (=त्रयः त्रिंशत् 33) अशीतिरष्टौ (अष्टाशीति 88), नवतिर्णव (=नवनवति 99), (विस्तृत विवरण के लिए दे० ह्विट्ने 1955 : 179)।

भाग—तीन

स्वन प्रक्रिया

1

भाषिक विकास (ध्वन्यात्मक)

भाषा के सन्दर्भ में विकास का अर्थ होता है उसके रूपों मे होने वाला परिवर्तन। यह परिवर्तन ध्वनि, रूप तथा अर्थ किसी भी स्तर पर हो सकता है। यहां पर हम केवल ध्वन्यात्मक परिवर्तन के कारणो और दिशाओं के सम्बन्ध मे ही कुछ चर्चा करेंगे।

ध्वनि-परिवर्तन

ध्वनि-परिवर्तन का अध्ययन दो रूपो मे किया जा सकता है। एक किसी भाषा के ऐतिहासिक विकास-क्रम मे होने वाला परिवर्तन तथा दूसरा भाषा के व्यावहारिक रूपों मे होने वाला परिवर्तन। यहां पर हम केवल प्रथम प्रकार के विषय में ही चर्चा करेंगे। पीछे संस्कृत ध्वनियों के विकास के सम्बन्ध मे हम देख आये है कि मूल भारोपीय से लेकर वैदिक संस्कृत तक पहुंचते-पहुंचते उसकी मूल ध्वनियों मे अनेक प्रकार के परिवर्तन हुए है अर्थात् कई मूल ध्वनिया सर्वथा लुप्त हो गयी हैं, कई ऐसी ध्वनिया अस्तित्व मे आ गयी हैं जिनकी सत्ता मूल भारोपीय मे थी ही नहीं, तथा कई ध्वनिया अपने मूल रूप को छोड़कर नये-

नये रूपों में विकसित हो गयी है। इस विकास-क्रम में कुछ का मूल रूप सर्वथा ही बदल गया है तो कुछ में आंशिक परिवर्तन आया है।

इस अध्याय में हम इसी बात की चर्चा करेंगे कि ध्वनियों में ये परिवर्तन क्यों होते हैं तथा इन ध्वन्यात्मक परिवर्तनों के क्या-क्या रूप या दिशाएं होती हैं। यहां पर इन परिवर्तनों के सम्बन्ध में इतना कहना ही पर्याप्त होगा कि ऐतिहासिक कालक्रम में उपलब्ध किसी भी भाषा की किन्हीं दो कालों की भाषिक सामग्री को देखने से भाषा के स्वरूप के विषय में यत्किंचित् जानकारी रखने वाला कोई भी व्यक्ति देख सकता है कि उनमें इन रूपों में कहीं-न-कहीं अन्तर आ गया है। यह अन्तर ध्वन्यात्मक भी हो सकता है, रूपात्मक भी तथा अर्थपरक भी। परिस्थितियों तथा कालावधि की भिन्नताओं के अनुसार उनकी मात्रा में न्यूनाधिकता हो सकती है। यद्यपि सामान्यत: ध्वनि परिवर्तनों की गति बहुत मन्द होती है तथा ध्वनियों के एक सीमित वर्ग को ही प्रभावित करती है पर कभी-कभी किसी शब्द विशेष में किसी व्यक्ति विशेष के श्रवणात्मक अथवा उच्चारणात्मक दोष से उद्भूत ध्वनि परिवर्तन अपेक्षाकृत न्यून समय में ही भाषा विशेष में स्थान पा लेता है। हिन्दी में प्रचलित लालटैन, तिरपाल, कारतूस, रगरूट आदि अनेकों विदेशी शब्दों में पाया जाने वाला ध्वनि-परिवर्तन इसी कोटि का होता है। साथ ही भाषा विज्ञान की शब्दावली में वर्णविपर्यय (metathesis) तथा समाक्षर लोप (haplology) के नाम से अभिहित परिवर्तन भी इसी कोटि में आते हैं।

ध्वनि-परिवर्तन के कारण

ध्वनि-परिवर्तन चाहे परिवर्तन की दीर्घकालिक प्रक्रिया का परिणाम हो या लघुकालिक प्रक्रिया का, सर्वथा निष्कारण नहीं होता है। उसके पीछे कोई न कोई भाषिक या भाषितेतर कारण अवश्य होता है। विभिन्न भाषाओं के ध्वन्यात्मक परिवर्तनों का विश्लेषण करने पर देखा गया है कि ये कारण मुख्यत: दो प्रकार के होते हैं, (1) आदेशात्मक (substitutive) तथा (2) विकासात्मक (evolutive), जिनका निरूपण निम्न प्रकार से किया जा सकता है।

आदेशात्मक कारण—आदेशात्मक कारणों के दो रूप होते हैं—उच्चारणगत तथा श्रवणगत। प्रथम का सम्बन्ध वक्ता के साथ तथा *द्वितीय का श्रोता के साथ* होता है। क्योंकि वाग्व्यवहार का सम्बन्ध सदा ही उच्चार तथा श्रवण की क्रियाओं के साथ होता है अत: इन दोनों ही छोरों पर इसमें विकार की सम्भावना सदा *बनी रह सकती है।* एकाकी व्यक्ति के द्वारा वाग्व्यवहार की सम्भावना न होने से उसमें विकार की सम्भावना भी नहीं की जा सकती है। सामान्य रूप से इन दो छोरों पर होने वाले विकारों के मूल कारणों का पृथक्-पृथक् विवेचन इस प्रकार किया जा सकता है. आदेशात्मक कारणों के अनेक रूप हो सकते हैं, सबका विवरण दे पाना

सरल नही, फिर भी प्रमुख रूप मे निम्नलिखितो का परिगणन किया जा सकता है।

वाक्यन्त्रो का वैविध्य—यह एक सर्वमान्य तथ्य है कि किन्ही भी दो व्यक्तियो के वाक्यन्त्र एक समान नही हो सकते। फलत उनके उच्चारणो मे भी अन्तरो का पाया जाना स्वाभाविक ही है। कई बार यह अन्तर वाक्‌दोष के कारण भी हो सकता है किन्तु इसी से भाषा मे ध्वनि-परिवर्तन हो जाया करते है, यह मानना उचित नहीं। क्योकि किसी भी व्यक्ति मे ऐसी शक्ति नही हो सकती कि वह अपने सम्पूर्ण भाषाई समाज पर अपने उच्चारण को आरोपित कर दे, और न ही कोई ऐसी शक्ति है जो कि किसी ध्वन्यात्मक परिवर्तन का साधारणीकरण कर सके।

भाषा के अर्जन की प्रक्रिया के अध्ययन मे भी प्रतीत होता है कि बालक अनुकरण की पद्धति से अपनी मातृभाषा का अर्जन करता है। किन्तु अनुकरण वह ध्वनियो का नही अपितु शब्दो अथवा ध्वनिसमूहों का करता है, साथ ही इन ध्वनियो का प्रथम बार श्रवण करने पर तो वह सफल उच्चारण कर ही नही पाता है। इसीलिए किसी शब्द को सुनने के उपरान्त बालक तब तक अपने उच्चारण को ठीक करने का प्रयत्न करता रहता है जब तक कि उसे यह विश्वास नही हो जाता कि वह तदनुरूप ही उच्चारण कर रहा है। किन्तु श्रवणात्मक एवं उच्चारणात्मक अन्तरो के कारण वह प्रयत्न करने पर भी बिल्कुल उन्ही ध्वनियो का उच्चारण नही कर पाता है। यत्किंचित् अन्तर रह ही जाता है। बार-बार उच्चारण की इस प्रक्रिया मे उसके वागवयवो का एक रूप स्थिर हो जाता है और फिर वे स्वचालित रूप से उन ध्वनियो का उसी रूप मे उच्चारण करते रहते है।

किसी भाषा के विकास की स्थितियो का अध्ययन करने से इस बात का भी पता लगता है कि उस भाषा की उच्चारण प्रक्रिया का सम्प्रेषण एक पीढ़ी से दूसरी पीढी मे निरवच्छिन्न रूप मे नही होता है। प्राय. माता-पिता तथा उनकी सन्तान की ध्वन्यात्मक प्रक्रिया मे यत्किंचित् अन्तर आ ही जाता है, और यही अन्तर धीरे-धीरे इतने विस्तृत होते जाते हैं कि कुछ पीढ़ियो के उपरान्त उन दो रूप मे पर्याप्त अन्तर दिखाई देने लगता है।

इन अन्तरो के मूल मे शरीर क्रियात्मक तत्त्वो का भी योग हो सकता है, यथा वागवयवों के किसी अंश का विस्तृत या सुकुचित होना अथवा स्नायुओ के क्षीण एव मन्द हो जाने से उचित रूप से ध्वनियो का उत्पादन न कर सकना अथवा इसके विरुद्ध उनके प्रबल हो जाने से अधिक बल एव गति से ध्वनियो का उच्चारण कर सकने मे समर्थ होना आदि। इसके अतिरिक्त यह भी होता है कि माता-पिता के वागवयवो की अपेक्षा बालक के अवयवो की गति भिन्न होती है जिससे कि वह

उनके ध्वनिक्रम के स्थान पर एक नवीन ध्वनिक्रम को प्रयुक्त करने लगता है, पर यह सब कुछ अबोध रूप में ही होता रहता है। उसे इसका आभास तक नहीं होता है। किन्हीं अंशों में भिन्न होने पर भी वह यही समझता रहता है कि वह अपने माता-पिता के उच्चारण के अनुरूप ही उच्चारण कर रहा है, अन्यथा वह उसमें सुधार के लिए प्रयत्नशील अवश्य होगा।

इतना ही नहीं, किसी भी भाषा के ध्वनि वैज्ञानिक विश्लेषण में वागवयवों की नियत स्थिति, श्वास की मात्रा, उच्चारण प्रयत्न आदि का विवरण उस काल विशेष के सापेक्ष होते हैं, सार्वकालिक नहीं, क्योंकि इनके रूपों एवं स्थितियों में समय-समय पर परिवर्तन होता रहता है। किन्तु तुलनात्मक भाषा विज्ञान के आधार पर विशाल पैमाने पर पाये जाने वाले ध्वनि परिवर्तनों को देखने से यह भी स्पष्ट है कि इन परिवर्तनों का कारण असफल अनुकरण या दूसरी पीढ़ी के किसी एक व्यक्ति के विकृत उच्चारण तक ही सीमित नहीं हो सकता है। साथ ही सम्पूर्ण रूप से देखने पर यह परिवर्तन न केवल ध्वन्यात्मक रूपों में अपितु रूपात्मक एवं अर्थात्मक रूपों में भी पाया जाता है। अतः इनके कारणों पर विस्तृत रूप से विचार करना अपेक्षित होगा।

भाषा में होने वाले परिवर्तनों के सम्बन्ध में यह स्मरणीय है कि ये परिवर्तन अन्य क्षेत्रों में पाये जाने वाले परिवर्तनों के समान शीघ्र ही लक्षित नहीं होते हैं। इन्हें फलित होने में काफी लम्बा समय लगता है। कई बार तो कई पीढ़ियों के उपरान्त कोई परिवर्तन अपनी पूर्णता को प्राप्त हुआ करता है। इसके साथ ही यह भी स्मरणीय है कि किसी परिवर्तन के मूल में केवल एक ही कारण होता हो, ऐसी बात भी नहीं। प्रायः इसमें एकाधिक कारणों का योग हुआ करता है।

प्रयत्न लाघव—प्रयत्न लाघव, जिसे कभी-कभी उच्चारण की सुविधा या मुखसुख भी कह दिया जाता है, सभी भाषाओं में ध्वनि-परिवर्तन का अन्यतम प्रमुख कारण समझा जाता है। उच्चारण की सुविधा अथवा थोड़े से ही शब्दों से अभिप्रेत अर्थ का सहेत बोध कराने के इच्छुक व्यक्ति प्रायः शब्दों को सरल या संक्षिप्त करके बोला करते हैं। सुविधाजनक होने के कारण बड़ी शीघ्रता से इस प्रकार की प्रवृत्तियों का अनुकरण भी किया जाने लगता है, फलतः शब्द की मूल ध्वनियों के स्थान पर सरल एवं संक्षिप्त ध्वनि समूह-प्रयोग में आने लगता है। अंग्रेजी में विशेष रूप से यह परम्परा प्रचलित है, जैसे ट्यूबर क्लोसिस के लिए 'टी० बी०' या टेलीविजन के लिए 'टी० वी०' अथवा रेफ्रिजिरेटर के लिए 'फ्रिज' या एरोप्लेन के लिए 'प्लेन'। इसी प्रकार रेलगाड़ी के लिए 'गाड़ी' तथा 'रेलवे स्टेशन' के लिए 'स्टेशन,' 'अब ही' का 'अभी' 'कब ही' का 'कभी' इसी प्रवृत्ति के परिणायक हैं। आधुनिक भाषाओं में ही नहीं, प्राचीन भाषाओं में भी संक्षिप्तीकरण

की प्रवृत्ति देखी जाती है, यथा संस्कृत में इन्द्र का पर्यायवाची शक्र, 'शतक्रतु' का संक्षिप्त रूप है, इसी प्रकार शुक्ल तथा कृष्ण पक्षों के लिए प्रयुक्त किये जाने वाले शब्द शुदी तथा बदी, शुक्ल दिवस एवं बहुल दिवस के ही संक्षिप्त रूप हैं।

संस्कृत तथा प्राकृत के ध्वनि परिवर्तनों के मूल में यह प्रवृत्ति सबसे अधिक कार्यशील दिखाई देती है। अघोष व्यंजनों का लोप तथा संयुक्त व्यंजनों का सरलीकरण या समीकरण इसी प्रवृत्ति के अधीन हुआ है। उच्चारण की सुविधा की प्रवृत्ति का ही परिणाम है कि हिन्दी में ब्रम्हा का उच्चारण ब्रह्मा तथा चिह्न का उच्चारण चिन्ह अथवा चक्र का चक्कर या चर्मकार का चमार हो गया। अंग्रेजी में भी शब्द के प्रारम्भ में आने वाले kn-या wr-में से प्रथम व्यंजन का लोप अथवा शब्दों के मध्य में आने वाले व्यंजन संयोगों, यथा-lk, ght आदि का लोप इसी सर्वभौम प्रवृत्ति के ही कारण हुआ है।

भावातिरेक—भावातिरेक की स्थिति में हमारे वागवयव अनेक प्रकार से प्रभावित हो जाते हैं। हम देखते हैं कि भावाभिभूत व्यक्ति शब्दों की सामान्य अभिव्यक्ति नहीं कर पाता है। स्नेहाधिक्य या आवेश की स्थिति में वागध्वनियां सहज ही प्रभावित हो जाया करती हैं। फलतः सामान्य ध्वनिक्रम में व्यतिरेक उत्पन्न हो जाता है। प्रायेण देखा यह गया है कि आवेश की स्थिति में ध्वनियों में समास की प्रवृत्ति तथा स्नेहाधिक्य में व्यास की प्रवृत्ति हुआ करती है। हिन्दी में बधू का बहुरिया तथा कृष्ण का कान्हा होकर कन्हैया आदि शब्द इसी प्रवृत्ति की देन है। संस्कृत में भी पुत्र का पुत्रक, पोत का पोतक, बधू का बधूटी, कुटी का कुटीर, कन्या का कन्यका इसी प्रवृत्ति के द्योतक हैं।

विदेशी प्रभाव—कभी-कभी दो भिन्न प्रकार की ध्वनि प्रक्रिया वाली भाषाओं के बोलने वालों का दीर्घकाल तक निकट सम्पर्क रहने के कारण एक भाषा की ध्वनियां दूसरी भाषा की ध्वनियों को प्रभावित कर डालती है। फलतः उस भाषा में नयी ध्वनियों अथवा संयोगों की स्थिति पायी जाने लगती है। हिन्दी तथा फारसी भाषाओं के निकट सम्पर्क के प्रभाव को ख, फ, ग़, ज़ आदि ध्वनियों में तथा उर्दू, हिन्दवी की मूर्धन्य ध्वनियों में देखा जा सकता है। संस्कृत में चर/चल् 'चलना', तार/ताल् 'ताडवृक्ष', जल/जड 'पानी', दाडिम/डालिम, रेखा/लिखा, तुषारः/तुखारः 'एक जाति', लोक्/लोच्-'देखना' जैसे युग्म इसी के परिणाम हैं।

अपूर्ण अनुकरण—जैसा कि ऊपर कहा गया है—ध्वनि परिवर्तन में वक्ता तथा श्रोता दोनों का योग होता है। कभी-कभी श्रवणेन्द्रिय की विकलता अथवा दोनों भाषाओं में ध्वनि प्रक्रियात्मक विभेदों के कारण श्रोता किन्हीं ध्वनियों को उनके मूल रूप से कुछ भिन्न रूप में सुनता है और उन्हें उसी रूप में प्रयुक्त करने लगता है। कुछ अन्य लोग जो कि उस शब्द की मूल ध्वनियों से परिचित नहीं होते, उनका भिन्न रूप में प्रयोग करने लगते हैं। अंग्रेजी में असफल अनुकरण के

कारण ही तो कालिकोता का कलकत्ता, मुम्बई का बम्बई, पुणे का पूना, देहली का डिल्ही, दिल्ली, गुवाहटी का गोहाटी, ठाकुर का टैगोर, सिंह का सिन्हा, गुप्त का गुप्ता, सुदृढ़ का सुफर हो गया।

भ्रामक व्युत्पत्ति—कई बार किसी अन्य भाषा के किसी शब्द को भ्रम से श्रोता की अपनी भाषा के किसी अन्य समरूप ध्वनि वाले शब्द के साथ जोड़ दिया जाता है। उदाहरणार्थ, मृत्यु के वाचक उर्दू-फारसी के 'इंतिकाल' शब्द को हिन्दी के 'अन्तकाल' के *साथ मिला देने से हिन्दी में भी मृत्यु के लिए 'अन्तकाल' शब्द प्रचलित हो गया। इसी प्रकार अंग्रेजी के 'आर्मड चेअर' का हिन्दी में 'आराम कुर्सी' तथा 'मैकन्जी' का 'मकफ़रजीन' भी हो गया।*

विकासात्मक कारण—ध्वनियों के विकासात्मक परिवर्तन के मूल में भी अनेक आन्तरिक एवं बाह्य कारणों का योग हुआ करता है, जिनमें से कुछ प्रमुख इस प्रकार माने जाते हैं।

आघातन—आघातन भाषा का प्राण होता है। सभी भाषाओं की ध्वनियों के विकास के मूल में यह मुख्य कारण हुआ करता है। आघातन की विशेष प्रवृत्तियों के कारण ही विभिन्न भाषाओं में घातित अक्षर से पूर्वापर की ध्वनियाँ विभिन्न रूपों में प्रभावित होती रहती हैं। *प्राचीन ध्वनियों के ह्रास, नवीन ध्वनियों की विकास तथा ध्वनियों में होने वाले विभिन्न प्रकार के ध्वन्यात्मक विकारों की हेतु यही आघातन प्रक्रिया है। इसके अतिरिक्त स्वराघात का विभेद भी अनेक प्रकार* के ध्वनि विकारों का जनक हुआ करता है। भारतीय आर्य भाषाओं के ध्वन्यात्मक विकास में आघातन ने प्रबल भूमिका निभाई है। संस्कृत के स्वराघात अथवा गीतात्मक आघात का जब बलाघात में विकास हुआ तो अनेक मूल ध्वनियाँ या तो विकृत हो गईं या उनका लोप हो गया। उपाध्याय का ओझा या झा, कण्टक का काटा तथा नयन का नैन बन गया। इसी आघात के कारण ध्वनियों का स्थानान्तरण हो जाने से गृह का घर, लघुक का हल्का बन गया।

*संस्कृत में अस् धातु के रूपों में स्तः < *अस्तः, सन्ति < *असन्ति, स्थः < *अस्थ, स्थ < *अस्थ, स्म < *अस्म आदि में द्वितीय अक्षर पर आघातन के कारण* ही प्रथमाक्षर का लोप हुआ है। यही बात *घनन्ति के अवशिष्ट रूप घ्नन्ति के विषय में भी सत्य है।

सादृश्य (Analogy)—सादृश्य का अर्थ है तदनुरूप होना, अर्थात् जब किसी भाषा के किसी शब्द का ध्वन्यात्मक परिवर्तन उस भाषा की सामान्य ध्वन्यात्मक प्रवृत्ति के अनुरूप न होकर उस भाषा किसी अन्य शब्द के ध्वन्यात्मक रूप को *सम्मुख रखकर तदनुरूप में कर दिया जाता है तो उसे सादृश्यात्मक परिवर्तन कहा* जाता है। भाषाओं में अथवा ध्वनियों के विकास में इसका महत्वपूर्ण स्थान होता है। *भाषा के सभी स्तरों पर इसका प्रभाव परिलक्षित होता है। सच तो यह है कि यह*

सामान्य ध्वन्यात्मक प्रवृत्तियों का बाधक होता है, उसके नियमित विकास की अभिरचनाओं में अड़चन पैदा करता है जो कि कभी-कभी भाषा के मीमांसकों के लिए कठिन समस्या पैदा कर डालता है। कदाचित् ही कोई ध्वन्यात्मक प्रवृत्ति ऐसी हो जो कि इससे प्रभावित न होती हो या जो कि इसके कारण अस्त-व्यस्त न हो। उदाहरणार्थ हिन्दी में **तुम्यम्** से **तुझ** का विकास तो सामान्य ध्वनि विकास के नियम के अन्तर्गत आता है किन्तु **मह्यम्** से **मुझ** का विकास किसी नियम के अन्तर्गत नहीं आ सकता। यहा पर अ से उ के विकास का कोई ध्वन्यात्मक आधार नहीं, किन्तु तुझ बन जाने पर उसके सादृश्य से **मह्यम्** का मुझ बन जाना सर्वथा सम्भव है। इसी प्रकार संस्कृत मे **एकदश** से **एकादश** की निष्पत्ति **द्वादश** के सादृश्य के अतिरिक्त और किसी प्रकार नही हो सकती। ऐसे ही **दुक्ख** के सादृश्य पर **सुक्ख** में ककार का आगम तथा **स्वर्ग** के सादृश्य पर **नर्क** में **नरक** के अकार का लोप हो गया है। संस्कृत मे दर्जनों ऐसे शब्दरूप तथा पदरूप है जो कि इसी आधार पर बन गए हैं जैसे **करिन्** का **करिणा** तो ठीक है किन्तु **कवि** का **कविना** या **हरि** का **हरिणा** केवल **करिणा** के सादृश्य पर बनाए गए हैं। यही स्थिति इनके षष्ठी ब० व० रूपो में भी पायी जाती है जिसमे कि **आम्** का **नाम्** हो जाता है। अवेस्ता में संस्कृत **पशूनाम्** का प्रतिरूप **पस्वाम्** मिलता है जो कि मूल रचना के सर्वथा अनुरूप है। इस प्रकार हम देखते हैं कि हिन्दी में **अन्तर्देशीय** के सादृश्य पर **अन्तर्राष्ट्रीय** तथा **नैतिक** के सादृश्य पर **राजनैतिक** चल पड़ा है।

अतिसजगता—अतिसजगता के दो रूप पाए जाते हैं—1. अति नागरिकतावाद तथा 2. अतिशय विभाषावाद। कभी-कभी देखा जाता है कि ग्रामों के रहने वाले लोग ग्रामीण कहे जाने के भय से मानक भाषा अथवा नागरिक भाषा के उच्चारणों के प्रति अति-सजग होकर शुद्धतम उच्चारण के फेर में पड़कर उन्हे और भी विकृत कर डालते है। कभी-कभी किसी शब्द का ऐसा प्रचार हो जाता है कि लोग उसके मूल रूप को भूलकर उसके विकृत रूप को ही मूल रूप समझने लगते हैं। इसका एक बहुत अच्छा उदाहरण है **धूम्रपान**। अतिशय नागरिकता के चक्कर में पड़कर कभी किसी वक्ता या लेखक ने धूम को **धूम्र** कर डाला और यह इतना प्रचलित हुआ कि पढ़े-लिखे लोग भी 'धूमपान' को **धूम्रपान** (धूमरपान) कहते व लिखते देखे जाते हैं। ऐसे ही 'शाप' का 'श्राप' 'राजनीतिक' का 'राजनैतिक' अथवा 'मेहमान' के लिए 'मेहरबान' प्रयोग भी इसी प्रवृत्ति का परिचायक है। इस प्रसंग मे यह स्मरणीय है कि भ्रष्ट या अशुद्ध उच्चारण का भय केवल ग्राम्य वक्ताओं को नही होता अपितु नागरिकों मे भी पाया जाता है। कई बार उन्हें भी भय होता है कि अपने किसी उच्चारण विशेष के कारण उन्हें ग्रामीण न समझ लिया जाए अतः वह अपने उच्चारण को और भी अधिक सुधारने का यत्न करता है जिससे वह अतिशय नागरिकतावाद को जन्म देता है।

अतिशय विभाषावाद भी अतिशय नागरिकतावाद के समान ही उच्चारण के सम्बन्ध में आत्मोन्मादित भय के कारण उत्पन्न होता है। जब कोई व्यक्ति अपनी मातृभाषा से भिन्न भाषा को बोलने का यत्न करता है तो उसके मन में उसके शब्दों के उच्चारण में अशुद्धि हो जाने की आशंका रहती है और इस अतिशुद्धि के प्रयास में वह उच्चारण की अशुद्धियां कर डालता है। हिन्दीभाषी लोगों के द्वारा पंजाबी में बोलने या लिखने में अथवा पंजाबीभाषियों के द्वारा हिन्दी बोलने या लिखने में इस प्रकार की अशुद्धियां की जाती हैं।

अन्धविश्वास—अनेक भय, जुगुप्सा, आनंद के संकेतक शब्दों के समान ही कुछ जातियों तथा कुछ भाषाई समुदायों में कुछ विशेष ध्वनियों से बनने वाले शब्दों के प्रति भी अन्धविश्वासात्मक भाव हुआ करते हैं। फलतः ये लोग अपने वाग्व्यवहार में उन ध्वनियों का परिहार किया करते हैं तथा उनके स्थान पर अन्य ध्वनियों का प्रयोग करने लगते हैं और कालान्तर में ये प्रयोग स्थिर हो जाते हैं। 'गो' में पायी जाने वाली 'ग' ध्वनि का परिहार करने के लिए कई हिन्दू लोग 'गोभी' को 'कोबी' या 'कोभी' तथा 'गनगम' को 'शनजम' कहते हैं। उनके अनुकरण पर अन्य लोग भी इन्हें इन्हीं नामों से पुकारने लगते हैं।

ऊपर के विवेचन में ध्वनि परिवर्तनों के जिन कारणों का उल्लेख किया गया उन सबका सम्बन्ध किसी भाषा की सामान्य ध्वन्यात्मक प्रवृत्तियों के विरुद्ध किन्हीं नवीन प्रवृत्तियों को जन्म देने से है। भाषाओं के विकास में इस प्रकार की कई प्रवृत्तियां आयी हैं, और आती रहेंगी जो कि भाषा के विकास के कार्य को आगे बढ़ाती रहेंगी।

इसके अतिरिक्त भाषाओं के परिवर्तनों को प्रभावित करने वाले कुछ ऐसे भी कारण होते हैं जिनका कि वक्ता या श्रोता के साथ कोई प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं होता। विश्व की अनेक भाषाओं के इतिहास में अनेक बार ऐसे राजनीतिक व सामाजिक कारण भी उपस्थित हुए हैं जिन्होंने कि उनके मूल रूप को काफी सीमा तक प्रभावित किया। कई बार विजेताओं ने विजित लोगों को अपनी भाषा बोलने के लिए बाध्य किया तो कभी राजनीतिक व सामाजिक परिस्थितियों से विवश होकर एक राष्ट्र ने समीपस्थ किसी अन्य राष्ट्र की भाषा को अपना लिया या दीर्घकाल तक दो भाषाओं के समानान्तर व्यवहार ने एक को दूसरी से प्रभावित किया। इस प्रक्रिया में प्रायः होता यह है कि जब एक जाति या राष्ट्र विवश होकर या परिस्थितिवश दूसरी भाषा को अपनाता है तो उनका उच्चारण का अभ्यास पिछली भाषा की ध्वनि प्रक्रिया के अनुसार होने के कारण सर्वथा बदल नहीं पाता है। फलतः नयी भाषा में अनेक प्रकार के ध्वन्यात्मक परिवर्तन स्थिर रूप धारण कर लेते हैं। प्रागैतिहासिक काल में जब अनार्यभाषा-भाषी लोगों ने आर्य भाषा को अपनाया होगा तो निश्चित है कि उन्होंने प्रा० भा० आ० भा० की

ध्वनियों को अनेक रूपों में प्रभावित किया होगा। संस्कृत में दन्त्य-मूर्धन्य ध्वनियों र~ल अथवा ल~ल के व्यत्यय मे यही मूल कारण है।

सामाजिक तथा राजनीतिक कारणों के समान ही भौगोलिक कारण भी ध्वनि-परिवर्तन मे योगदान किया करते है। ध्वनि-परिवर्तन के अन्यतम आधार विभाषाई प्रभाव की सम्भावना उन क्षेत्रों की बोलियों या भाषाओ में अधिक होती है जहां पर कि संचार साधनों की सुलभता के कारण भिन्न वर्गों के वक्ताओं का सम्मेलन सुलभ होता है तथा उनमे न्यूनतम जहा कि दुर्गमता के कारण बाह्य जगत् से संपर्क होता ही नही। इसके अतिरिक्त शीत और उष्ण जलवायु के कारण श्वास एवं प्राण की मात्रा अथवा आघातन की मात्रा मे अन्तर पड जाने के कारण स्वरों की संवृतता तथा विवृतता तथा व्यंजनों की घोषता एवं महाप्राणता मे परिवर्तन आ जाया करता है। हिन्दी का विवृततर निम्न आ काश्मीरी मे संवृत् मध्य ओं बन जाता है। प्रा० भा० आ० आ० तथा ईरानी में देखे जाने वाले कई ध्वन्यात्मक अन्तरों के मूल मे दोनो की भौगोलिक स्थिति तथा जलवायु का भी योगदान हो सकता है।

ध्वनि-परिवर्तन की दिशाएं

फ्रांसीसी भाषाविद् वेन्द्रे का कथन है कि किसी ध्वन्यात्मक शब्द के अन्तर्गत दो प्रकार के तत्त्व होते है—कुछ 'प्रभविष्णु' तथा 'शासित'। अर्थात् कुछ विनाशक व्यापारों की गति का प्रतीकार करने मे समर्थ होते है और कुछ निष्क्रिय रहकर शीघ्र ही उनसे प्रभावित हो जाते है। विश्व की सभी भाषाओं के ध्वन्यात्मक गठन में इनकी विशेष प्रकार की 'प्रभविष्णुता' तथा 'प्रतीकारात्मकता' के उदाहरण उपलब्ध होते हैं। किसी भाषा के ध्वनिग्रामों मे सन्तुलन बनाये रखने हेतु इनमें मे होने वाले पारस्परिक संघर्षों के परिणामस्वरूप ही भिन्न-भिन्न भाषाओं का विकास भिन्न-भिन्न रूपो मे पाया जाता है। परन्तु प्रत्येक भाषा के अपने विशिष्ट ध्वन्यात्मक व्यापारों के अतिरिक्त कुछ ऐसे सामान्य व्यापार भी हैं जो सभी भाषाओ मे दृष्टिगोचर होते है। ये सामान्य व्यापार शारीरिक एवं मनोवैज्ञानिक दोनों प्रकार की प्राकृतिक प्रवृत्तियों की अभिव्यक्ति के साधन है (भाषा अनुवाद पृ० 72)।

विभिन्न प्रकार के शारीरिक एवं मनोवैज्ञानिक कारणों मे होने वाले इन परिवर्तनों के अनेकानेक रूप हो सकते है। जिन्हें कि मोटे तौर पर दो वर्गों, आश्रित तथा अनाश्रित, मे रखा जा सकता है। अनाश्रित परिवर्तनों का कोई अभिरचनात्मक रूप नही हो सकता वे भाषा के प्रवाह में कहीं भी घटित हो सकते हैं। इसके उदाहरणों के रूप मे अकारण अनुनासिकता, यथा सांप<सर्प, ऊंचा< उच्च तथा अकारण व्यंजनागम तथा श्राप<शाप जैसी घटनाओ को लिया जा

सकता है। पर इसके विपरीत भाषाओं में पाये जाने वाले ध्वन्यात्मक परिवर्तनों का रूप ऐसा है जिसके लिए कोई-न-कोई भाषाई स्थिति अवश्य उत्तरदायी होती है। उदाहरणार्थ, जैसाकि प्रो० वेन्द्रे ने अपने विवेचन में दिखाया है (भाषा, पृ० 73) कि शब्दों के अन्तःस्फोटात्मक तथा बहिःस्फोटात्मक तत्वों में भेद होने से बहिःस्फोट की अपेक्षा अन्तःस्फोट, मुखावयवों की गति की मन्दता के कारण, श्रोता को स्पष्टतया अभिव्यक्त नहीं होता। परिणामतः अन्तःस्फोट के विविध विकार सम्भव हैं यथा अक्त (atka) जैसे ध्वनि समूह में अन्तःस्फोटात्मक क्, उसके पश्चात् आने वाले त् से कम प्रतीकार समर्थ है। ऐसी परिस्थिति में दो विरोधी प्रवृत्तियाँ हो सकती हैं और इन दोनों से ही इस समूह में परिवर्तन हो जायेगा अर्थात् या तो आलस्य के कारण वक्ता 'क्' का स्पष्टोच्चारण न करेगा और अन्तःस्फोटक के तुरन्त पश्चात् वह अपनी जिह्वा की नोक को 'त्' की दन्त में ले जायेगा परिणामत अत्त (atta) ध्वनि का उच्चारण होगा और इसमें 'त्' दीर्घ होगा। इस प्रवृत्ति के उदाहरण हैं इतालवी भाषा के अत्तो (atto), स्त्रेत्तो (stretto), आदि, जोकि लैटिन के 'आक्तुस' (actus) तथा 'स्त्रिक्तुस' (strictus) से विकसित हुए हैं। (संस्कृत 'सक्त' से विकसित पाली का 'सत्त' भी इसी प्रवृत्ति का परिचायक है) या फिर 'क्' के उच्चारण को सुरक्षित रखने की इच्छा से, वक्ता अन्तःस्फोटक 'क' के पश्चात् बहिःस्फोटक 'त्' तक आने से पहले उसी स्थान पर मन्द बहिःस्फोट करेगा। इसका उदाहरण अपने शुद्ध उच्चारण पर गर्व करने वाले फ्रांसीसियों की भाषा में प्राप्त है। वे लोग फाक्तूर (facture) 'बीजक' शब्द का उच्चारण 'फाकेतूर' (faqueteure) के समान करेंगे। चाहे 'क्' का बहिःस्फोट कितने ही अल्प काल के लिए हो वास्तव में इसका अनिवार्य प्रभाव परिपूर्व स्वर पर होता है। ऊपर इतालवी भाषा से दिये गये उदाहरण में 'समायोग' तथा फ्रांसीसी भाषा के दूसरे उदाहरण में 'स्वरभक्ति' की प्रवृत्ति है।

यों तो ध्वनि परिवर्तन की दिशाओं का कोई अन्त नहीं, पर सामान्य रूप से इन्हें जिन मुख्य वर्गों में विभाजित किया जाता है वे हैं—लोप, आगम, विपर्यय, सन्धि, समीकरण, विषमीकरण, घोषीकरण, अघोषीकरण, महाप्राणीकरण, अल्पप्राणीकरण, ऊष्मीकरण, अपश्रुति, मात्राभेद आदि। इस प्रसंग में यहाँ पर इतना संकेत कर देना आवश्यक है कि यद्यपि लोप और आगम साक्षात् रूप से ध्वनि परिवर्तन के अंग नहीं, अपितु शब्द निर्माण के अंग होते हैं फिर भी हमने यहाँ इनका समावेश इसलिए कर दिया है कि भाषाविज्ञान की अन्य पुस्तकों में इन्हें इस प्रसंग में दिखाया जाता रहा है।

1. लोप—लोप का सम्बन्ध प्रायः उच्चारण की कठिनाई से सम्बद्ध होता है। इसके स्वर-व्यञ्जन भेद से तथा स्थान भेद से अनेक रूप हो सकते हैं। इन्हें पृथक्-पृथक् इस प्रकार दिखाया जा सकता है—

(क) स्वरलोप—स्वरलोप का अर्थ है किसी शब्द के मूल रूप में विद्यमान किसी स्वर ध्वनि का उसके विकसित रूप में न रहना। मूल ध्वनि का यह लोप आदि मध्य, अन्त किसी भी स्थिति में हो सकता है।

आदिस्वर लोप—आदि लोप के उदाहरण हैं : सवार<असवार, जवाइन< अजवाइन, नाज<अनाज, काल<(पंजाबी)<अकाल। संस्कृत में इसके उदाहरण हैं √अस्-धातु के वर्तमान कालिक तथा लोट लकार के रूप स्त, सन्ति, स्य, स्मः, स्वः, स्तात्, सन्तु आदि।

मध्य स्वरलोप—मध्य लोप इन उदाहरणों में देखा जा सकता है. नर्क< नरक, इतहास, (पंजाबी)<इतिहास, अल्मोनियम<ऐल्यूमोनियम। संस्कृत में मध्य स्वरलोप के उदाहरण संज्ञा तथा क्रिया पदों की रूप-रचना में अधिक पाये जाते हैं।—जग्मु<√गम्, राज्ञा<राजन्+आ, प्रेम्णा<प्रेमन्+आ। व्योम्नि< व्योमन्+ई। वस्ति/वसति 'वस्तौ'।

अन्त्य स्वरलोप—ऐतिहासिक दृष्टि से हिन्दी के अकारान्त समझे जाने वाले सभी शब्दों में अकार का लोप पाया जाता है, काम्<काम, तेल्<तेल आदि। इसके अतिरिक्त रीत्<रीति, जात्<जाति, बांह्<बाहु, आदि में इकार और उकार का भी लोप पाया जाता है। संस्कृत में इसके उदाहरण कम मिलते हैं।

(ख) व्यंजनलोप—स्वर लोप के समान ही व्यंजन लोप की भी तीनों स्थितियां पायी जाती हैं, यथा—

आदि-व्यंजन-लोप—सामान्यतया आदि व्यंजन लोप आदि संयुक्त वर्णों के प्रथम वर्ण में पाया जाता है, यथा—खंभा<स्कम्भ, मसान<श्मशान, टेशन> स्टेशन। अंग्रेजी में भी प्रायः न् (n) से पूर्व क् (k) का, र् (r) से पूर्व व् (w) का तथा न् (n) से पूर्व ग् (g) का लोप देखा जाता है, *know>now, write< rite*, gnow>now रूप हो जाया करता है। संस्कृत में यह प्रवृत्ति बहुत कम पायी जाती है।

2. मध्य-व्यंजन-लोप—भाषा के विकास में मध्य लोप का विशेष योगदान हुआ करता है। यह प्रायः सभी भाषाओं में पाया जाता है। संस्कृत से प्राकृत तथा प्राकृत से हिन्दी तक पहुंचने में अनेक मूल वर्णों का लोप हो गया है। सुई< सूची, कोयल<कोइल<कोकिल, नैन<नअण<नयन। अंग्रेजी में ट् (t) के पूर्व घ (gh) का लोप देखा जाता है, light daughter आदि। इसके संस्कृत उदाहरण हैं—यामिका~याम्या रात, धम्मिल्ल~धम्मिलः चोटी, धौर्तिक~धौर्त्यम्/ धूर्तता आदि।

अन्त्य व्यंजन लोप—हिन्दी में अन्त्य व्यंजन लोप के उदाहरण बहुत कम मिलते हैं। सूत<सूत्र, मीत<मित्र, बेल<बिल्व। अंग्रेजी शब्दों के उच्चारण में प्रायः अन्तिम लिखित र् (r) का लोप हो जाया करता है, जैसे father, mother

आदि में। संस्कृत में इसके उदाहरण शनकैः>शनैः, शपथः>शेपः, उदक> उदं पानी, वर्तातिन्>वाताकि बैंगन के रूप में देखे जाते हैं।

(ग) अक्षरलोप—लोप का एक अन्य रूप है अक्षर लोप जिसमें स्वर तथा व्यंजन दोनों का लोप हो जाया करता है। यदि दो एक जैसे अक्षरों में से एक का लोप हो जाय तो उसे समाक्षर लोप (haplology) कहते हैं।

आदि अक्षरलोप—हिन्दी में ऐसे उदाहरण बहुत कम हैं जिनमें कि शब्दों के आदि में पूरे अक्षर का लोप हो गया हो, भीतर<अभ्यन्तर, इतवार<आदित्यवार आदि प्रायः स्वर लोप के अन्तर्गत आ जाते हैं। अंग्रेजी में भी प्रायः संक्षिप्तीकरण में ही इस प्रकार के रूप पाये जाते हैं यथा फ्रिज<रेफ्रिजिरेटर आदि। संस्कृत के वैकल्पिक उदाहरण अवश्य हैं—वगाह~अवगाह, वतंस:~अवतंस, शस्ति~प्रशस्ति, मुमं/मुमुमं, केत/निकेतन 'घर' आदि।

मध्य अक्षर लोप—मध्यवर्ण लोप के समान ही मध्य अक्षर लोप की प्रवृत्ति भी अन्य लोपों की अपेक्षा अधिक पायी जाती है यथा भण्डार<भाण्डागार, सुनार< स्वर्णकार, चमार<चर्मकार, नकटा<नाककटा। इसे समाक्षर लोप भी कहा जाता है। अंग्रेजी के can't की भी स्थिति ऐसी ही है। संस्कृत में समाक्षर लोप के काफी उदाहरण पाए जाते हैं, यथा हालहलं>हाहलं, हालहालं>हाहालं भयंकर विष, शेववृधि>शेवृधि, जहीहि>जहि<√हा·(लोट् म० पु०, ए०व०) मधुदुग्ध >मदुग्ध 'एक पौधा' आदि।

अन्त्याक्षर लोप—इसके उदाहरण भी पर्याप्त मात्रा में पाए जाते हैं—जैसे मौसी<मातृस्वसा, कौड़ी<कपर्दिका, मोती<मौक्तिक, सवा<सपाद, कटारी< कर्तरिका। संस्कृत में इसके उदाहरण हैं तूणीरः>तूणी, कुरंगम>कुरंग मृग, विहंगम>विहग पक्षी, सौविदल्ल:>सौविद: 'रनिवास का एक सेवक'।

2 आगम—आगम का अर्थ है नवीन ध्वनियों का आ जाना। यह भी लोप के समान ही शब्दों की आदि, मध्य तथा अन्त्य तीनों स्थितियों में सम्भव है। आगम स्वरों का भी हो सकता है और व्यंजनों का भी।

(क) स्वरागम—स्वरों का आगम तीनों स्थितियों में देखा जाता है।

1 आदि स्वरागम—या आदिनिहिति (prothesis)—हिन्दी में प्रायः स् + व्यंजन से प्रारम्भ होने वाले शब्दों के उच्चारण में ई या अ का आगम देखा जाता है, यथा इस्नान/अस्नान<स्नान, इस्तुति/अस्तुति<स्तुति, इस्कूल<स्कूल, इस्पेशल<स्पेशल। संस्कृत तथा ग्रीक के अनेक अनुरूपी शब्दों की तुलना करने पर देखा जाता है कि ग्रीक में संस्कृत के उन अनुरूपी शब्दों के प्रारम्भ में ए या ओ स्वर का आगम हो जाता है जो कि र्, म्, व् या ल् ध्वनियों से प्रारम्भ होते हैं यथा— सं० रुधिर=ग्री० एरुथ्रोस्, सं० लघु=ग्री० एलखुस्, सं० नामन्=ग्री० ओनोमा,

आदि। तमिल में भी र से प्रारम्भ होने वाले शब्दों में ई का आगम हो जाता है यथा रामन्—इरामन् आदि।

मध्यस्वरागम—मध्यस्वरागम को 'स्वरभक्ति' भी कहा जाता है। ऐसा प्राय. उन संयुक्त व्यंजनों के उच्चारण की स्थिति में होता है जिनका कि उच्चारण सरलतापूर्वक नहीं किया जा सकता है। स्वरागम के कारण उच्चारण सरल एवं सुविधाजनक हो जाया करता है। इसके उदाहरण हैं—जनम<जन्म, धरम<धर्म, करम<कर्म, शरम<शर्म, हुकम<हुक्म, नसल<नस्ल। वैदिक संस्कृत में यह प्रवृत्ति विशेष रूप से देखी जाती है। यथा दर्शत>दरेशत, शीर्षा>शीरेखा आदि।

वैदिक ही नहीं लौकिक संस्कृत में भी इस प्रवृत्ति के दर्शन हो जाते है, यथा पृथ्वी/पृथिवी, स्वर/सुवर, स्वर्ण/सुवर्ण, सौदाम्नी/सौदामिनी स्वप्नं/स्वपनं, तर्क्षु/तरक्षुः चीता, तर्णि/तरणि नाव आदि।

अन्त्य स्वरागम—मध्य स्वरागम की अपेक्षा अन्त्य स्वरागम कम रूपों में पाया जाता है। सपना<स्वप्न, दवाई<दवा, कौवा<काक, कर्जा<कर्ज, गुंप्ता<गुप्त, सिन्हा<सिंह आदि। संस्कृत मे इसके रूप नही मिलते।

(ख) व्यंजनागम—स्वरागम के समान ही व्यंजनागम के भी तीन भेद पाए जाते हैं।

आदि व्यंजनागम—आदि व्यंजनागम के उदाहरण बहुत कम पाए जाते हैं। आदि व्यंजनागम के जो उदाहरण दिए जाते है उनमे वस्तुतः आगम महाप्राणता (ह) का ही पाया जाता है, जैसे हड्डी<अस्थि, होठ<ओष्ठ, हुद्दा<ओहदा। संस्कृत मे इसके उदाहरण कम है, यथा—वीरिणं<ईरिणं मरुभूमि।

मध्य व्यंजनागम—मध्य व्यंजनागम के कई रूप पाए जाते है, यह कोई व्यंजन भी हो सकता है और अर्ध व्यंजन भी। बन्दर<वानर, श्राप<शाप, प्रण<पण, समुन्दर<समुद्र, कोयल<कोइल<कोकिल, कौआ<काक। संस्कृत में इसके उदाहरण है—सूनरी (वैदिक)>सुन्दरी (लौ०), शकलं>शल्कलम् 'छिलका'।

अन्त्य व्यंजनागम—अन्त्य व्यंजनागम भी बहुत कम शब्दों मे पाया जाता है: बहुरिया<बधूटी, बधूटी<वधू, बिटिया<बेटी। संस्कृत मे लघ्वर्थक तथा प्रियार्थक 'क' प्रत्यय इसी प्रकार का है यथा पुत्र>पुत्रक, कन्या>कन्यका, पोत>पोतक आदि।

(ग) अक्षरागम—व्यंजनागम के समान ही अक्षरागम भी सभी स्थितियों में पाया जाता है।

1. आदि अक्षरागम—यह प्रायः भ्रामक व्युत्पत्ति के कारण ही जाया करता है, यथा निखालिस<खालिस, बेफजूल<फिजूल। संस्कृत में इसके उदाहरण है—वगाह>अवगाह स्नान, शस्ति>प्रशस्ति, प्रशंसा आदि।

मध्य अक्षरागम—हिन्दी में मध्य अक्षरागम के भी उदाहरण अधिक नहीं मिलते हैं—इसके उदाहरण हैं—आलकस<आलस, हिकमत<हिम्मत, आदि। संस्कृत में सौदाम्नी/सौदामिनी, यतनं/प्रयत्नं, स्वप्नं/स्वपनम् आदि। इसे पारिभाषिक रूप में स्वरभक्ति (anaptyxis) भी कहा जाता है (देखो ऊपर)।

अन्त्य-अक्षरागम—अन्त्य अक्षरागम प्रायः प्रत्यय योजन के रूप में पाया जाता है, यथा मुखड़ा<मुख, बिटिया<बेटी, ढोलकी<ढोल आदि। संस्कृत में इसके उदाहरण हैं यामि/यामिका/यामिनी रात, चपेट/चपेटक; बाला/बालिका, कुरंग/कुरंगम, विहंग/विहंगम आदि।

3 विपर्यय—विपर्यय का अर्थ है स्थानान्तरण। कई बार भिन्न-भिन्न स्थानों में उच्चरित होने वाली ध्वनियों के उच्चारण में वागवयवों में सामंजस्य न हो सकने के कारण उनके उच्चारण में उलट फेर हो जाया करती है। यह स्वरों के बीच भी हो सकता है और व्यंजनों के बीच भी। इसी प्रकार विपर्यय अति समीपी ध्वनियों के बीच भी हो सकता है तथा दूरवर्ती ध्वनियों के बीच भी। प्रथम प्रकार के विपर्यय को 'पार्श्ववर्ती' तथा द्वितीय प्रकार के विपर्यय को 'दूरवर्ती' भी कहा जाता है।

(1) स्वर विपर्यय—यह निकटस्थ ध्वनियों में भी हो सकता है तथा दूरस्थ ध्वनियों में भी। निकटस्थ ध्वनि विपर्यय के उदाहरण है—लूका<उल्का, इमली<अम्लिका तथा दूरस्थ के उदाहरण हैं—पगला<पागल, फटका<फाटक। संस्कृत में इसके उदाहण हैं—हलाहलं>हालहालं विष, 'वराणसी<वाराणसी बनारस।

(2) *व्यंजन विपर्यय—स्वर विपर्यय के समान ही व्यंजन विपर्यय भी दोनों प्रकार* का पाया जाता है। पार्श्ववर्ती व्यंजन विपर्यय के उदाहरण है—चिन्ह<चिह्न, घर<गृह, मतलब<मतलब, बम्हा<ब्रह्मा, सिगल<सिगनल, डेस्क<डेस्क आदि। तथा दूरवर्ती व्यंजन विपर्यय के उदाहरण हैं—तगमा<तमगा, नुकसान<नुकसान, लखनऊ<नखलऊ, बाराणसी<बाणारसी, दाडिम/दालिम अनार' नारिकेल/नालिकेर नारियल।

3. अक्षर विपर्यय—कभी-कभी वर्ण विपर्यय के स्थान पर सम्पूर्ण अक्षर का भी विपर्यय हो जाता है और यह बोलियों में स्थायी भी हो जाता है, जैसे चाकू<काचू, चीकड़<कीचड़। संस्कृत में इसके उदाहरण हैं हिंस<सिंह, तर्क<कर्त, तस्कर<कस्कर छिन्न आदि।

4 समीकरण—जब दो भिन्न-भिन्न उच्चारण स्थानों तथा प्रयत्नों से *उच्चरित होने वाली ध्वनियां एक-दूसरी के एक या अधिक तत्वों को अपना कर* तद्रूप हो जाती हैं तो उसे समीकरण या सावर्ण्यभाव (assimilation) कहते हैं। सिद्धान्ततः समीकरण पूर्व तथा पर दोनों ही ध्वनियों के अनुरूप हो सकता है

किन्तु प्रायेण यह परिवर्तन पूर्ववर्ती ध्वनि में अधिक हुआ करता है। इसका कारण यह होता है कि उस ध्वनि समूह के अन्तर्गत अगले उच्चारण के प्रति सजग वक्ता उसे समय से पहले ही उच्चरित कर डालता है फलतः प्रथम ध्वनि के उच्चारण के समय ही वाक् यन्त्र उस स्थिति को धारण कर लेते हैं जोकि आगे आने वाली ध्वनि के उच्चारण के अनुकूल होती है। समीकरण स्वरों का भी हो सकता है और व्यंजनों का भी। इस प्रकार समीकरण के चार रूप होते है—1 पुरोगामी स्वर समीकरण, 2 पश्चगामी स्वर समीकरण, 3 पुरोगामी व्यंजन समीकरण, 4. पश्चगामी व्यंजन समीकरण। अब हम उदाहरणों द्वारा क्रमश इन्हें स्पष्ट करेंगे।

(1) **पुरोगामी स्वर समीकरण**—इसमें प्रथम ध्वनि द्वितीय ध्वनि को अपने अनुरूप ढाल लेती है, यथा मलक > मूलक > मुलुक, हुक्म > हुकम > हुकुम आदि। संस्कृत के उदाहरण है—भ्रू कंस > भ्रुकुंस, दुंदभिः > दुंदुभि ।

(2) **पश्चगामी स्वर समीकरण**—इसमें द्वितीय स्वर प्रथम स्वर को प्रभावित करता है जैसे उंगली <अंगुली। संस्कृत में इसके रूप मिलते हैं कुट्टिनी <कुट्टनी, सौदामिनी <सौदामनी, हिंगुलु < हिंगलु सिन्दूर आदि।

वास्तव में स्वर समीकरण का रूप बहुत कम पाया जाता है, कारण कि जब दो स्वर पास-पास आते हैं तो उनमें समीकरण की अपेक्षा सन्धि, जो कि समीकरण का ही एक रूप है, की सम्भावना अधिक होती है। स्वरों की दीर्घ, पूर्व रूप, पर रूप सन्धियां तो समीकरण का ही रूप हुआ करती है। इसलिए समीकरण का अधिक व्यक्त रूप व्यंजनों के प्रसग में पाया जाता है।

(3) **पुरोगामी व्यंजन समीकरण**—इसमें पूर्ववर्ती व्यजन आने वाले व्यंजन को प्रभावित करके अपने स्थान, प्रयत्न के अनुरूप ढाल लेता है यथा चक्का < चक्क < चक्र, पत्ता < पत्त < पत्र। प्राकृत भाषाओं में यह प्रवृत्ति बहुत प्रबल रूप में देखी जाती है। संस्कृत में रकार या ऋकार के बाद आने वाले दन्त्य नासिक्य न् का मूर्धन्य नासिक्य ण् में परिवर्तन पुरोगामी समीकरण का ही एक रूप है। इसी का पाणिनि ने रषाभ्यां नोणः समानपदे (8-4-1) के रूप में साधारणीकरण कर दिया है यथा ऋषीणाम्, नराणाम्, भृणोति आदि। षष्ठ < षड्+थ छठा, नष्ट < नश्+क्त भी इसी के रूप हैं।

(4) **पश्चगामी व्यंजन समीकरण**—इसमें परवर्ती व्यंजन ध्वनि पूर्ववर्ती व्यंजन ध्वनि को प्रभावित करके अपने, प्रयत्न के अनुरूप ढाल लिया करती है। प्राकृत भाषाओं में यह प्रवृत्ति विशेष रूप से देखी जाती है। इसी से हिन्दी के अनेक शब्दों का विकास हुआ है, यथा कर्म > कम्म > काम, भक्त > भत्त > भात, शर्करा > शक्कर, पर्ण > पण्ण > पान। अद्य > अज्ज > आज, कार्य > कज्ज > काज। संस्कृत में पश्चगामी समीकरण का रूप व्यंजन सन्धियों के प्रसग में विशेष

रूप में देखा जा सकता है। पाणिनि के सूत्र 'स्तोश्चुनाश्चु' (8-4-49) एवं 'ष्टोष्टुनाष्टु' संस्कृत की इसी ध्वन्यात्मक प्रवृत्ति का निरूपण करते हैं। मूर्धन्यीकरण तथा तालव्यीकरण के अतिरिक्त संधिगत नासिक्यीकरण भी समीकरण का ही एक रूप है, यथा, वाक्-मयम्>वाङ्मयम्, तत्-मात्रम्>तन्मात्रम्, षट्-मुखः> षण्मुखः।

5 विषमीकरण अथवा असावर्ण्य (Dissimilation)—यह समीकरण से विपरीत प्रवृत्ति को प्रदर्शित करता है। इसमें किसी शब्द के उच्चारण में अपेक्षित किसी ध्वनि का उच्चारण दो बार न होकर केवल एक बार होता है तथा दूसरी बार उसके स्थान पर किसी अन्य विषम या असवर्णी ध्वनि का उच्चारण हो जाता है। ऐसा प्रायः उच्चारण की असुविधा के कारण हो जाया करता है। समीकरण के समान ही इसमें भी स्वरों तथा व्यजनों दोनों में ही पुरोगामी तथा पश्चगामी रूप पाये जाते हैं। विषमीकरण के उदाहरण प्राकृतों में अधिक पाये जाते हैं।

(1) पुरोगामी स्वर-विषमीकरण—इसमें दो समान स्वरों में से प्रथम तो बना रहता है पर दूसरा बदल जाता है। प्राकृत भाषाओं में इसकी प्रवृत्ति पायी जाती है—पुरुष>पुरिस/पुलिस।

(2) पश्चगामी स्वर-विषमीकरण—इसमें द्वितीय स्वर तो यथापूर्व बना रहता है किन्तु प्रथम परिवर्तित हो जाया करता है, जैसे—मुकुट> मउड>मकुट, मुहूर्त>महूरत।

(3) पुरोगामी व्यंजन विषमीकरण—जब दो व्यंजनों में से प्रथम अप्रभावित रहता है और दूसरा परिवर्तित हो जाता है तो उसे पुरोगामी व्यंजन विषमीकरण कहते हैं। कागा<काक, कंगन<कंकण।

(4) पश्चगामी व्यंजन विषमीकरण—इसमें प्रथम व्यंजन प्रभावित होता है, दलिद्दी<दरिद्री, हल्दी<हरिद्रा। संस्कृत के क्रियापदों के लिट् लकार के रूपों में इस प्रवृत्ति को देखा जा सकता है, यथा—चकार<√कृ, जगाम<√गम्, बभार<√भृ, दधार<√धा-आदि।

(5) घोषीकरण—यह भी, समीकरण का ही एक रूप होता है। इसमें अघोष ध्वनियां निकटवर्ती घोष ध्वनियों से प्रभावित होकर घोषत्व को प्राप्त हो जाती है—यथा मगर<मकर, परगट<प्रकट। संस्कृत में प्रायः यह प्रवृत्ति सन्धि-गत रूपों में ही पायी जाती है (दे० आगे)। इसके कतिपय वैकल्पिक शब्दगत उदाहरण इस प्रकार हैं—शृकाल/शृगाल, लिपि/लिबि, तडाग/तडाक, कन्दुक/गिन्दुक, स्तवक/स्तबक इत्यादि।

(6) अघोषीकरण—घोषीकरण की प्रवृत्ति से विपरीत इसमें घोष ध्वनियां अघोष ध्वनियों में परिवर्तित होती हैं, यथा गरीब>गरीप, मदद>मदत् (संस्कृत के लिए देखो आगे)। घोष रूप को मूल रूप मानने पर उपर्युक्त उदाहरणों में

वैकल्पिक रूप इसके उदाहरण हो सकते है।

(7) **महाप्राणीकरण**—महाप्राणीकरण का अर्थ है अल्पप्राण ध्वनियों का महाप्राण ध्वनियों के रूप मे विकसित हो जाना, यथा—हस्त>**हाथ, वाष्प>भाप, धृष्ट>ढीठ, वृश्चिक>बिच्छी**/बिच्छू। संस्कृत मे इसके उदाहरण हो सकते है—**सिन्दुवार/सिन्धुवार** (निर्गुण्डी), **केल/खेल** खेलना, **पुप्पुस/फुफ्फुस** फेफडा आदि।

(8) **अल्पप्राणीकरण**—जब कोई महाप्राण अल्पप्राण हो जाता है तो उसे अल्पप्राणीकरण का नाम दिया जाता है यथा—दूध>**दूद, ढीठ>ढीट, भूख>भूक, भीख>भीक**। संस्कृत के लिए देखो आगे। उपर्युक्त महाप्राणीकरण के विपरीत उदाहरण भी इसके उदाहरण हो सकते है।

(9) **अनुनासिकीकरण**—अनुनासिकीकरण से अभिप्राय है अनाश्रित अनुनासिकता। जब किसी अनुनासिक व्यंजन की स्थिति के बिना ही किन्ही शब्दो के स्वरों मे अनुनासिकता का विकास हो जाता है तो उसे अनुनासिकीकरण की संज्ञा दी जाती है। जैसे—**उच्च>ऊँचा, सर्प>साँप, अर्चि>आँच, अश्रु>आँसू** आदि। संस्कृत मे वैदिक भाषा में यह प्रवृत्ति देखी जाती है। लौकिक संस्कृत में वैकल्पिक अनुनासिकता के कतिपय उदाहरण इन रूपो मे पाये जाते हैं। **परांच्/पराच्** पीछे हटना, पश्चिमी, **गुलुंच्छ/गुलुच्छ** गुच्छ **हिंगुल/हिगुलु** सिन्दूर, **गुंफ्/गुफ्** गूथना आदि।

इसके अतिरिक्त अपिनिहिति (epenthesis) तथा अपश्रुति (ablaut) आदि के द्वारा भी भाषाओ की ध्वनियो मे परिवर्तन हो जाया करता है। अपिनिहिति मे अगले अक्षर मे विद्यमान स्वर का उससे पूर्व भी आगम हो जाता है, जैसे अवेस्ता **गइरि=सं० गिरि**। संस्कृत मे इस प्रवृत्ति के दर्शन नही होते। भारतीय भाषाओ मे भी इसकी सत्ता केवल काश्मीरी भाषा मे पायी जाती है। अपश्रुति का रूप अरबी, अंग्रेजी आदि मे अधिक पाया जाता है, अंग्रेजी क्रिया पदरचना मे सिङ् (sing), सैङ् (sang), सङ् sung का तथा सज्ञा पद रचना मे मैन (man), मेन् (men), फूट (foot) फीट (feet) का स्वरात्मक परिवर्तन इसी प्रवृत्ति का परिचायक है।

अनियत परिवर्तन—उपर्युक्त नियत प्रकार के परिवर्तनो के अतिरिक्त संस्कृत मे अनेक ऐसे वैकल्पिक ध्वनि परिवर्तन पाये जाते हैं जिन्हे किसी नियम के अन्तर्गत नही रखा जा सकता है। भाषा के विविध ध्वन्यात्मक रूप विभिन्न क्षेत्रो के बोलने वालों की भाषिक प्रवृत्तियों के परिणाम प्रतीत होते हैं, यथा—**ध्वांक्षः/ध्मांक्ष** (कौवा), **लुलाप/लुलाय** (भैंस) **कपाट/कवाट** (किवाड), **कक्ष/कच्छ** (बगल किनारा), **कवच/कवसः** (कवच), **चमूरु/समूरु** (एक प्रकार का मृग), **जटा/**

शटा (जटाएं), उदूखलः/उसूखल (ऊखल), शोथ/शोफ (सूजन), मटतो/मटची (ओला) आदि।

ध्वनिपरिवर्तनों के सम्बन्ध में यह भी उल्लेख है कि भाषा के इस पक्ष की ओर हमारे प्राचीन वैयाकरणों—पतंजलि, कात्यायन आदि का भी ध्यान गया था (दे० महाभाष्य, "हयवरट" सूत्र पर वार्तिक 15)। उन्होंने जिन चार श्रेणियों में इनका वर्गीकरण एवं विश्लेषण किया था, वे हैं—

1 वर्णव्यत्यय, 2 वर्णापाय, 3 वर्णोपजन, 4 वर्णविकार। आधुनिक विश्लेषणों के आधार पर इन्हें इन रूपों में देखा जा सकता है।

1 वर्णव्यत्यय—इसके अन्तर्गत ऊपर विवेचित स्वर विपर्यय, व्यंजन विपर्यय तथा अक्षर विपर्यय का समावेश हो जाता है।

2 वर्णापाय—इसका अर्थ है ध्वनि का लोप। ऊपर लोप शीर्षक के अन्तर्गत विवेचित वर्णलोप, अक्षर लोप आदि सभी का समावेश इसमें हो जाता है।

3 वर्णोपजन—इसका अर्थ है किसी वर्ण का या ध्वनि का आगम। इसमें उन सभी परिवर्तनों का समावेश हो जाता है जिनका विवेचन 'आगम' शीर्षक के अन्तर्गत किया गया है।

4 वर्णविकार—इसका अर्थ है वर्ण या ध्वनि का रूपान्तरण या स्थानापत्ति। इसमें सन्धि, समीकरण, विषमीकरण, घोषीकरण, अघोषीकरण, महाप्राणीकरण, अल्पप्राणीकरण, रेफीकरण, मूर्धन्यीकरण, तालव्यीकरण, ऊष्मीकरण आदि सभी ध्वनि परिवर्तन सम्बन्धी आधारों का समावेश हो जाता है।

इसके अतिरिक्त यास्काचार्य ने भी शब्दों की निरुक्ति के प्रसंग में ध्वनि-परिवर्तनों के स्वरूप का स्पष्ट उल्लेख किया है—

> वर्णागमो वर्णविपर्ययश्च द्वौ चापरौ वर्णविकारनाशौ।
> धातोस्तदर्थातिशयेन योगस्तदुच्यते पंचविधं निरुक्तम् ॥

2

स्वन विज्ञान : सामान्य परिचय

संस्कृत भाषा का स्वन प्रक्रियात्मक (phonetic) विश्लेषण प्रस्तुत करने से पूर्व स्वनविज्ञान (phonetics) के विषय में सामान्य जानकारी दे देना अपेक्षित होगा, जिससे कि उसे हृदयगम करने के लिए आवश्यक पृष्ठभूमि तैयार हो सके। इस सम्बन्ध में यहां पर इतना और भी कह देना अपेक्षित है कि व्यावहारिक दृष्टि से 'ध्वनि-विज्ञान' तथा 'स्वन-विज्ञान' जैसे सकेतक पदो मे कोई अन्तर न होने पर भी अगले विवरणों के लिए स्वीकृत पारिभाषिक शब्दावली के साथ एक रूपता रखने के लिए इस विश्लेषण में 'स्वन' शब्द को ही स्वीकार किया गया है। भाषा-विज्ञान के सन्दर्भ में 'ध्वनि' शब्द का प्रयोग उन वाक् ध्वनियो के लिए किया जाता है जोकि मानव कण्ठ तथा मुख विवर मे श्वास-प्रश्वास प्रक्रिया में होने वाले विविध प्रकार के अवरोधों के द्वारा उत्पन्न हुआ करती हैं। गूंगे, बहरे तथा कुछ जन्मजात जड़बुद्धि मानवो को छोड़कर शेष सभी सर्व साधारण मानवों के बीच यही वाग्ध्वनियां भावों की अभिव्यक्ति एवं भावो के आदान-प्रदान का प्रमुख माध्यम हुआ करती हैं। इन्ही वाक् ध्वनियो के वैज्ञानिक अध्ययन एवं विश्लेषण को ही ध्वनि विज्ञान अथवा स्वन-विज्ञान कहा जा सकता है जिसमें कि इनके उत्पादन,

सम्प्रेषण एवं प्रत्यक्षीकरण से सम्बद्ध शरीर वैज्ञानिक प्रक्रियाओं का विश्लेषण भी सम्मिलित हुआ करता है। यद्यपि ज्ञान के एक विषय के रूप में इसका नियमित एवं व्यवस्थित अध्ययन अठारहवीं शताब्दी के आरम्भ में यूरोप में प्रारम्भ हुआ था किन्तु भारत में वाक् ध्वनियों के विवेचन में सम्बद्ध अनुसन्धान एवं निरूपण का कार्य अति प्राचीनकाल में ही प्रारम्भ हो चुका था। प्राचीन भारतीय वैयाकरणों ने ईसा से कई शताब्दी पूर्व ही वैदिक वाक् के यथातथ्य निरूपण के विषय में उन प्रातिशाख्यों तथा शिक्षा ग्रन्थों की रचना कर डाली थी, जिसमें कि वैदिक ध्वनियों के उच्चारण के सम्बन्ध में अति सूक्ष्म एवं गहन विवेचन किया गया है। वस्तुतः पाश्चात्य जगत् को भी ध्वनि-विज्ञान का गहन एवं व्यवस्थित रूप में अध्ययन करने की प्रमुख प्रेरणा इन्हीं ग्रन्थों के परिचय से मिली। इसमें सन्देह नहीं कि इन लोगों ने बाद में इस अध्ययन को शरीर विज्ञान, भौतिक विज्ञान तथा यांत्रिक उपकरणों के साथ जोड़कर इसे एक व्यावहारिक विज्ञान का रूप प्रदान किया। इतना ही नहीं अपितु विभिन्न प्रकार की वाक् ध्वनियों के यथातथ्य लिप्यंकन के लिए भी प्रयत्न किए गए तथा अनेक परीक्षणों एवं विचार-विमर्शों के उपरान्त अठारहवीं शताब्दी के अन्तिम चरणों में (1889) सर्वसम्मत रूप में एक अन्तर-राष्ट्रीय-ध्वनि-लिपि का रूप भी स्वीकार कर लिया गया तथा इसके द्वारा विश्व की, विशेषकर अमेरिका की, अनेक मृतप्राय/समाप्तप्राय बोलियों एवं भाषाओं के ध्वन्यात्मक रूपों को लिप्यंकित रूपों में सुरक्षित करने के प्रयास भी किये गए। यद्यपि मानव के वाक् यन्त्र से निसृत सभी व्यक्त ध्वनियों को उनके ध्वनिगुणों के सहित यथातथ्य रूप में लिप्यंकित किया जाना अत्यन्त दुरूह कार्य है फिर भी इस ध्वनि लिपि की सहायता से इसका पर्याप्त सीमा तक निकटतम रूप में अंकित किया जा सकना सम्भव हो गया है। किन्तु लिप्यंकन का कार्य ध्वनि विज्ञान के प्रकार्य से सर्वथा भिन्न विषय होने के कारण हम इस विषय पर अधिक विस्तार में न जाकर यहाँ पर प्रकृत विषय पर ही विचार करेंगे।

जैसाकि ऊपर बताया गया है कि ध्वनि विज्ञान का सम्बन्ध मानव कण्ठ से प्रसूत वाक् ध्वनियों के साथ होता है। अतः यह मानव के वागवयवों से निसृत सभी प्रकार की व्यक्त ध्वनियों के गुणों का, उनके स्वरूप का तथा उनकी उच्चारण प्रक्रिया का व्यवस्थित रूप में अध्ययन करने के साथ-साथ उन वाक् यन्त्रों का भी अध्ययन करता है जिनसे कि मानव के वाग्व्यवहार में प्रयुक्त होने वाली व्यक्त ध्वनियों का उद्भव होता है। यह उस प्रक्रिया का भी अध्ययन करता है जिससे कि ये वाक् ध्वनियाँ वायु तरंगों में तरंगित होकर वक्ता से श्रोता तक पहुँचती हैं। इसके लिए यह उन ध्वनिग्राहक यन्त्रों का अध्ययन करता है जो कि मानव के कर्ण विवर में हुआ करते हैं। सामान्यतः इस सम्पूर्ण अध्ययन को तीन भागों में विभक्त किया जाता है—उच्चारणात्मक ध्वनिविज्ञान, भौतिक ध्वनिविज्ञान तथा

श्रवणात्मक स्वन विज्ञान। इनमें प्रवीणता प्राप्त करने के लिए ध्वनि-विज्ञानी को न केवल अपनी श्रवण शक्ति को इतना सचेतन करना पड़ता है कि वह किसी भाषा की ध्वनियों के बीच पाये जाने वाले सूक्ष्मतम अन्तरों का प्रत्यक्षीकरण कर सके अपितु शरीर-विज्ञान तथा शरीर-प्रक्रिया-विज्ञान जैसे अन्य विज्ञानों का भी ज्ञान प्राप्त करना अपेक्षित होता है। साथ ही ध्वनियों के भौतिक रूपों का विश्लेषण करने के लिए उसे किसी सीमा तक भौतिक विज्ञान का भी परिचय आवश्यक होता है। इसीलिए कई बार यह भी प्रश्न उठाया जाता है कि वाक्ध्वनियों की उच्चारण प्रक्रिया तथा प्रत्यक्षीकरण प्रक्रिया का अध्ययन करने वाला यह विज्ञान भाषा-विज्ञान से बाह्य विज्ञानों पर निर्भर होने के कारण उसका प्रमुख अंग नहीं अपितु उसका एक परिधीय विषय है। किन्तु भाषा-विश्लेषण के कार्य में ध्वनियों के उत्पादन एवं प्रत्यक्षीकरण से सम्बद्ध प्रक्रियाओं का ज्ञान परमावश्यक होने के कारण अधिकतर विद्वान् इसे भाषा-विज्ञान का एक अंग मानने के पक्ष में हैं। बात यह है कि किसी भी वाक् के उद्भव तथा ग्रहण की प्रक्रिया में हमारे शरीर के विभिन्न अंगों का निरन्तर योग होता रहता है तथा इस प्रक्रिया के अप्रत्यक्ष ज्ञान के आधार पर ही वक्ता विभिन्न स्थानों से विभिन्न प्रक्रियाओं से उद्भूत होने वाली ध्वनियों को व्यवस्थित करके उनका शब्दों में तथा वाक्यों में प्रयोग करता है तथा श्रोता उसी के अनुरूप उनका अर्थ ग्रहण करता है।

इसके अतिरिक्त यह भी एक सर्वानुभूत तथ्य है कि वाक् ही भाषा के माध्यम से होने वाले मानव के भाव-संचार का एक मात्र सार्वभौम रूप है। मानव जाति के आदिम काल में, जबकि लिप्यंकन प्रणाली का विकास नहीं हुआ था, वाक् ही भाषा अथवा भावों के व्यक्तीकरण का एकमात्र आधार थी। आज भी अनेक मानव समुदायों में ऐसी भाषाएं बोली जाती हैं जिनके लिए किसी भी लेखन प्रणाली का आविष्कार नहीं किया जा सका है।

इसी प्रकार थोड़ा-सा विचार करने पर हम देखते हैं कि शिक्षित मानव समुदायों में भी सामान्य बालकों की भाषा को सीखने की प्रक्रिया में लिखना सीखने की अपेक्षा बोलना सीखने की क्रिया पहले हुआ करती है। इसके अतिरिक्त हमें यह भी स्मरण रखना चाहिए कि सामान्यतया भाषण एवं श्रवण की शरीर क्रियात्मक स्थितियों ने भाषा या किसी भी भाषा विशेष की स्थिति एवं विकास के लिए अवसर प्रदान किया है और उसका नियमन भी किया है। इसीलिए मानव *व्यवहार के इस अंग अर्थात् वाक् का समुचित अध्ययन करने के लिए* इनका अध्ययन भी सर्वथा प्रसंग-संगत कहा जायेगा। इसके बिना उसके रूप को सर्वतो-भावेन समझ पाना असम्भव नहीं तो कठिन अवश्य है।

ध्वनि-विज्ञान के इतिहास को देखने से पता चलता है कि प्रारम्भ में ध्वनि विज्ञानियों का लक्ष्य था प्रत्येक ध्वनि का यथातथ्य विस्तृत विवरण प्रस्तुत करना;

किन्तु बाद में यह अनुभव किया जाने लगा कि इस लक्ष्य को प्राप्त कर सकना सर्वथा असम्भव है, क्योंकि मानव के वाक् यन्त्रों से उत्पन्न होने वाली ध्वनियों का कोई अन्त नहीं, उन सभी के भेदों को बता सकना किसी प्रकार भी सम्भव नहीं। इससे अधिक से अधिक जो कुछ किया जा सकता है वह है वाक् यन्त्र के किसी स्थान विशेष में प्रकार विशेष के रूप में उद्भूत ध्वनियों का वर्गीकरण। साथ ही कुछ भाषाओं में कुछ ऐसी भी ध्वनियां हुआ करती हैं जिनका अन्य किसी भाषा में कभी भी प्रयोग नहीं हुआ करता है। इसलिए सामान्य भाषा विज्ञान में ध्वनि विज्ञान ने अपना लक्ष्य निर्धारित किया— किसी भाषा में प्राप्त होने वाली ध्वनियों का वर्गीकरण, उनका विश्लेषण तथा उनके उत्पादक उच्चारणावयवों की प्रक्रियाओं का विवेचन। साथ ही इसका एक और लक्ष्य है, ऐसे साधनों को प्रस्तुत करना जिनसे कि किसी भाषा की समस्त ध्वनियों का निकटतम रूप में वर्णन एवं वर्गीकरण किया जा सके।

उच्चारणात्मक स्वन विज्ञान का महत्त्व

ध्वनि-विज्ञान के उपरि निर्दिष्ट तीन अंगों में से उच्चारणात्मक स्वन विज्ञान का महत्त्व किसी भाषा के अध्ययन एवं विश्लेषण में विशेष रूप से हुआ करता है। इसका एक कारण यह भी है कि वाक् ध्वनियों को उत्पन्न करने तथा उनमें विभेदकता दर्शाने वाले शरीर के प्रमुख अंगों अर्थात् वागवयवों का सरलतापूर्वक चाक्षुष प्रत्यक्ष किया जा सकता है। यह प्रत्यक्ष साक्षात् रूप में भी हो सकता है तथा कालदर्शी यन्त्रों (लैरिंगोस्कोप) अथवा अनामकिरण चित्रों (एक्स रे) जैसे विभिन्न साधनों के द्वारा भी हो सकता है। इसमें से ओष्ठ, दांत, जिह्वा जैसे अनेक अंगों से तो प्रत्येक व्यक्ति परिचित होता ही है, किन्तु वाक् ध्वनियों के उच्चारण में योगदान करने वाले लगभग सभी अन्य अंगों का भी ऐसी पारिभाषिक शब्दावली में वर्णन सम्भव है जिसे कि अविशेषज्ञों के लिए भी समझना कठिन न होगा। वाक् प्रक्रिया में 'क्या, कब तथा कैसे बोलना है' जैसे रूपों पर वक्ता का स्वैच्छिक नियन्त्रण हुआ करता है। इसके अतिरिक्त प्रत्येक वक्ता को भाषण प्रक्रिया की गतिविधि का भी कुछ ज्ञान अवश्य रहता है अर्थात् उसे इस बात का बोध रहता है कि किन्हीं ध्वनियों के उच्चारण के समय उस प्रक्रिया में उसके कौन-कौन से उच्चारणावयव भाग ले रहे हैं तथा वे क्या-क्या कार्य कर रहे हैं। इस प्रकार के गति संवेदन के भाव को अवधान, प्रशिक्षण एवं अभ्यास के द्वारा कहीं लोगों में सामान्य मात्रा में तथा कुछ लोगों में विशेष मात्रा में विकसित किया जा सकता है।

उच्चारण की प्रक्रिया से सम्बद्ध इस ज्ञान के विकास के साथ-साथ व्यक्ति में उन भिन्न-भिन्न ध्वनि गुणों वाली ध्वनियों को पहचानने तथा उनके विभेदक

तत्वों को प्रत्यक्ष कर सकने की क्षमता बढ़ जाती है। स्वन-विज्ञान की भाषा में इसे 'श्रोत्र प्रशिक्षण' (ear training) कहा जाता है। इस प्रकार के प्रशिक्षित व्यक्ति को अपने वागवयवों पर नियंत्रण की क्षमता प्राप्त हो जाने पर वह न केवल अपनी भाषा वरन् किसी भी भाषा की ध्वनियों का सफलता पूर्वक उच्चारण कर सकता है।

किन्तु दूसरी ओर यह भी ज्ञेय है कि वक्ता जिस प्रकार अपने उच्चारणावयवों यथा, जिह्वा, ओष्ठ आदि के सम्बद्ध में उनकी गतिविधियों के सम्बद्ध में सचेत रह सकता है ठीक उसी प्रकार वह सामान्यतया न तो ध्वनि तरंगों के विषय में तथा न कानों पर उनके विसरण तथा ग्रहणात्मक प्रतिक्रियाओं के विषय में सचेत रहता है और न उनका चाक्षुष प्रत्यक्ष ही कर पाता है। अर्थात् न तो श्रोता को ध्वनि श्रवण की गति की संवेदना ही होती है और न ध्वनि श्रवण के प्रारम्भ और अन्त पर ही उसका इस प्रकार का नियंत्रण हुआ करता है, जिस प्रकार का किसी व्यक्ति का किसी वाक् को प्रारम्भ करने तथा समाप्त करने के सम्बद्ध में हुआ करता है। इसके अतिरिक्त एक बात यह भी है कि कर्ण-पट तथा उसकी भीतरी अस्थियों एवं झिल्लियों की संरचना एवं कार्य प्रक्रिया का ज्ञान ऐसे प्रशिक्षण तथा उपकरणों से नहीं किया जा सकता जिनका उपयोग सर्व-साधारण भाषा विज्ञानी किया करता है। इसके लिए उसे विशेष रूप से भौतिक स्वन-विज्ञान, ध्वनि तरंगों के सम्प्रेषण से सम्बद्ध भौतिकी, एवं श्रवण की शारीरिक प्रक्रिया तथा मनोविज्ञान के क्षेत्र में प्रशिक्षण लेना पड़ेगा जो कि इस क्षेत्र में कार्य करने वाले सर्व-साधारण भाषा विज्ञानी के लिए सम्भव नहीं। इसीलिए सामान्यतः सभी भाषा-विज्ञानी अपने को मुख्यतया उच्चारणात्मक स्वन-विज्ञान तक ही सीमित रखते हैं तथा भाषाओं के अध्ययन एवं विश्लेषण में ध्वनि विज्ञान की इसी शाखा से प्रमुख रूप से सहायता लिया करते हैं।

वाक् ध्वनियों की उत्पादन प्रक्रिया

वाक् वस्तुतः हमारी श्वास-प्रश्वास प्रक्रिया का एक अद्भुत उपफल है, क्योंकि अधिकतम वाक् ध्वनियों का उद्‌भव मूलतः निःश्वसन अर्थात् मुख एवं नासिका से निकलने वाली फेफड़ों की वायु शक्ति से हुआ करता है। यहां पर यह बता देना भी आवश्यक है कि हमारे वागवयव सविशेष रूप से केवल वाक् का उत्पादन करने वाले शरीरांग नहीं होते हैं अर्थात् ये स्वयं किसी ध्वनि को उत्पन्न करने में समर्थ नहीं होते, अपितु अन्य अंगों के सहयोग से ही ध्वनियों के उत्पादन का कार्य किया करते हैं। अतः उच्चारण की प्रक्रिया में काम आने वाले सभी प्रमुख अवयवों के सम्बन्ध में दृढ़तापूर्वक यह कह सकना कठिन है कि उनमें से किसी का भी यही एकमात्र कार्य है, जैसा कि जिह्वा, दांत, ओष्ठ तथा कण्ठ के भाषेतर उपयोगों में

प्रत्यक्ष ही देखा जा सकता है। फिर भी वागुच्चार में इन सब का एक अपरिहार्य योगदान होता है। कहने का अभिप्राय यह है कि श्वास नलिका के द्वारा आने वाली प्रश्वास वायु का जब मुख विवर में श्वास नलिका के मुख से लेकर होंठों तक के किसी भाग में किसी वागवयव के द्वारा किसी प्रकार का अवरोध होता है तो वही प्रश्वास वायु ध्वनि विशेष के रूप में सुनाई देती है। इसमें प्राथम तत्व को *उत्पन्न करने का कार्य हमारे कण्ठ में स्थित स्वर यन्त्र या स्वर तन्त्रियां करती हैं* तथा उनमें विभेदकता का कार्य अन्य वागवयव तथा उच्चारण प्रक्रियाएं करती हैं जो कि वक्ता के द्वारा स्वचालित रूप से नियमित होती हैं। अर्थात् प्रश्वास वायु के बाहर निकलते समय स्वर तन्त्रियों के *संकोचन तथा प्रसारण के कारण ध्वनि के* रूप में भिन्नता आ जाती है। प्रथम प्रकार की स्थिति में जो ध्वनि उत्पन्न होती है उसे नाद या घोष कहा जाता है तथा दूसरे प्रकार की ध्वनि को श्वास या अघोष। स्वर यन्त्र की उपर्युक्त स्थितियों से प्रभावित होकर बाहर को निकलती हुई इस प्रश्वास वायु का जब मुख-विवर के प्रारम्भ अभिकाकल से लेकर होंठों तक कहीं पर किसी वागवयव के द्वारा अवरोध होता है तो अवरोध के स्थान भेद व प्रकार के अनुसार भिन्न-भिन्न प्रकार की ध्वनियां उत्पन्न हुआ करती हैं।

ध्वनि ध्वनियों की उत्पादन प्रक्रिया के सम्बन्ध में पाणिनीय शिक्षा (6 9) में जो कुछ कहा गया है वह इस प्रकार है—

आत्मा बुद्ध्या समेत्यार्थान् मनो युङ्क्ते विवक्षया,
मनः कायाग्निमाहन्ति स प्रेरयति मारुतम्।
मारुतस्तूरसि चरन् मन्द्रं जनयते स्वरम्॥

× × ×

सोदीर्णो मूर्ध्न्यभिहतो वक्त्रमापद्य मारुतः।
वर्णाञ्जनयते तेषां विभागः पञ्चधा स्मृतः॥

अर्थात् जब सचेतन व्यक्ति किसी ध्वनि के उच्चारण की इच्छा करता है तो उसका यह चिन्तन उसके मन को इस कार्य के लिए उकसाता है, मन उसकी उन मांसपेशियों को संचालित करता है जो कि उसकी प्राण वायु अथवा प्रश्वास वायु को फेफड़ों से बाहर को धकेलती हैं। श्वास नलिका से होकर निकलता हुआ यही वायु स्वर तन्त्रियों से टकरा कर वाक् ध्वनि के रूप में परिवर्तित हो जाता है तथा मुख विवर में भिन्न-भिन्न भागों से टकराने के कारण पांच प्रकार की व्यंजन ध्वनियों को उत्पन्न करता है। अर्थात् उनका कण्ठ्य, तालव्य, मूर्धन्य, दन्त्य तथा ओष्ठ्य इन पांच प्रकार की भिन्न-भिन्न ध्वनियों के रूप में स्पष्टीकरण या प्रकटीकरण द्वारा प्रत्यक्षीकरण होता है। किस करण तथा किस प्रयत्न से किस रूप के

द्वारा किस स्थान से कौन-सी ध्वनि उत्पन्न होती है इसके लिए देखिए आगे—स्वन प्रक्रियात्मक विश्लेषण।

1. वागवयव

सामान्यत. हमारी श्वास-प्रक्रिया चुपचाप चलती रहती है, उसमें श्रव्य ध्वनियों की उत्पत्ति तभी होती है जब कि दबाव के साथ निकलती हुई वायु में कहीं पर अवरोध उत्पन्न होता है। परन्तु इसके लिए यह भी आवश्यक है कि इन *अवरोधों पर व्यक्ति या वक्ता का सहज तथा प्रभावशाली नियंत्रण हो।* वाक् ध्वनियों मे पाये जाने वाले विभेदों का कारण भी *अवरोधों के स्थान तथा प्रयत्न* मे होने वाले विभेद ही हुआ करते है। यद्यपि श्वास प्रक्रिया का सम्बन्ध हमारे फेफड़ों से लेकर ओष्ठ और नासिका के बाह्य भाग तक होता है किन्तु भाषा विज्ञानी की विशेष अभिरुचि एवं अध्ययन का क्षेत्र मुख विवर, ग्रसनी तथा काकल, स्वर यन्त्र *की गति विधियों तक ही सीमित हुआ करता है।* किन्तु इन सब मे से वक्ष (Thorax) का स्थान ध्वनि के उत्पादन मे विशेष रूप से महत्त्वपूर्ण हुआ करता है।

यो तो जैसा कि कहा गया है कि इन व्यक्त ध्वनियो के उत्पादन मे फेफड़ो से लेकर ओष्ठ तक शरीर के विभिन्न अंगो का योग हुआ करता है किन्तु यदि विचार *पूर्वक देखा जाय तो इसमे सबसे महत्त्वपूर्ण स्थान होता है धौंकनी,* फेफड़े तथा ध्वनि-नलिका अथवा श्वास नलिका का। इसी श्वास-नलिका के ऊपरी हिस्से में हमारा स्वरयन्त्र हुआ करता है। यह स्वरयन्त्र सुषिर (छेदों वाला) भी होता है तथा द्विनड (दो नलियो वाला) भी। इसके साथ लगी हुई स्वर तंत्रिया लचीली होने के कारण उन्हें इच्छानुसार संकीर्ण एव विस्तृत किया जा सकता है तथा आवश्यकतानुसार उनमे सम्पूर्ण रूप से या उनके कुछ-कुछ अंशो मे कम्पन भी कराया जा सकता है तथा उनके तनाव में विकार भी लाया जा सकता है। इन स्वर-तन्त्रियो मे होने वाले कम्पन से ही हमारी प्रश्वास वायु मे 'नाद' की उत्पत्ति हुआ करती है तथा स्नायु प्रयत्न से स्वर-यन्त्र को ऊपर उठाया या नीचे लाया जा सकता है जिनके कारण ध्वनि नलिका के सकीर्णन एव विस्तरण से इन 'घोष' ध्वनियो मे विभेद उत्पन्न किया जा सकता है।

धौंकनी और ध्वनि-यन्त्र के समान ही इस क्षेत्र में पड़ने वाले इन विवरों का भी ध्वनियो के उत्पादन मे विशेष योगदान हुआ करता है, जैसे कि उपालि-जिह्व, नासिका-विवर तथा मुख-विवर, जिनकी दीवारें लचीली होने के कारण आवश्यकतानुसार ऊंची-नीची तथा सकीर्ण-विस्तृत होती रहती हैं।

सामान्यतः व्यक्त ध्वनियो के उत्पादन मे योगदान करने वाले विभिन्न वाग-वयवो, जिन्हे कि सामूहिक रूप से ध्वनियंत्र का नाम दिया जाता है, को दो भागो मे विभक्त किया जा सकता है—

1 श्वासाद्वारीय फेफड़े : जैसा कि ऊपर कहा गया है कि हमारी वाक् ध्वनियों के उत्पादन में फेफड़ों का महत्त्वपूर्ण स्थान है। ये स्वयं यद्यपि ध्वनि यन्त्र के अंग नहीं होते हैं पर ध्वनियों के उत्पादन के प्रमुख उत्पादन कारण अवश्य होते हैं। यही वे धौंकनियां हैं जो कि प्राकृतिक रूप से फैलकर प्राण वायु या श्वास को हमारे अन्दर भरती हैं तथा संकुचित होकर उसे श्वास नलिका के द्वारा बाहर को फेंकती हैं जो कि अधिकांश व्यंजन ध्वनियों का उत्पादक हुआ करता है। यहां पर अधिकांश कहने का अभिप्राय यह है कि विश्व की कुछ भाषाएं ऐसी भी हैं जिनमें कि निश्वास प्रक्रिया में भी व्यंजन ध्वनियों (अन्तः स्फोटित ध्वनियों) का जन्म हुआ करता है।

2 श्वास नलिका—इसी प्रकार श्वास नलिका भी यद्यपि स्वर यन्त्र का मुख्य अंग नहीं, पर उसका प्रमुख उपादान अवश्य होती है। इसी के द्वारा बाहर की वायु श्वास के रूप में हमारे फेफड़ों में पहुंचती है, तथा प्रश्वास के रूप में बाहर निकलती है। इसी के ऊपरी सिरे पर कण्ठ/पिटक अथवा स्वरयन्त्र होता है।

3 काकल या अभिकाकल—वस्तुतः व्यंजन ध्वनियों का जन्म-स्थान काकल ही होता है क्योंकि यही प्राण वायु की सबलता, निर्बलता, कठोरता, कोमलता, घोषता, अघोषता को प्रभावित करने वाला प्रमुख उपकरण हुआ करता है। यह भोजन नलिका के विवर के साथ श्वास नलिका की ओर झुका हुआ जीभ जैसा एक कोमल मांस पिण्ड होता है, जिसे कि आम बोलचाल की भाषा में कौआ भी कहा जाता है। भोज्य या पेय पदार्थों को लेते समय यह श्वास नली को आवृत्त कर देता है तथा श्वास-प्रश्वास की प्रक्रिया में उसे अनावृत कर देता है।

4 स्वरतन्त्रियां अथवा स्वरयन्त्र—श्वास नलिका के ऊपरी छोर पर श्वास द्वार में ओष्ठों के आकार की दो पतली झिल्लियां होती हैं जिन्हें कि स्वर तन्त्रियां या घोष तन्त्रियां कहा जाता है। ये कोमल तथा लचीली होती हैं तथा इन्हें वायु-प्रवाह के प्रश्वसन या अन्तः श्वसन को अवरुद्ध करने के लिए पूरी तरह से एक-दूसरे के निकट लाया जा सकता है तथा इन्हें शिथिल करके कण्ठ द्वार के दोनों ओर समेटा भी जा सकता है। इस अवस्था में ये निरवरोध एवं अनुत्पीडित रूप से वायु का निस्सरण होने देती हैं, जिससे कि अघोष ध्वनियों का जन्म होता है। इस स्थिति में अभिकाकल या स्वरयन्त्र मुख पूर्णतः खुला रहता है।

किन्तु जब स्वर तन्त्रियां एक दूसरी के अति निकट आकर प्रश्वास वायु के मार्ग को अति संकीर्ण कर देती हैं तो वायु का निस्सरण घर्षण के साथ होने लगता है फलतः स्वर तन्त्रियों का कम्पन भी बढ़ जाता है। इस स्थिति में जिन ध्वनियों का जन्म होता है वे घोष ध्वनियां कहलाती हैं।

इसके अतिरिक्त, संकीर्ण छिद्र के द्वारा बहिर्गामी वायु के निस्सरण में बाधा उत्पन्न करने के लिए भी इन घोष तन्त्रियों को एक-दूसरे के निकट लाया जा

सकता है। इस अवस्था मे वायु मार्ग न पूरी तरह से खुला हुआ ही होता है और न अत्यन्त संकीर्ण ही। फलत. इस स्थिति मे जिन ध्वनियो का जन्म होता है उन्हें जपित या फुसफुसाहट वाली ध्वनिया कहा जाता है।

2. अधिश्वासद्वारीय

श्वासद्वार तथा घोष तन्त्रियो के आगे आने वाले प्रमुख वागवय हैं मुख विवर तथा नासिका विवर। मुख विवर के प्रमुख अग जो कि वायु के अवरोध मे सक्रिय होते हैं वे है—जिह्वा, काकलक, तालु, दात तथा ओष्ठ। इनका वागवयवात्मक विवरण इस प्रकार हैं—

1. जिह्वा—उच्चारणावयवों मे जिह्वा का स्थान इतना महत्त्वपूर्ण होता है कि अनेक भाषाओ में *'जिह्वा' तथा 'वाणी' दोनों के लिए एक ही शब्द प्रयुक्त होता है, यथा अरबी—'जबान' तथा अंग्रेजी 'टंग'। यो तो सामान्य स्थिति मे हमारी जिह्वा निष्क्रिय होकर मुख विवर के निचले भाग में पड़ी रहती है किन्तु वाग्व्यवहार मे इसका सक्रिय योग अधिकाधिक हो जाता है अर्थात् विभिन्न वाग्ध्वनियो के* उत्पादन के लिए वायु मार्ग का सकुचन एवं विस्तरण, विभिन्न स्थानो पर वायु का अवरोध इसी के द्वारा हुआ करता है।

यद्यपि शरीर के अग के रूप मे जिह्वा एक अविभाज्य इकाई होती है, क्योकि इसके संरचनात्मक भागों, फलक, पश्च, उपाग्र आदि का स्पष्ट रूप से विभाजन नही किया जा सकता है किन्तु स्वन-विज्ञानियों ने ध्वनियो के करण के रूप मे इसका पांच भागो मे विभाजन किया है जो कि वस्तुतः एक आरोपित विभाजन है जिन्हें वे 1. जिह्वानोक, 2. जिह्वाग्र, 3 जिह्वोपाग्र, 4. जिह्वामध्य तथा 5. जिह्वामूल के नाम से संकेतित करते है। बहुधा जिह्वा का यह विभाजन ध्वनियों के विभाजन का भी आधार हुआ करता है अर्थात् जिन ध्वनियो के उच्चारण मे जिह्वा का जो भाग प्रयुक्त होता है उसी के आधार पर ध्वनियों का वर्गीकरण किया जाता है। स्वर ध्वनियो के वर्गीकरण का आधार तो एक मात्र जिह्वा की स्थिति ही माना जाता है। इसके लिए जिह्वा की तीन क्षैतिज (horizontal) तथा तीन उर्ध्वाधर (Vertical) स्थतियां स्वीकार की गई हैं, क्षैतिज रूप मे इन्हें अग्र, मध्य तथा पश्च कहा जाता है तथा उर्ध्वाधर रूप से इन्हें निम्न, मध्य एव उच्च अथवा, विवृत, अर्धविवृत, अर्धसंवृत, तथा संवृत कहा जाता है। फलतः हिन्दी की स्वर ध्वनियो का प्रथम प्रकार से वर्गीकरण करने पर इ, ई, ए, ऐ, अग्र; अ मध्य, तथा उ, ऊ, ओ, औ, आ, पश्च कहलाते हैं तथा द्वितीय प्रकार के विभाजन में ई, इ, ऊ, उ को उच्च; ए, ओ, अ आदि को मध्य तथा आ, ऐ, औ को निम्न कहा जाता है।

इसी तरह व्यंजन ध्वनियो के उचारण में भी करण के रूप मे जिह्वा का योग बड़ा आवश्यक होता है। यही करण के रूप मे मुख विवर के अन्तर्गत दांत, कठोर

तालु, कोमल तालु आदि स्थानों पर प्रश्वास वायु का अवरोध करके विभिन्न व्यंजन ध्वनियों के उत्पादन में सहायक होती है। यह अवरोध पूर्ण रूप से भी हो सकता है तथा आंशिक रूप से भी। पूर्ण अवरोध में स्पर्श ध्वनियों का उद्भव होता है तथा आंशिक अवरोध में संघर्षी ध्वनियों का। इसके अतिरिक्त ऐसी भी स्थिति हो सकती है जिसमें कि जिह्वा की नोक किसी स्थान का स्पर्श करती हुई अपने पक्षक के दोनों ओर से अथवा एक ओर से वायु को निकलने देती है, हिंदी-संस्कृत की 'ल' ध्वनि का उच्चारण इसी प्रकार होता है। इस प्रकार की ध्वनियों को 'पार्श्विक' ध्वनियां कहा जाता है। कभी-कभी ऐसा भी होता है कि जिह्वा प्रतिवेष्टित होकर कम्पन के साथ वायु का विमोचन करती, हिन्दी-संस्कृत की 'र' ध्वनि के उच्चारण में जिह्वा की इस स्थिति को देखा जा सकता है। इस प्रकार की ध्वनियों को 'प्रकम्पी' ध्वनियां कहा जाता है।

2 ओष्ठ—जिह्वा के समान ही ओष्ठों का भी ध्वनियों के उत्पादन तथा विभाजन में महत्त्वपूर्ण योग हुआ करता है। स्वर ध्वनियों का वर्तुलित (rounded) तथा प्रसृत (spread) भेद-ओष्ठों के गोलीकरण तथा अगोलीकरण की स्थिति पर ही आधारित होता है। इसके अतिरिक्त श्वास वायु के अवरोधक के रूप में भी इनकी विशिष्ट स्थिति पाई जाती है। हिन्दी-संस्कृत की पवर्गीय ध्वनियों में ओष्ठ-स्थान तथा करण दोनों का कार्य करते हैं। इसके अतिरिक्त दन्तोष्ठ्य ध्वनियों, फ़्, व् आदि के उच्चारण में नीचे का ह टोकरण के रूप में कार्य करता है तथा वायु का आंशिक अवरोध करके संघर्षी ध्वनियों को उत्पन्न करता है।

3. दांत—ध्वनियों के उच्चारण में दांतों का योग कोमल तालु, कठोर तालु आदि के *समान केवल स्थान के रूप में ही होता है। जिह्वा के द्वारा करण का कार्य* किए जाने पर ये दन्त्य एवं वर्त्स्य ध्वनियों के उत्पादन में सहायक होते हैं तथा ओष्ठ के करण की स्थिति में दन्तोष्ठ्य ध्वनियों को उत्पादित करते हैं।

4 काकल—काकलीय ध्वनियां यद्यपि भारत-आर्य परिवार की तथा पर्याप्त सीमा तक भारोपीय परिवार की भाषाओं में नहीं पाई जाती हैं किन्तु अरबी आदि कुछ भाषाओं में इन ध्वनियों की स्थिति पायी जाती है, इनमें इन ध्वनियों का उत्पादन काकल तथा जिह्वा के पश्चतम भाग के बीच अवरोध उत्पन्न करके किया जाता है।

5 नासिका-विवर—मुख-विवर के समान ही नासिका-विवर का भी ध्वनियों के उत्पादन में विशिष्ट स्थान हुआ करता है। स्मरणीय है कि मुख-विवर के किसी भी भाग से उत्पादित ध्वनियां नासिक्य रञ्जन से युक्त हो सकती हैं क्योंकि किसी ध्वनि के उच्चारण के समय कोमल तालु दो स्थितियां धारण कर सकता है। ऊपर को उठने की स्थिति में यह मुख के अन्दर नासिका विवर को मुद्रित कर देता है

तथा निम्नस्थ स्थिति में यह पश्चभाग मे दोनों विवरों को संयुक्त कर देता है। ऐसी स्थिति मे वायु का किंचित् अंश नासिका विवर से बाहर निकला करता है। इसके फलस्वरूप ही हिन्दी संस्कृत की ञ्, म्, ङ्, ण्, न्, जैसी व्यंजन ध्वनियो तथा अं, इं, उं आदि स्वर ध्वनियों का उत्पादन हुआ करता है। इनमें से प्रथम शुद्ध रूप से अनुनासिक ध्वनियां हैं तथा द्वितीय नासिका रंजन युक्त। वैसे जैसाकि ऊपर कहा गया है कि कोई भी उच्चरित ध्वनि नासिका रंजन युक्त हो सकती है।

स्वन प्रक्रियात्मक विश्लेषण—मोटे तौर पर वाक् ध्वनियों का विश्लेषण उच्चारण स्थान—जिह्वाग्र, दन्तकूट आदि के अनुसार तथा उच्चारण प्रयत्न पूर्ण अवरोध, आंशिक अवरोध तथा अन्य कारणों के अनुसार दो रूपों में किया जाता है। ध्वनि प्रक्रिया के अध्ययन से देखा जाता है कि कुछ ध्वनियो के उच्चारण मे श्वास नलिका से निःसृत प्राण वायु किसी दृश्यमान अवरोध के बिना निकल जाता है तथा किन्ही मे श्वास नलिका या स्वर यन्त्रों के संकुचन के कारण उसमे घर्षण होता है, इनमें से प्रथम प्रकार की ध्वनियो को श्वास या अघोष कहा जाता है तथा द्वितीय प्रकार की ध्वनियो को नाद या घोष कहा जाता है। इस दृष्टि से देखने पर सभी स्वर ध्वनियां घोष वर्ग के अन्तर्गत तथा व्यंजन ध्वनियां घोष तथा अघोष दोनों वर्गों के अन्तर्गत आती हैं। इसलिए ध्वनि विज्ञानियो ने स्वर ध्वनियों की परिभाषा की है—स्वर घोष ध्वनि की वे विकृतियाँ हैं जिनके उच्चारण में न तो कोई अवरोध या घर्षण होता है और न जिह्वा या ओष्ठों का स्पर्श हो' (ब्लूमफील्ड)। इसी प्रकार डेनियल जॉन्स के अनुसार—'स्वर वह घोष ध्वनि है जिसके उच्चारण मे वायु प्रसनो तथा मुख से अनवरुद्ध गति से निरन्तर प्रवाहित होती है तथा जिसमें ऐसा कोई अवरोध या संकुचन नही होता जिससे कि किसी प्रकार का श्रव्य संघर्षण उत्पन्न हो।" किन्तु ध्वनियों के स्पृष्टत्व तथा अस्पृष्टत्व के आधार पर किया गया यह स्वर-व्यंजन विभेद सर्वथा निर्दोष नहीं, क्योंकि हकार व विसर्ग अस्पृष्ट होने पर भी स्वर नही, व्यंजन होते हैं। इसीलिए संस्कृत के आचार्यों ने इनकी परिभाषा की थी—**स्वयं राजते इति स्वरः** अर्थात् जो किसी अन्य ध्वनि की सहायता के बिना ही व्यक्त हो सकता है, या अक्षर की रचना कर सकता है वह स्वर है, तथा **स्वरेण व्यज्यते इति व्यंजनम्** अर्थात् जिसकी अभिव्यक्ति के लिए स्वर के सहायता की आवश्यकता होती है, वह व्यंजन है।

स्वरों का विश्लेषण—स्वरो की उपर्युक्त परिभाषा वस्तुतः सभी स्वरों मे समान रूप से पायी जाने वाली सामान्य विशेषता है, अन्यथा स्वरो में, यथा—अ, इ, उ आदि में कोई भेद न होता। किन्तु प्रत्यक्ष है कि इनमे भेद होता है और इस भेद का कारण है इनके उच्चारण के समय पायी जाने वाली जिह्वा की विभिन्न अवस्थितियां। इसके अतिरिक्त इनके उच्चारण में ओष्ठो का भी योग

रहता है। अत मुख के अन्दर जिह्वा की अवस्थिति तथा ओष्ठों की आकृति के आधार पर स्वरों के भेद किए जाते हैं। जीभ की अवस्थिति के अनुसार यह भेद अग्र, मध्य तथा पश्च के रूप में होता है तथा ओष्ठों की अवस्थिति के आधार पर गोलायित, अगोलायित एवं उदासीन के रूप में अर्थात् स्वर ध्वनियों के उच्चारण के समय मुख के अन्दर जीभ या तो बिलकुल अवनत स्थिति में रहती है या इसका अग्र फलक कठोर तालु की ओर अथवा पश्च भाग कोमल तालु की ओर भिन्न-भिन्न मात्राओं में उठता है। इन स्थितियों में ही हमें क्रमश. विवृत, अर्ध-संवृत तथा संवृत कहे जाने वाले स्वरों की उपलब्धि होती है। इसी प्रकार जीभ के भाग विशेष के उतार-चढ़ाव के अनुसार इनका अग्र, मध्य, पश्च भेद भी किया जाता है। जिन स्वरों के उच्चारण में जिह्वा का अग्र भाग उन्नत होता है उन्हें अग्र स्वर, जिनमें पश्च भाग अधिक उठता है उन्हें पश्च स्वर तथा जिनमें दोनों भाग उठते हैं उन्हें मध्य स्वर कहा जाता है। हिन्दी अथवा संस्कृत के ई, ऊ, तथा अ क्रमश इसके उदाहरण कहे जा सकते हैं। जीभ के मध्यवर्ती भाग के अवनत होने की स्थिति में आ का उच्चारण हुआ करता है।

जिह्वा की इन भिन्न-भिन्न स्थितियों के साथ सहवर्ती रूप में ओष्ठ भी विभिन्न मात्रा में वर्तुलित, अवर्तुलित अथवा उदासीन हो सकते हैं। स्वरगत गुणों का विभेद करने वाली ये ओष्ठगत विशेषताएं जिह्वा की स्थिति एवं ऊंचाई से सर्वथा निरपेक्ष रूप में प्रतीत हुआ करती हैं। इसी से स्वरों के वर्तुलित, अवर्तुलित *तथा उदासीन भेद भी हुआ करते हैं। हिन्दी-संस्कृत स्वर प्रक्रिया के अनुसार उ, ऊ,* ओ, औ, वर्तुलित अ उदासीन तथा अन्य अवर्तुलित स्वर हैं।

स्वरों के उपर्युक्त विभेदों में भारतीय परम्परा के अनुसार विवृत, संवृत आदि को तथा पाश्चात्य परम्परा के अनुसार उच्च, मध्य आदि पारिभाषिक शब्दावली *को महत्व दिया जाता है। जिह्वा की स्थिति के अनुसार इनका जो रूप पाया जाता* है वह इस प्रकार है—

विवृत अथवा निम्न—इनके उच्चारण में जिह्वा अपनी अवनततम स्थिति में रहती है तथा इसके तथा मुख-विवर के ऊपर वाले भाग में अधिकतम अन्तर पाया *जाता है, जैसे कि 'आ' के उच्चारण में।*

अर्ध-विवृत अथवा निम्नोच्च—इसके उच्चारण में जिह्वा तथा मुख विवर के ऊपरी भाग का अन्तर अपेक्षाकृत कम होता है, यथा, ऐ, औ, या अंग्रेजी के ऑ उच्चारण में।

अर्ध-संवृत अथवा उच्चनिम्न—इनके उच्चारण में दोनों के बीच का अन्तर और भी कम हो जाता है। हिन्दी-संस्कृत के ए, ओ, के उच्चारण में यही स्थिति पाई जाती है।

संवृत अथवा उच्च—इनके उच्चारण में जिह्वा तथा मुख विवर के ऊपरी भाग की दूरी न्यूनतम रह जाती है हिन्दी-संस्कृत की ई, ऊ, ध्वनियां इसी विभेद को दर्शाती हैं।

इसके अतिरिक्त पाश्चात्य विभाजनों में निम्नोच्चतर तथा उच्चनिम्नतर जैसी स्थितियों को भी स्वीकार किया गया है, जो कि जिह्वा की ऊंचाई की लघुतर अन्तरों को प्रकट करती है।

इसके अतिरिक्त कोमल तालु तथा कौवे की अवस्थिति के आधार पर स्वरों के शुद्ध (निरनुनासिक) तथा सानुनासिक भेद किए जाते हैं। जब ये दोनों नासिका मार्ग को रोककर वायु को केवल मुंह से निकलने को बाध्य करते हैं तो शुद्ध स्वरों की उपलब्धि होती है तथा जब प्राण वायु कोमल तालु के अवनमन के साथ अंशतः नासिका विवर से तथा अंशतः मुख से एक साथ निकलती है तो सानुनासिक स्वर ध्वनियों का उत्पादन होता है।

स्वर तन्त्रियों की अवस्थिति के अनुसार भी स्वरों का घोष तथा अघोष वर्गों में विभाजन किया जाता है अर्थात् जब स्वर तन्त्रियां एक-दूसरी के अति निकट आ जाती हैं तो वायु के अवरोध के कारण उनमें कम्पन की मात्रा बढ़ जाती है फलतः ध्वनियों में घोषत्व की मात्रा बढ़ जाती है, किन्तु जब वे शिथिल अवस्था में रहती है तो अवरोध के अभाव में घर्षण की मात्रा घट जाने से उनमें घोषत्व की न्यूनता हो जाती है। फुसफुसाहट की स्थिति में इसी प्रकार की ध्वनियां पायी जाती हैं। हिन्दी की कई विभाषाओं में इ, उ, ए, अघोष एवं 'मर्मर' (किंचित् घर्षण युक्त) स्वर भी पाए जाते हैं।

इसी प्रकार स्वरों के उच्चारण के समय मुख विवर की मांसपेशियों की तनावपूर्ण अथवा शिथिल स्थिति के कारण भी स्वरों के दृढ़ (tense) तथा शिथिल (lax) भेद किए जाते हैं। हिन्दी संस्कृत स्वर प्रक्रिया में ई, ऊ, प्रथम कोटि में तथा इ, उ, अ द्वितीय कोटि में आते हैं। अन्य स्वरों की स्थिति इन दोनों स्थितियों की मध्यवर्ती स्थिति मानी जाती है।

किन्हीं भाषाओं में स्वरों के मूल एवं संयुक्त भेद भी पाए जाते हैं। जिन स्वरों के उच्चारण में जिह्वा की स्थिति स्थिर रहती है उन्हें मूल स्वर कहा जाता है। मानक हिन्दी में सभी स्वर मूल स्वरों के रूप में पाए जाते हैं। किन्तु जब स्वरों के उच्चारण में जिह्वा एक स्वर के उच्चारण की स्थिति से अन्य स्वर के उच्चारण की स्थिति की ओर खिसकती है तो उन्हें संयुक्त स्वर कहा जाता है। हिन्दी की कुछ बोलियों में, संस्कृत में तथा अन्य अनेक देशी एवं विदेशी भाषाओं के इनकी स्थिति पर्याप्त मात्रा में पाई जाती है, यथा ऐ (=अइ), औ (=अउ) आदि।

जिस प्रकार उच्चारणात्मक उपादानों के आधार पर स्वर ध्वनियों का

विश्लेषण व वर्गीकरण किया जा सकता है। उसी प्रकार व्यंजन ध्वनियों का भी। व्यंजनों के विश्लेषण तथा वर्गीकरण के सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण आधार हैं, उच्चारण स्थान, उच्चारण प्रयत्न, स्वरतन्त्रियों का कम्पन तथा प्राणन।

1. प्रयत्न—'प्रयत्न' का सामान्य अर्थ है 'चेष्टा या प्रयास' अर्थात् जब हम किसी ध्वनि का उच्चारण करना चाहते हैं तो उस अभिलषित ध्वनि को उत्पन्न करने के लिए हमें प्राण वायु के मार्ग में कोई अवरोध उत्पन्न करना पड़ता है। इस अवरोध के कई रूप होते हैं। उन्हीं रूपों के आधार पर प्रयत्न भेद किया जाता है। इसके प्रमुख भेद हैं—स्पर्श (स्फुटित), संघर्षी, स्पर्श-संघर्षी, नासिक्य, पार्श्विक, लुण्ठित, अन्तस्थ।

स्पर्श—जब उच्चारण के प्रमुख अधिस्वासद्वारीय उच्चारण स्थानों पर किन्हीं दो वागवयवों का सम्पर्क होने से वायु मार्ग में पूर्ण अवरोध होने के बाद पुन. झटके के साथ वायु का श्रव्यात्मक विमोचन होता है तो स्पर्श या स्फोट कही जाने वाली व्यंजन ध्वनियों का उद्भव होता है। स्पष्ट है कि इस प्रकार का संयोग जिह्वा + तालु, जिह्वा + दांत तथा ओष्ठ + ओष्ठ के बीच हुआ करता है। हिन्दी-संस्कृत की क से लेकर म तक की सभी ध्वनियों को स्पर्श कहा जाता है। (कादयो मावसाना स्पर्शाः। तत्र स्पृष्टं प्रयत्नं स्पर्शानाम्)।

संघर्षी—जब इस प्रकार के दो अवयवों का संयोग सम्पृक्त न होकर शिथिल रूप में होता है अर्थात् आंशिक अवरोध होता है और वायु को उनके बीच के संकीर्ण मार्ग से निकलने दिया जाता है तो उससे संघर्षी ध्वनियों का उद्भव होता। हिन्दी संस्कृत की श, ष, स, ह तथा फारसी की ख़, ग़, फ़, आदि ध्वनियां इसी वर्ग की हुआ करती हैं (ईषद् विवृतमूष्मणाम्)।

स्पर्श संघर्षी—जब उच्चारणावयवों की स्थिति स्पर्श तथा संघर्षी दोनों प्रकार की रहती है तो स्पर्श संघर्षी ध्वनियों का उत्पादन होता है, किन्तु इसमें अवरुद्ध वायु का विमोचन सहसा न होकर शनैः-शनैः हुआ करता है, अंग्रेजी तथा अनेक भारतीय भाषाओं में तालव्य ध्वनियों च, छ, ज, आदि का यही रूप पाया जाता है। स्पर्श-संघर्षी ध्वनियां वस्त्र्य संघर्षी भी हो सकती हैं तथा तालव्य संघर्षी भी।

नासिक्य—जब अवनत मृदुतालु के साथ किसी भी अधिस्वासद्वारीय उच्चारण स्थान पर अवरुद्ध वायु का मोचन नासिका-विवर तथा नासारन्ध्रों से होता है तो उस स्थिति में अवरोध स्थान के अनुसार सभी स्पर्श ध्वनियों की सवादी नासिक्य ध्वनियों का उद्भव होता है। मुख के पूर्ण अवरोध के साथ बोले जाने वाले नासिक्य व्यंजन तो प्राय. सभी भाषाओं में पाये जाते हैं, किन्तु कुछ भाषाओं में अनुनासिक स्वरों के समान आंशिक अवरोध से उत्पन्न होने वाले व्यंजनों की भी स्थिति पायी जाती है—मुखनासिकावचनोऽनुनासिकः।

•

पार्श्विक—व्यंजन ध्वनियों के उच्चारण में जिह्वा के पार्श्विक तल को समतल रखने की अपेक्षा किंचित् उत्तल (उन्नतोदर) भी बनाया जा सकता है तथा पार्श्वों से वायु के निस्सरण को जारी रखते हुए तालु के मध्य में अवरोध उत्पन्न किया जा सकता है। इस प्रकार से उच्चरित व्यंजनों को ही पार्श्विक व्यंजन कहा जाता है। ये 'एक पार्श्विक' भी हो सकते हैं और 'द्विपार्श्विक' भी। हिन्दी-संस्कृत में ल ध्वनि इसी वर्ग की है।

लुण्ठित—लुण्ठित ध्वनियों के उच्चारण में जिह्वा की नोक को मुख के अन्दर और पीछे की ओर ले जाया जाता है तथा जिह्वा के मुख्य भाग को अवनत रखा जाता है। यह भाषा विशेष के सन्दर्भ में प्रकम्पनयुक्त भी हो सकता है और प्रकम्पनहीन भी। हिन्दी-संस्कृत की र ध्वनि इसी वर्ग की है।

उत्क्षिप्त—जब जिह्वा प्रतिवेष्ठित रूप में उच्चारण स्थान का स्पर्श करके झटके के साथ अपनी मूल स्थिति में आ जाती है तो उत्क्षिप्त ध्वनियों को जन्म देती है। हिन्दी में ड़, ढ़ आदि इसी कोटि की ध्वनियां हैं।

अन्तस्थ—अन्तस्थ का अर्थ है 'बीच की' अर्थात् ये ध्वनियां स्वरों तथा व्यंजनों के बीच की स्थिति को दर्शाती है अर्थात् इनके उच्चारण में न तो जिह्वा की स्थिति स्पर्श ध्वनियों के समान होती है और न स्वरों के समान ही (ईषत् स्पृष्टमन्तस्थानाम्)। इन्हें इन्हीं गुणों के कारण संघर्षहीन 'प्रवाही' ध्वनियां भी कहा जाता है।[1] हिन्दी-संस्कृत में य तथा व अन्तस्थ ध्वनियां हैं। संस्कृत में र तथा ल भी इसी वर्ग में परिगणित की जाती थी (यणोऽन्तस्थाः)।

इनके अतिरिक्त विश्व की अनेक भाषाओं में 'हिक्कित', 'अन्त:स्फोटित' एवं 'क्लिक' वर्ग की भी ध्वनियां पायी जाती हैं जिनके विशेष विवरण को सामान्य भाषा-विज्ञान की पुस्तकों में देखा जा सकता है।

2. स्थान—व्यंजन ध्वनियों के उच्चारण में होने वाले अवरोध के स्थान के आधार पर भी ध्वनियों का विभेद किया जाता है, सामान्यतया निम्नलिखित उच्चारण स्थानों से व्यंजन ध्वनियों का उत्पादन हुआ करता है।

स्वरयंत्रमुखी (laryngeal)—स्वरयंत्रमुखी ध्वनियों का उच्चारण स्वरयंत्रमुख से किया जाता है, यथा हिन्दी का 'ह्'।

उपालिजिह्वीय (pharyngeal)—इनका उच्चारण स्वरयंत्र तथा अलिजिह्वा के मध्य में होता है। हिन्दी में इस प्रकार की ध्वनियों का अभाव है। अरबी की "ऐन" ध्वनि का उच्चारण इस कोटि में आता है। संस्कृत में जिह्वामूलीय क, ख इसी कोटि की ध्वनियां थी।

अलिजिह्वीय (uvular)—काकल अथवा अलिजिह्वा से उच्चरित होने वाली

ध्वनियाँ इसी वर्ग की हैं। हिन्दी संस्कृत में इनका अभाव है। अरबी की क़, ख़, ग़ इसी वर्ग की हैं।

कोमल तालव्य अथवा कण्ठ्य ध्वनियाँ—इनके उच्चारण में जिह्वा का पश्च भाग कोमल तालु का स्पर्श करता है। हिन्दी-संस्कृत की क वर्गीय ध्वनियाँ इसी कोटि की हैं।

मूर्धन्य (cerebral)—कठोर तालु के मध्य भाग को मूर्धा कहा जाता है। जिह्वा के द्वारा प्रतिवेष्टित रूप में इस स्थान का स्पर्श करने से जिन ध्वनियों की उत्पत्ति होती है वे मूर्धन्य ध्वनियाँ कहलाती हैं। हिन्दी संस्कृत की ट वर्गीय ध्वनियाँ तथा ष इसी वर्ग में आते हैं। जिह्वा के प्रतिवेष्टन के कारण इन्हें 'प्रतिवेष्टित' ध्वनियाँ भी कहा जाता है। वैदिक संस्कृत की ळ तथा ळ्ह ध्वनियाँ भी इसी वर्ग की थीं।

तालव्य (palatal)—जब जिह्वा का अग्रभाग ऊपर उठकर कठोर तालु पर वायु का अवरोध करता है तो उससे तालव्य ध्वनियों की उत्पत्ति होती है। हिन्दी-संस्कृत की च वर्गीय ध्वनियों तथा श का उच्चारण इसी प्रकार का है।

वर्त्स्य (alveolar)—कठोर तालु तथा ऊपर के मसूड़ों के मध्यवर्ती भाग को 'वर्त्स्य' कहा जाता है। इस स्थान पर जिह्वा के अवरोध से उत्पन्न होने वाली ध्वनियों को "वर्त्स्य" ध्वनियाँ कहा जाता है। हिन्दी के स, र का उच्चारण अब "वर्त्स्य" में ही किया जा रहा है। अंग्रेजी के 'टी' 'डी' का उच्चारण स्थान भी वर्त्स्य ही है।

दन्त्य (dental)—जिह्वा की नोक के द्वारा ऊपर के दांतों पर अवरोध उत्पन्न करने से जिन ध्वनियों का जन्म होता है वे दन्त्य ध्वनियां कहलाती हैं। हिन्दी संस्कृत की त वर्गीय ध्वनियाँ तथा स इसी कोटि में आते हैं। इस स्थान से संघर्षी ध्वनियाँ भी उत्पन्न होती हैं यथा अंग्रेजी की द, थ, ज, आदि।

दन्तोष्ठ्य (labio-dental)—इस वर्ग की ध्वनियों के उच्चारण में ऊपर के दांत नीचे के ओष्ठ से संयुक्त होकर श्वास वायु का अवरोध करते हैं। संस्कृत में 'व' दन्तोष्ठ्य ही था।

ओष्ठ्य (bilabial)—इस वर्ग की ध्वनियों के उच्चारण में दोनों ओष्ठ आपस में मिलकर श्वास वायु का अवरोध करके पुनः झटके के साथ उसका मोचन करते हैं। हिन्दी-संस्कृत की पवर्गीय ध्वनियाँ इसी प्रकार की हैं।

इसके अतिरिक्त इनके उच्चारण में होने वाले स्वर तंत्रियों के कम्पन की न्यूनाधिकता तथा प्राण वायु की न्यूनाधिकता के आधार पर भी इनका वर्गीकरण किया जाता है।

3 स्वर-तंत्रियों का कम्पन—स्वर तंत्रियों के कम्पन के आधार पर व्यंजनों के दो भेद किये जाते हैं—अघोष और घोष।

अघोष—इनके उच्चारण मे स्वर तन्त्रिया एक दूसरी से पृथक्-पृथक् रहती हैं तथा उनमे कम्पन भी बहुत कम होता है। हिन्दी-सस्कृत में प्रत्येक वर्ग की प्रथम, द्वितीय ध्वनियां तथा श, ष, स इसके अन्तर्गत आते हैं। इन्हें श्वास तथा कठोर भी कहा जाता है **(खरो विवाराः श्वासा अघोषाश्च)**

घोष—इनके उच्चारण मे स्वर तन्त्रियाँ एक-दूसरे के अति निकट आ जाती हैं और उनमे पर्याप्त कम्पन भी होता है। हिन्दी-सस्कृत मे प्रत्येक वर्ग की तृतीय, चतुर्थ एवं पंचम ध्वनिया तथा अन्तस्थ एव प्रवाही ध्वनियां इसके अन्तर्गत आती है। इन्हें कोमल ध्वनियां माना जाता है **(हशः संवारा नादा घोषाश्च)**।

4 **प्राणत्व**—प्राणत्व के आधार पर भी व्यजनो को अल्पप्राण तथा महाप्राण इन दो वर्गों मे विभाजित किया जाता है।

अल्पप्राण—जिनके उच्चारण में प्राणवायु की मात्रा न्यून होती है उन्हें अल्प-प्राण कहा जाता है। हिन्दी सस्कृत में प्रत्येक वर्ग की प्रथम, तृतीय, पंचम ध्वनियाँ तथा य, र, ल, व, ड़, श, ष, स इसी के अन्तर्गत आती है। **वर्गाणां प्रथमतृतीयपंचमा-यणश्चाल्पप्राणाः)**

महाप्राण—जिनके उच्चारण मे प्राणवायु का आधिक्य हो वे महाप्राण ध्वनियां कहलाती हैं। हिन्दी संस्कृत के प्रत्येक वर्ग की द्वितीय, चतुर्थ ध्वनियां ह, न्ह, म्ह, ल्ह, र्ह, ढ आदि ध्वनियां इस वर्ग मे आती है **(वर्गाणां द्वितीयचतुर्थौ शलश्च महाप्राणाः)**।

इनके अतिरिक्त अनुनासिकता के आधार पर भी व्यंजन ध्वनियों का मौखिक, मौखिक-नासिक्य तथा नासिक्य के रूप मे विभाजन किया जा सकता है, यथा क्रमशः क, क, ङ् आदि।

सक्षेप मे यही है सामान्य रूप से वाग्व्यवहार में आने वाली विभिन्न प्रकार की ध्वनियों का परिचय एव वर्गीकरण।

3

प्राचीन वैयाकरणों द्वारा प्रस्तुत संस्कृत का स्वन-प्रक्रियात्मक विश्लेषण

संस्कृत के स्वन-प्रक्रियात्मक विश्लेषण के सम्बन्ध में यह बात विशेष रूप से उल्लेखनीय है कि व्यंजन ध्वनियों की उच्चारण-प्रक्रिया एवं स्थान करण आदि के विषय में जैसा सूक्ष्म विवेचन प्राचीन भारत में किया था वैसा संसार में और कहीं नहीं मिलता है। वैदिक मन्त्रों में उच्चारण की शुद्धता पर अत्यधिक बल होने के कारण उसी काल से वैदिक ध्वनियों के उच्चारण के सम्बन्ध में विवेचन प्रारम्भ हो गया था जिसके फलस्वरूप विभिन्न 'प्रातिशाख्यों' एवं 'शिक्षा' ग्रन्थों में इन ध्वनियों का बड़ा गहन विश्लेषण पाया जाता है। कुछ ध्वनियों के विषय में देश, काल, सम्प्रदाय आदि भेद से उच्चारण सम्बन्धी भेद अथवा विभिन्नताएं भी पायी जाती हैं, पर अधिकतर ध्वनियों के सम्बन्ध में अधिकतर आचार्य एकमत पाये जाते हैं। संस्कृत ध्वनियों के ध्वनिवैज्ञानिक विश्लेषण एवं संधिगत अथवा ध्वनि सम्बन्धीय उच्चारण की विशेषताओं पर विचार करने की यह परम्परा हमें साहित्यिक संस्कृत के स्वरूप की स्थिरता के समय तक निर्बाध रूप से मिलती है।

हम देखते हैं कि महर्षि पतंजलि के समय तक संस्कृत ध्वनियों के स्वतन्त्र (isolated) एवं सन्धिगत उच्चारण का जो रूप स्थिर हो चुका था वह फिर उसी रूप में स्वीकार किया जाता रहा। अतः हम यहाँ पर साहित्यिक संस्कृत की ध्वनियों के उच्चारण के सम्बन्ध में संक्षेप से विचार करते हुए वैदिक काल के विशिष्ट उच्चारणों पर भी विचार करेंगे।

वाग्ध्वनियों का स्थानगत एवं प्रकारगत विश्लेषण

सभी जानते हैं कि संस्कृत वर्णसमाम्नाय में कुल 9 स्वर ध्वनियों एवं 33 व्यंजन ध्वनियों की सत्ता स्वीकार की गई है। उच्चारण स्थान की दृष्टि से इन सम्पूर्ण ध्वनियों को 11 रूपों में विभक्त किया गया है। इस विभाजन का आधार मुख्यतः इनके उच्चारण के समय इनके करण की स्थिति को माना गया है। स्मरण रहे कि ओष्ठ्य एवं दन्तोष्ठ्य ध्वनियों को छोड़कर शेष सभी ध्वनियों के उच्चारण में इन ध्वनियों के करण, जिह्वा का कोई-न-कोई भाग बोलने वाले के मुख विवर के किसी न किसी स्थान का स्पर्श करता है और इन दोनों के सम्पर्क से स्वर यन्त्र से निकलने वाली वायु अन्य ध्वन्यात्मक तत्त्वों से समवेत होकर अभिलषित व्यक्त ध्वनि को उत्पन्न करने में समर्थ होती है। संस्कृत वैयाकरणों ने भिन्न-भिन्न व्यक्त ध्वनियों के उच्चारण स्थानों का विवरण इस प्रकार प्रस्तुत किया है।

उच्चारण स्थान—संस्कृत ध्वनियों के उच्चारण स्थानों के विषय में प्राचीन ग्रन्थों में जो विवरण प्राप्त होता है वह इस प्रकार है।

1 स्वर ध्वनियां—यद्यपि आधुनिक भाषाशास्त्रीय विश्लेषण में स्वर ध्वनियों की उच्चारण प्रक्रिया का विवरण कुछ भिन्न प्रकार से प्रस्तुत किया जाता है, किन्तु संस्कृत वैयाकरणों ने इनके उच्चारण स्थानों का निर्देश स्पर्श ध्वनियों के साथ ही उन्हीं के समान किया है। उनके अनुसार अ, आ का उच्चारण स्थान कण्ठ, इ, ई का तालु, उ, ऊ का ओष्ठ, ए, ऐ का कण्ठ-तालु, ओ, औ का कण्ठ-ओष्ठ, ऋ ॠ का मूर्धा तथा ऌ, ॡ का दन्त या दन्तकूट कहा गया है।[1] प्रातिशाख्यों में ऋ, ऌ को जिह्वामूलीय माना गया है[2] किन्तु पाणिनीय परम्परा के वैयाकरण इनका उच्चारण स्थान उपर्युक्त प्रकार का ही मानते हैं। इसके अतिरिक्त ए, ओ को यद्यपि मूलस्वर स्वीकार किया गया है, किन्तु संध्यक्षरों, ऐ, औ के समान ही ए का

---

1. प्राचीन आचार्यों ने आ ई, ऊ, ॠ को मूलस्वर न मानकर उन्हें इनके सवर्णी स्वरों अ, इ, उ, ऋ का दीर्घ रूप माना है।
2. दे० ऋक् प्राति. (1.18), पर वाज. प्राति. (1.65.1.69) में ऋ को जिह्वामूलीय तथा ऌ को दन्त्य कहा गया है।

स्थान कण्ठ-तालु तथा ओ का स्थान कण्ठोष्ठ्य ही माना गया है।[1] शिक्षा ग्रन्थों में ऐ, औ का उच्चारण क्रमश आइ, आउ के समान कहा गया है, किन्तु आजकल यह उच्चारण अइ, अउ के समान हो गया है।

व्यंजन ध्वनियाँ—संस्कृत के भाषा शास्त्रियों ने संस्कृत की समस्त व्यंजन ध्वनियों को तीन भागों में विभक्त किया है। 1. स्पर्श, 2. अन्तःस्थ, 3. ऊष्म अर्थात् क् से लेकर म् तक की समस्त ध्वनियों को स्पर्श, य् र्, ल्, व् को अन्तःस्थ, श् ष् स्, ह् को ऊष्म श्रेणी के अन्तर्गत रखा गया है।[2] उच्चारण स्थान की दृष्टि से क्, ख्, ग्, घ्, ह् तथा विसर्गों को कण्ठ्य, च्, छ्, ज्, झ्, य्, श् को तालव्य, ट्, ठ् ड्, ढ्, र्, ष् को मूर्धन्य,[3] त्, थ्, द्, ध्, ल्, स् को दन्त्य, प्, फ्, ब्, भ् को ओष्ठ, व् को दन्तोष्ठ्य, ञ्, म्, ङ्, ण्, न्, को नासिक्य ध्वनियां माना गया है।[4] संस्कृत के आधुनिक उच्चारण में *व्यंजन ध्वनियों के उपर्युक्त उच्चारण स्थानों में कहीं-कहीं* अन्तर आ गया है, यथा कण्ठस्थानीय ध्वनियों का उच्चारण स्थान अब ठीक कण्ठ विवर न होकर मृदुतालु हो गया है, अत. अब ये ध्वनियां कण्ठ्य न होकर मृदुताल-वीय हो गई हैं। इसी प्रकार दन्त्य ध्वनियों का उच्चारण अब वर्त्स्य या दन्तमूलीय हो गया है, *मूर्धन्य ध्वनियों को भी अब प्रतिवेष्टित कहना अधिक संगत होगा।* इसके अतिरिक्त आधुनिक ध्वनिशास्त्री नासिक्य ध्वनियों की गणना स्पर्शों में न करके प्रवाही ध्वनियों में करते हैं। इसी प्रकार र् तथा ल् को ये लोग अन्तःस्थ न मानकर तरल ध्वनियां मानते हैं।

इनके अतिरिक्त शब्द के अन्तर्गत इनके से विसर्गों के बाद आने वाले क्, ख् एवं प्, फ् का उच्चारण इनकी ही सपर्षी ध्वनियों के समान होता था। इस प्रकार क् (q), ख् (x) का उच्चारण स्थान जिह्वामूल एवं प्, फ (ɸ) का दन्तोष्ठ माना गया है, यथा प्रात काल [प्रातक् काल], अन्त पुर [अन्तप्पुर] आदि।[5]

उच्चारण प्रक्रिया—*संस्कृत की स्वतन्त्र* (isolated) *ध्वनियों के* उच्चारण स्थानों के विषय में यहां पर केवल इतना ही कह कर अब हम संक्षेप से इनकी उच्चारण प्रक्रिया के विषय में भी कुछ विवरण प्रस्तुत करेंगे। संस्कृत वैयाकरणों

---

1. एदैतो कण्ठतालु, ओदौतो। कण्ठोष्ठ्यम्। सि कौमुदी।
2. कादयो मावसानाः स्पर्शाः। यणोऽन्तःस्थाः। शल ऊष्माणः। वही।
3. प्रातिशाख्यों में र् तथा ऋ को दन्त्य माना गया है पर पाणिनि एवं आपिशलि शिक्षाओं में इन्हें मूर्धन्य कहा गया है।
4. अकुहविसर्जनीयानां कण्ठ। इचुयशानां तालु, ऋटुरषाणां मूर्धा, लृतुलसानां दन्ताः। उपूपध्मानीयानामोष्ठौ। वकारस्य दन्तोष्ठम्। ञमङणनानां नासिका च। सि कौ।
5. ⌣क, ⌣ख इति कखाभ्यां प्रागर्धविसर्गसदृशो जिह्वामूलीयो। ⌣प, ⌣फ इति पफाभ्यां प्रागर्धविसर्गसदृशो उपध्मानीयो। सि. कौ।

की पारिभाषिक शब्दावली में इन्हें प्रयत्न कहा जाता है। ये दो प्रकार के माने गये हैं। (1) आभ्यन्तर प्रयत्न, (2) बाह्य प्रयत्न।

आभ्यन्तर प्रयत्न—यह पांच प्रकार का माना गया है—1. स्पृष्ट, 2 ईषत् स्पृष्ट, 3 ईषद्विवृत, 4. विवृत, 5 संवृत। इसके अनुसार स्पर्शों का स्पृष्ट, अन्तस्थों का ईषत् स्पृष्ट, ऊष्मों का ईषद् विवृत, स्वरों का विवृत तथा ह्रस्व अ का संवृत प्रयत्न होता है।

बाह्य प्रयत्न—संस्कृत के वैयाकरणों ने बाह्य प्रयत्न के 11 भेद माने हैं[1] पर ध्वनिशास्त्र की दृष्टि से इसके तीन रूप विशेष महत्त्व के माने जाते हैं। वे हैं घोषता, महाप्राणता एवं अनुनासिकता। इसकी सुविधा के लिए समस्त स्पर्शों को पांच वर्गों में बांटा जाता है। एक स्थान से उच्चरित स्पर्श ध्वनियों को एक वर्ग में रखा जाता है, यथा कण्ठ से उत्पन्न होने वाले क् आदि को कवर्ग, तालु से उद्भूत च आदि को चवर्ग आदि में। इस प्रकार प्रत्येक वर्ग के प्रथम, द्वितीय वर्णों एवं सोष्म ध्वनियों में श्वास की प्रधानता के कारण इन्हें अघोष कहा जाता है, किन्तु इसके विपरीत प्रत्येक वर्ग के तृतीय, चतुर्थ वर्णों, नासिक्यों एवं अन्तस्थों में नाद की प्रधानता के कारण इन्हें घोष कहा जाता है। कण्ठ नालिका के असंवरण के कारण प्रथम प्रकार की ध्वनियों को 'विवार' तथा उसके संवरण (संकुचन) के कारण द्वितीय प्रकार की ध्वनियों को 'संवार' भी कहा जाता है। इसके अतिरिक्त प्रत्येक वर्ग की प्रथम, तृतीय एवं पंचम ध्वनियों तथा अन्तस्थों में प्राणवायु की न्यूनता के कारण इन्हें अल्पप्राण तथा इनसे भिन्न अर्थात् प्रत्येक वर्ग की द्वितीय, चतुर्थ एवं ऊष्म ध्वनियों में प्राण वायु की अधिकता के कारण इन्हें महाप्राण कहा जाता है। उदात्त, अनुदात्त एवं स्वरित जैसे स्वराघातात्मक प्रयत्नों का सम्बन्ध केवल स्वरों के साथ ही सम्भव हो सकता है, अतः इनका सम्बन्ध भी केवल स्वरों के साथ ही होता है।

विशिष्ट वैदिक ध्वनियां—संस्कृत के वर्णसमाम्नाय में परिगणित उपर्युक्त ध्वनियों के अतिरिक्त संस्कृत की कुछ अन्य ध्वनियां भी हैं जो कि केवल वैदिक काल में ही प्रचलित थीं तथा बाद में उनका प्रचलन नहीं रहा, केवल वैदिक संस्कृत के सन्दर्भ में ही उनका प्रयोग किया जाता रहा। प्राचीन ध्वनिशास्त्रीय ग्रन्थों को देखने तथा वैदिक संस्कृत के लिप्यंकित रूपों को देखने से पता चलता है कि वैदिक संस्कृत में वृष्ण ल् के समकक्ष दो ध्वनियां थीं जिन्हें क्रि ल तथा ल्ह के

---

1. यथा—बाह्यस्त्वेकादशधा—विवार, संवार, श्वासो, नादो, घोषोऽघोषोऽल्पप्राणो, महाप्राणो, उदात्तोऽनुदात्त स्वरितश्चेति। सि. कौ.

रूप मे अंकित किया जाता था। स्पष्ट है कि उपर्युक्त प्रथम ध्वनि अल्पप्राण थी तथा द्वितीय ध्वनि उसी का महाप्राण रूप थी। ये दोनों ही ध्वनियां उच्चारण की दृष्टि से उत्क्षिप्त प्रतिवेष्टित थीं तथा इनके उच्चारण मे जिह्वा का अग्रभाग उलट कर कठोरतालु को छू कर झटके के साथ नीचे को उतरता था। सम्भवतः यह उच्चारण हिन्दी पंजाबी के ड़ के उच्चारण के अति निकट था।

4

स्वनिम-विज्ञान : सामान्य परिचय

स्वन-विज्ञान के सन्दर्भ में यह बताया जा चुका है कि स्वन-तत्व भाषा की आधार भूत इकाई होता है। हमारे वाक् यंत्र से उत्पन्न होने वाली ध्वनियों के अनन्त रूप व भेद हो सकते हैं यद्यपि उनमे इतने सूक्ष्म अन्तर होते हैं कि उन्हें यंत्रों की सहायता के बिना पकड़ पाना कठिन होता है। सैद्धान्तिक रूप में यह बात स्वीकार की गई है कि किसी भी ध्वनि का एकाधिक बार किया गया उच्चारण सर्वथा एक रूप नहीं हो सकता और न कोई दो व्यक्ति किसी ध्वनि का तद्रूप उच्चारण कर पाते हैं। अन्तर चाहे जितना भी सूक्ष्म हो, पर होता अवश्य है।

स्वनिमिक विश्लेषण का महत्त्व—भाषा वैज्ञानिक विश्लेषणों में ध्वनिग्रामिक (स्वनिमिक) विश्लेषण का महत्त्वपूर्ण स्थान है। यह आधुनिक भाषा वैज्ञानिक प्रविधि एवं पद्धति का अपरिहार्य अंग बन गया है। ध्वनिग्राम या स्वनिम शब्द अंग्रेजी के 'फोनीम' (Phoneme) शब्द का भारत सरकार के पारिभाषिक एवं तकनीकी शब्दावली आयोग के द्वारा स्वीकृत हिन्दी रूपान्तर है। रूपग्राम की अपेक्षा 'स्वनिम' शब्द ध्वनिसाम्य की तथा सार्थकता की दृष्टि से अंग्रेजी के 'फोनीम' शब्द के अधिक निकट होने के कारण अधिक ग्राह्य हुआ है तथा अब हिन्दी भाषा में

लिखित भाषा-विज्ञान सम्बन्धी लेखों तथा ग्रन्थों में अधिकाधिक प्रचलित होता जा रहा है। ध्वनिग्राम शब्द की रचना संगीत के स्वरग्राम शब्द के सादृश्य पर की गयी थी, किन्तु 'स्वनिम' शब्द का सम्बन्ध संस्कृत के ध्वनिकरण परक 'स्वन्' धातु से जोड़ा जाता है जोकि अर्थ की दृष्टि से अधिक व्यंजक है।

स्वनिम (ध्वनिग्राम) समूह ही किसी भाषा या बोली का मूलाधार होता है तथा इसी के आधार पर उसके लिपि चिह्नों का निर्धारण होता है। यद्यपि स्वनिम का सम्बन्ध भाषा के उच्चारणात्मक रूप से होता है तथापि उसके ध्वनि संकेतों के लिए निर्धारित लिपि चिह्नों से भी केवल लिखित रूप में उपलब्ध संस्कृत जैसी पुरातन भाषा के स्वनिमों का अनुमान लगाया जा सकता है। इस स्थिति में इन्हें वर्ण कहा जाता है। किसी भाषा के लिखित इतिहास में आचार्य पाणिनि के वर्ण-समाम्नाय को इसका सर्व प्रथम उपलब्ध रूप कहा जा सकता है। वैसे स्वनिम के निर्धारण तथा उसके स्वरूप विवेचन के सम्बन्ध में हमारे प्राचीन भाषा-शास्त्रीय ग्रन्थ *'शिक्षा' एवं 'प्रातिशाख्य' इसका निरूपण करने वाले सर्वप्रथम ग्रन्थ हैं,* यद्यपि उनकी विश्लेषण पद्धति आधुनिक पद्धति से किंचित् भिन्न है।

स्वनिम का सम्बन्ध भाषा के उच्चरित रूप के साथ होने के कारण प्रत्येक भाषा या बोली के स्वनिम एक-दूसरे से पृथक् एवं स्वतन्त्र होते हैं। प्रथम तो दो *भाषाओं के स्वनिमों में समानता होती ही नहीं है और यदि प्रतीत भी होती है तो* वह केवल भ्रामक प्रतीति के रूप में ही होती है। इसी प्रकार इनकी संख्या का भी कोई निर्धारण नहीं होता अर्थात् प्रत्येक भाषा तथा बोली के स्वनिमों की संख्या पृथक्-पृथक् होती है। अब तक की विश्व की अधीत भाषाओं में प्राप्त मूल सार्थक *ध्वनियों (स्वनिमों) के आधार पर देखा गया है कि इनकी संख्या कम-से-कम पन्द्रह* तथा अधिक-से-अधिक पचास हो सकती है। किसी भी भाषा की मूलभूत ध्वन्यात्मक इकाइयों का निर्धारण उसके स्वनिमों के निर्धारण पर ही निर्भर होता है। इसके अभाव में वाग्व्यवहार में विभिन्न प्रकार के ध्वन्यात्मक रूपों में प्रतीत *होने वाली अनन्त प्रकार की वाग् ध्वनियों को व्यवस्थित करना तथा उनका* विश्लेषण करना एक असम्भव कार्य हो जायेगा। इसी समस्या के समाधान के लिए ही भाषा-विज्ञानियों के द्वारा किसी भाषा की अनन्त ध्वनियों को स्वन (Phone), संस्वन (Allophone) तथा स्वनिम (Phoneme) के रूप में व्यवस्थित किया जाता है। इनमें से जहाँ स्वनों तथा संस्वनों की संख्या व रूप अपरिमित होते हैं वहाँ स्वनिमों की संख्या सदा ही परिमित (15-50) होती है।

इसके अतिरिक्त विभिन्न भाषिक विश्लेषणों के फलस्वरूप यह भी पाया गया है कि विभिन्न भाषा भाषियों की ध्वनिभेदक क्षमता एक-सी नहीं होती है।

उदाहरणार्थ, किसी अंग्रेजी या तमिलभाषी व्यक्ति के लिए हिन्दी के कल या खल मे कोई अन्तर नही होगा, क्योकि उनकी भाषा मे 'क' तथा 'ख' दो पृथक् ध्वनि-ग्राम नही अर्थात् इनके दो भिन्न उच्चारणो के कारण उनकी भाषा में अर्थ मे कोई अन्तर नही आता। अथवा किसी तमिल भाषी को हिन्दी के 'आकार' तथा 'आगार' मे या किसी बंगाली को हिन्दी के 'शकल' तथा 'सफल' मे कोई अन्तर प्रतीत नही होगा, कारण कि इन भाषाओ मे 'अल्पप्राण' 'महाप्राण' का, घोष और अघोष का, तथा दन्त्य 'स' एवं तालव्य 'श' का विभेद होना ही नही है। अतः अर्थभेदकता के आधार पर किसी भाषा मे पायी जाने वाली ध्वनियों का निर्धारण करना तथा विभिन्न स्थितियों मे होने वाले उनके ध्वनि तत्त्वो का विश्लेषण करना ही स्वनिमिक विश्लेषण का कार्य है। क्योकि स्वयं मे ध्वनियो का कोई महत्त्व नही होता, इनके अर्थभेदकता के आधार पर ही किसी भाषा की खडीय ध्वनियों-स्वरो एव व्यंजनो की सख्या एवं स्वरूप का निर्धारण किया जाता है। स्वनिमिक विश्लेषण मे ध्वनिशास्त्री मानव मुख से निकलने वाली अनन्त वाक् ध्वनियो को इस प्रकार कुछ सीमित ध्वनियों में व्यवस्थित करता है कि वे परस्पर अर्थभेदकता को अभिव्यक्त करने लगती है। एक ओर जहां स्वन विज्ञानी के लिए मानव मुख से निसृत प्रत्येक ध्वनि महत्त्वपूर्ण है वही स्वनिम विज्ञानी के लिए उनमे से केवल उन्ही ध्वनियो का महत्त्व होता है जो कि भाषा मे प्रयुक्त होने पर एक-दूसरे से अर्थ भेद प्रकट कर सकें। उसके लिए अन्य ध्वनियों का कोई महत्त्व नही। इसीलिए कहा जाता है कि स्वनिम विज्ञानी का कार्य वहां से प्रारम्भ होता है जहां पर कि स्वन विज्ञानी का कार्य समाप्त होता है। इस स्थिति को सामने रखकर तो प्रसिद्ध ध्वनिविज्ञानी के० एल० पाइक ने कहा था कि 'स्वन विज्ञानी कच्चा माल तैयार करता है और स्वनिम विज्ञानी इसे उपयोगी सामग्री का रूप देता है।'

सैद्धान्तिक दृष्टि से स्वन विज्ञानी का कार्य महत्त्वपूर्ण होते हुए भी व्याव-हारिक दृष्टि से स्वनिम विश्लेषण का कार्य अधिक महत्त्वपूर्ण हुआ करता है। क्योकि वह उन ध्वनियों के वितरण का विश्लेषण करके उन असख्य प्रकार की ध्वनियो मे से ऐसी अर्थभेदक ध्वनियो का निर्धारण करता है जो कि वास्तव मे उस भाषा के गठन का मूलाधार होती हैं। किन्तु इनका यह अभिप्राय नही कि भाषा में उसके स्वनो का महत्त्व होता ही नही है। यहा पर इस कथन का केवल इतना ही अर्थ है कि भाषा को व्यावहारिक रूप प्रदान करने वाली इकाई स्वन न होकर स्वनिम या ध्वनिग्राम होती है, यद्यपि इन्हे स्वनो के विश्लेषण से ही प्राप्त किया जाता है।

स्वनिम की परिभाषा—स्वनिम की कोई सर्वसम्मत निश्चित एवं निर्दोष परिभाषा प्रस्तुत करना थोड़ा कठिन है। फिर भी इस क्षेत्र मे कार्य करने वाले प्रसिद्ध भाषा-शास्त्रियो ने इसके व्यावहारिक पक्ष को सम्मुख रखकर अपने-अपने

ढंग से इसे परिभाषित करने का यत्न किया है। क्योंकि इस विषय में मौलिक अनुसंधान एवं विश्लेषण करने का कार्य केवल पाश्चात्य विद्वानों ने ही किया है। अतः हम यहां पर उन्हीं में से कुछ विद्वानों के द्वारा दी गई परिभाषाओं को प्रस्तुत करेंगे तथा उनके प्रकाश में ही स्वनिम के स्वरूप को समझने का यत्न करेंगे।

1. ब्लूम फील्ड ने इसे 'विभेदक ध्वनितत्व की लघुतम इकाई' (A minimum unit of distinctive sound feature) कहा है।

2. ब्रिटिश ध्वनिशास्त्री डेनियल जोन्स के अनुसार 'स्वनिम किसी भाषा की उन ध्वनियों का परिवार होता है जो परस्पर अपने ध्वनिगुणों के कारण सम्बद्ध होते हुए भी इस प्रकार प्रयुक्त किये जाते हैं कि कोई भी सदस्य किसी भी शब्द में कभी भी उसी ध्वन्यात्मक परिवेश में नहीं आता जिसमें कि अन्य सदस्य आता है।"

3. आधुनिक युग के प्रसिद्ध भाषाशास्त्री हॉकेट के शब्दों में 'स्वनिम किसी भाषा में पाये जाने वाले उन तत्वों का रूप है जो कि उस भाषा की ध्वनि प्रक्रियात्मक व्यवस्था में एक-दूसरे से व्यतिरेकी रूप में आते हैं।' इस सम्बन्ध में उन्होंने यह भी स्पष्ट कर दिया है कि *'किसी भाषा के स्वनिम की परिभाषा उसी भाषा के अन्य स्वनिमों के साथ पाये जाने वाले उसके व्यतिरेक के आधार पर ही* की जाती है।'

स्वनिम निर्धारण की आवश्यकता एवं आधार—आधुनिक यन्त्रों से किये गये ध्वनि वैज्ञानिक विश्लेषणों से यह बात स्पष्ट रूप से सामने आ जाती है कि भाषा या बोली में वक्ता जितनी भी बार किसी ध्वनि का उच्चारण करता है ध्वन्यात्मक दृष्टि से उसके उतने ही पृथक्-पृथक् रूप होते हैं। इसी प्रकार भिन्न-भिन्न व्यक्तियों के उच्चारण में भी एक ही ध्वनि का पृथक्-पृथक् प्रत्यक्षीकरण होता है, यद्यपि ये भेद इतने सूक्ष्म होते हैं कि सामान्य श्रोता को इसका पता नहीं चलता है। किन्तु प्रशिक्षित ध्वनि विज्ञानी इन भेदों का प्रत्यक्षीकरण कर सकता है। इसके अतिरिक्त सामान्य व्यक्ति भी यान्त्रिक विश्लेषणों के द्वारा इन भेदों का प्रत्यक्षीकरण कर सकता है। इस बात को यहां पर एक उदाहरण के द्वारा स्पष्ट करने का यत्न किया जा सकता है। मान लीजिए किसी वक्ता ने कहा—'काला कुएं की पाँध पर बैठा काला कौआ काँव-काँव कर रहा था।' इस वाक्य में 'क' से सम्बद्ध ध्वनि का नौ बार प्रयोग हुआ है। इसके ध्वनि विश्लेषक यन्त्रों से विश्लेषण करने पर पता चलता है कि इन सभी 'क' ध्वनियों का उच्चारण एक जैसा नहीं होता है, वरन् अलग-अलग रूपों में होता है और इस भिन्नता का कारण है उनके साथ उच्चरित होने वाली स्वर ध्वनियां। ध्वनि विज्ञान से अपरिचित व्यक्ति भी देख सकता है कि, अ, उ, आ के साथ उच्चरित होने वाले 'क' (क, कु, का) में मुख विवर की

तथा जिह्वा की स्थिति एक जैसी नही रहती है। सभी में कुछ-न-कुछ अन्तर होता है। अतः यदि केवल उच्चारण के आधार पर किसी भाषा की ध्वनियों की स्वतन्त्र सत्ता को स्वीकार किया जाय तो इसके अनन्त रूप व भेद हो जायेंगे तथा उन सब का स्वरूप निर्धारण करना तथा उनके लिप्यात्मक प्रतीकों का निर्धारण करना किसी भी भाषा विज्ञानी के लिए एक असम्भव कार्य हो जायेगा।

भाषिक विश्लेषण की इस कठिन समस्या का समाधान प्राप्त करने के लिए ही भाषा विज्ञानियो ने स्वनिम सिद्धान्त की खोज की थी। इसके अनुसार उन्होने किसी भाषा के उच्चारणात्मक रूपो मे पाये जाने वाले सभी स्वनो को उन स्वनिमिक इकाइयों के साथ सन्दर्भित किया जो कि परस्पर एक-दूसरे से भेदकता प्रकट करती हैं। वे सभी स्वन उसे भेदक इकाई स्वनिम के सस्वन कहलाये जो कि ध्वन्यात्मक विवेचन की दृष्टि से तो परस्पर अन्तर रखते हैं किन्तु उन अन्तरों के कारण उनमे किसी प्रकार का अर्थभेद नही होता। उदाहरणार्थ उपर्युक्त वाक्य में प्रयुक्त 'क' के क,·का, कु,कौ, कां आदि के रूपों मे उच्चारणात्मक से दृष्टि तो अंतर होता है, किन्तु इन अन्तरो के कारण उनमे कोई अर्थभेद नही होता है अर्थात् 'काला' शब्द के उच्चारण मे हम 'का' को चाहे मुख विवर को पूर्ण विवृत करके बोलें या अर्ध विवृत या सवृत रूप मे, इससे उसके अर्थ में कोई अन्तर नही आयेगा। किन्तु यदि हम 'काल' के 'क' का उच्चारण किंचित् महाप्राणता के साथ 'खाल' के रूप में अथवा किंचित् घोषता के साथ 'गाल' के रूप मे करे तो इसमे अर्थभेद हो जायेगा। अतः इस प्रकार के अर्थभेद की स्थिति मे उसे पृथक् स्वनिम मानना होगा। इतने ही नहीं, यदि हम 'क' का उच्चारण कण्ठ स्थान से न करके गले के नीचे जिह्वामूल से उरस्य 'क़' के रूप मे करें तो भी अर्थ-भेद हो सकता है यथा उर्दू मे कमर 'कमर' क़मर 'चाद'।

प्रत्येक भाषा के स्वनिम पृथक्-पृथक् होते है तथा उनका निर्धारण उस भाषा विशेष मे उनमे पाये जाने वाले अर्थ-भेद के आधार पर किया जाता है जैसे उर्दू-फारसी आदि मे तो 'क़' तथा 'फ' अथवा 'ख' एवं 'ख़' आदि मे अर्थ-भेद की स्थिति होने पर इन्हे पृथक्-पृथक् स्वनिम माना जायेगा, किन्तु हिन्दी मे नही, हिन्दी मे कही पर इस प्रकार के उच्चारण की स्थिति प्राप्त होने पर उन्हे 'क' या 'ख' स्वनिम का संस्वन ही माना जायेगा। इसी प्रकार महाप्राणता एव घोषता, सघर्षिता आदि को भी माना जाता है। अग्रेजी मे 'क' तथा 'ख' की ध्वनियों मे कोई अर्थभेद की स्थिति न होने से कैन (can) का उच्चारण महाप्राणता के साथ खैन ('can) के रूप में होने पर भी वह 'क' से पृथक् स्वनिम नही, अपितु शब्द के आदि मे असंयुक्त रूप मे आने वाले 'क' का ही एक सस्वन है जो कि इससे भिन्न स्थिति में नही होता है। अत. अग्रेजी के लिए 'ख' को एक पृथक् स्वनिम मानने की

आवश्यकता नहीं, क्योंकि यह स्थिति विशेष में उच्चरित होने वाली 'क' ध्वनि की ही एक सध्वनि है। ऐसे ही काश्मीरी तथा मराठी भाषाओं में अपनी अर्थ भेदकता के कारण तालव्य 'च' तथा तालव्यसघर्षी 'च्' दो पृथक् स्वनिम हैं, किन्तु हिन्दी में नहीं। अतः हिन्दी के किन्हीं उच्चारणों में यदि 'च' के स्थान पर 'च्' उच्चारण बनता हो तो उसे 'च' की सध्वनि माना जा सकता है।

स्वनिम के निर्धारण के सम्बन्ध में एक उल्लेखनीय बात यह है कि इसका निर्धारण यादृच्छिक रूप से किया जाता है। किसी ध्वनि के प्राप्त होने वाले सस्वनों में से किसी एक सस्वन के रूप को स्वनिम मानकर उसके अन्य रूपों को उसके सन्दर्भ में विभिन्न ध्वन्यात्मक पर्यावरणों में उपलब्ध होने वाले उसके सस्वन मान लिया जाता है। यथा किसी भाषा में सस्वनों के रूप में उपलब्ध होने वाले 'च' में से अथवा 'च्' में से किसी एक को स्वनिम मानकर अन्य को उसका सस्वन माना जा सकता है। ऐसे ही कुछ भाषाओं में 'श' तथा 'स' दोनों प्रकार की ऊष्म ध्वनियों की स्थिति तो पायी जाती है किन्तु उनमें अर्थभेदकता नहीं पायी जाती। अतः उस भाषा के लिए इनमें से जो अधिक प्रयुक्त होती है तथा शब्द की सभी स्थितियों में पायी जाती है, उसे स्वनिम मानकर अन्य को उसका सस्वन माना जा सकता है। अतः स्वनिम एक काल्पनिक तत्त्व है जो उन सभी ध्वनियों का प्रतिनिधित्व करता है जो कि यत् किंचित् ध्वन्यात्मक अन्तरों के साथ उसके विभिन्न रूपों को व्यक्त तो करती है किन्तु उसके कारण उनमें किसी प्रकार का अर्थभेद नहीं आने पाता है।

किसी भाषा या बोली में कितने स्वनिम हैं, इसका निर्धारण करने के लिए प्रथम उस भाषा का ध्वनिक या स्वनिक विश्लेषण करके उसमें प्राप्त होने वाली सभी ध्वनियों का उनके परिवेश के सहित विश्लेषण किया जाता है। इसके बाद वितरण की पद्धति के आधार पर भाषा विशेष में उसके वितरण को देखा जाता है। एक समान प्रतीत होने वाली ध्वनियाँ यदि एक ही परिवेश में आ सकती हैं तो उन्हें परस्पर एक-दूसरी की सध्वनि मान लिया जाता है, किन्तु यदि वे एक परिवेश में नहीं आ सकती हैं तो फिर उनके स्वनिमिक रूप के विषय में विचार किया जाता है। इन ध्वनियों का वितरण तीन प्रकार से किया जाता है। जिनमें से एक को 'व्यतिरेकी वितरण,' दूसरे को 'पूरक वितरण' तथा तीसरे को 'मुक्त वितरण' कहा जाता है।

व्यतिरेकी वितरण—स्वनिम निर्धारण में व्यतिरेकी वितरण सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। दो निकटतम प्रतीत होने वाली ध्वनियाँ दो स्वतन्त्र स्वनिम हैं अथवा एक ही स्वनिम की दो सध्वनियाँ हैं, इसका निर्णय करने के लिए उस भाषा में उन शब्दों की परीक्षा की जाती है जिनमें कि वे ध्वनियाँ प्रयुक्त की

जाती है। उनमें यदि ऐसे शब्द युग्म मिल जाते हैं जिनमें कि वे दो ध्वनियां एक ही प्रकार के परिवेश में आती हैं और उनमे अर्थ भेद होता है तो उन्हें दो स्वनिम स्वीकार कर लिया जाता है। क्योंकि भाषा विज्ञान की दृष्टि से किसी भी ध्वनि खण्ड या उच्चार या उच्चार के किसी अंश के अभिलक्षण का अत्यावश्यक गुण धर्म यह है कि वह भेदकीय हो अर्थात् किन्हीं दो ध्वनियों को व्यावर्तक रूप में अन्तर दिखाने के लिए एक ही अवस्थिति में तथा एक ही परिवेश मे घटित होने योग्य होना चाहिए तथा उस रूप मे अर्थ भेदक भी होना चाहिए। परिवेश से तात्पर्य है किसी उच्चार (शब्द) में आदि, मध्य, अन्त्य की स्थितियों तथा उनके पूर्व एवं पश्चात् में घटित होने वाली ध्वनियों से। उदाहरणार्थ—हिन्दी की (क् ख् ग् घ) ध्वनियों को लिया जा सकता है। इन सभी को शब्द की आद्य स्थिति में/ओल्/ ध्वनि समूह के पूर्व में प्रयुक्त किया जा सकता है तथा इस अवस्थिति में भिन्न-भिन्न अर्थों को प्रदर्शित करने वाले / कोल् / 'एक जाति' / खोल् / आवरण',/गोल्/ 'गोलाकार'/घोल्/'तरलित पदार्थ' शब्दों को प्राप्त किया जा सकता है। इसका विश्लेषण करने पर हम देख सकेंगे कि यहां पर इन चारों ध्वनियों (क् ख् ग् घ) का परिवेश एक ही है अर्थात् इनसे पहले कोई और ध्वनि न होने से ये उच्चार की आद्य स्थिति में घटित हो रहे हैं तथा इनके बाद में आने वाले स्वनिमों का अनुक्रम/ओल्/भी समान है तथा इनमें शब्द प्रयोग के अवसर पर किसी भी एक के स्थान पर किसी भी अन्य ध्वनि को रख देने से अर्थभेद हो जाएगा अर्थात् यदि 'खोल लाओ' के स्थान पर 'घोल लाओ' कह दिया जाय तो उसका अर्थ ही सर्वथा भिन्न हो जाएगा, अतः मानना पड़ेगा कि हिन्दी में ये चारों ही ध्वनियां सार्थक हैं अतः पृथक्-पृथक् स्वनिम या ध्वनि ग्राम हैं, अंग्रेजी के [खैन]/can/और/स्कैन/ (scan) के समान एक ही क् स्वनिम के भिन्न-भिन्न संस्वन नहीं। उपर्युक्त ढंग से किन्हीं दो उच्चारों में केवल एक ही स्वनिम की स्थिति के कारण परस्पर पार्थक्य या अर्थ भेद को दिखाने वाले शब्द युग्मों को पारिभाषिक रूप में 'लघुतम युग्म' (minimal pairs) कहा जाता है और इन्हीं लघुतम युग्मों के आधार पर ही किसी भाषा के स्वनिमों का निर्धारण किया जाता है।

यह आवश्यक नहीं कि किसी एक भाषा के लिए निर्धारित स्वनिम दूसरी भाषा में भी उसी रूप में स्वनिमों का पद प्राप्त करें ही। प्रत्येक भाषा की अपनी ध्वन्यात्मक व्यवस्था के अनुसार ही स्वनिमों की स्थापना की जाती है। अंग्रेजी में व्यतिरेकी विभाजन में घटित न होने के कारण 'क्' तथा 'ख्' दो पृथक स्वनिम नहीं, तथा इसी प्रकार तमिल में, इसी आधार पर क्, ख्, ग्, घ् पृथक्-पृथक् स्वनिम न होकर एक ही स्वनिम क् के संस्वन हैं।

परिपूरक वितरण—जब दो या दो से अधिक ध्वनियों का वितरण इस प्रकार

हो कि इनमें से कोई भी ध्वनि ठीक उसी परिवेश में घटित न होती हो जिसमें कि अन्य ध्वनि होती है तो इन्हें 'पूरक वितरण' या 'पूरक बटन' में समझा जाता है। इसे अंग्रेजी के एक उदाहरण से स्पष्ट किया जा सकता है। शब्द की आद्य स्थिति में उच्चारित किए जाने पर अंग्रेजी के /प्/ट्/एवं/क्/का उच्चारण किंचित महाप्राणता को लिए हुए होता है। जो कि हमारे/फ्/, ठ्/,/ए/के निकट होता है, यथा ten [ठेन], pen [फेन], can [खैन्] आदि। किन्तु जब इसी परिवेश में इनसे पूर्व में स् का संयोग होता है तो इनका उच्चारण महाप्राणता के तत्त्व से रहित रूप में होता है। अंग्रेजी में अल्पप्राण तथा महाप्राण उच्चारों के बीच अर्थभेदकता न होने से इन्हें एक ही स्वनिम के पूरक वितरण में प्राप्त होने वाले दो संस्वन माना जाता है। क्योंकि एक सकार के संयोग से रहित स्थिति में पाया जाता है तथा दूसरा सकार के संयोग से युक्त स्थिति में। यही स्थिति अंग्रेजी के शुद्ध ल् तथा कृष्ण ल् की भी है। प्रथम का उच्चार स्वरों तथा य् से पूर्व में, यथा, लेक (lake) मिल्यन् (million) में तथा दूसरे का व्यंजनों से पूर्व तथा शब्दान्त में, यथा मिल्क् (milk) मिल् (mill) आदि में। हिन्दी में भी [ङ] [न्] तथा [ञ्] के बीच इसी प्रकार का वितरण पाया जाता है। अर्थात् [ञ्, ङ] का चवर्गीय एवं कवर्गीय ध्वनियों से पूर्व तथा [न्] का अन्य सभी स्थितियों में, यथा-चञ्चल्, गङ्गा, पण्डित, तन्तु, पानी, नेता, कान। इसके विपरीत /ण/, /न/ तथा /म/ में व्यतिरेकी वितरण की स्थिति पायी जाने के कारण (यथा, मामी : नानी, घाण : दान : शाम् . कान्) इन्हें पृथक् स्वनिम माना गया है। परन्तु [ञ्, ङ्] न तो शब्द की आदि स्थिति में आते हैं न स्वरों से पूर्व आते हैं और न स्ववर्गीय व्यंजनों के अतिरिक्त किन्हीं अन्य व्यंजनों के साथ ही संयोग करते हैं। ये केवल /न/ के साथ पूरक वितरण में आते हैं, क्योंकि /न्/ चवर्गीय या कवर्गीय ध्वनियों के पूर्व में नहीं आता। अतः ये ध्वनियां व्यतिरेकी वितरण में न होने के कारण पृथक्-पृथक् स्वनिमों की स्थापना न करके एक ही स्वनिम को संस्वन कहलाती हैं तथा व्यवहार में इन्हें एक ही स्वनिमात्मक इकाई के रूप में एक ही लिपिचिह्न के द्वारा निर्दिष्ट किया जाता है।

पूरक वितरण में आने वाली ध्वनियों के लिए यह भी आवश्यक है कि वे भाषण में मिलती-जुलती हों। किन्तु यदि पूरक बटन में आने वाली ध्वनियां भाषण में मिलती-जुलती न होंगी तो वे किसी एक स्वनिम की संध्वनियां न होकर दो पृथक्-पृथक् स्वनिमों की स्थापना करेंगी। उदाहरण के लिए अंग्रेजी की /ह्/ तथा /ङ/ ध्वनियों को लिया जा सकता है। इनमें /ह्/ केवल शब्दादि में तथा दो स्वरों के मध्य में ही आया करती है, यथा हैण्ड (hand) बिहेवियर (behaviour) तथा /ङ/ केवल शब्दान्त में तथा किसी व्यंजन से पूर्व में ही आ सकती है, यथा किङ् (king) एवं अङ्कल (uncle) सिङ्गर (singer) आदि। यहां पर इन दोनों ध्वनियों में

पूरक वटन की स्थिति तो पायी जाती है किन्तु स्थान, प्रयत्न आदि की दृष्टि से इनमें कोई साम्य न होने के कारण इन्हें एक ही स्वनिम की दो सध्वनिया नहीं माना जा सकता है वरन् ये दो भिन्न-भिन्न स्वनिमो (ध्वनिग्रामो) की रचना करती हैं। इसी आधार पर ञ् तथ ङ् को /म/ अथवा /ण/ का सस्वन न मानकर /न/ का संस्वन माना जाता है।

मुक्त परिवर्तन या मुक्त विकल्पन—जब एक ही परिवेश में किसी प्रकार का अर्थभेद दिखाये बिना दो ऐसी ध्वनिया एक-दूसरी के स्थान पर सदा ही उच्चारों में प्रयुक्त की जा सकती है जो कि स्वनिक दृष्टि से एक-दूसरी से भिन्न हों, तो उसे मुक्त वितरण या मुक्त विकल्पन कहा जाता है। ये भी पूरक वितरण में आने वाली ध्वनियों के समान ही अविभेदक होती हैं तथा इन्हे एक ही वर्ग या स्वनिम मे समाहित किया जा सकता है; क्योंकि इनमें से किसी भी परिवर्तन का उच्चारण बिना किसी भेद के किया जा सकता है। इसलिए स्थूल लिप्यंकन मे इन्हे केवल एक ही प्रतीक के द्वारा निर्दिष्ट किया जाता है (यथा—दिक्/दिग्)।

हिन्दी में मुक्त विकल्पन की स्थिति बहुत कम पायी जाती है किन्तु उसकी कई विभाषाएं ऐसी हैं जिनमे कि र तथा ल के बीच, र तथा ड़, या ड तथा ड़ के बीच अथवा ड़ तथा ढ़ के बीच मुक्त विकल्पना की स्थिति पायी जाती है। किंतु किसी भाषा में किन्हीं स्वनो की मुक्त विकल्पनात्मक स्थिति को स्वीकार करने के लिए यह आवश्यक है कि उन दो ध्वनियों के बीच सदा ही तथा सर्वत्र ही मुक्त-' परिवर्तन सम्भव हो। उदाहरणार्थ, हिन्दी मे 'दीवार' एवं 'दीवाल' मे एक ही परिवेश मे घटित होने तथा अर्थ-विभेदक न होने के कारण र् तथा ल् की मुक्त परिवर्तन की स्थिति बनती है, परन्तु 'हाल' एवं 'हार' जैसे शब्दो मे एक ही परिवेश मे अर्थभेदक होने के कारण यह स्थिति नही रहती। अतः हिन्दी ध्वनि प्रक्रिया की दृष्टि से इन्हे मुक्त परिवर्तन में नहीं रखा जा सकता है। इससे यह स्पष्ट होता है कि किसी भाषा के स्वनिमों की स्थिति का निर्धारण करने के लिए उस भाषा के सम्पूर्ण शब्द भण्डार का परीक्षण करना आवश्यक होगा। तभी उसके स्वनिमो की सख्या का एवं उनकी स्थितियों का निर्धारण किया जा सकता है।

इस प्रकार किसी भाषा के व्यावर्तक रूपों में पाये जाने वाले सभी व्यजनों एवं स्वरों के व्यतिरेकी युग्मो (pairs) का पता लगाना आवश्यक होता है; क्योंकि इन युग्मो के द्वारा ही दो ध्वनियों का भिन्न-भिन्न स्वनिम होना निर्विवाद रूप से सिद्ध किया जा सकता है। वैसे स्वनिमों के विश्लेषण अथवा स्थापना के लिए इनका होना आवश्यक भी नही, क्योंकि स्वनिमिक व्यावर्तकता का मूल तत्त्व उन दो या अधिक ध्वनियों के बीच अन्तरों के निहित होता है जो न तो मुक्त विकल्पन मे आते हैं और न जिनका निर्धारण पूरी तरह से उनके अपने परिवेशों से होता है। इसके अनुसार रॉबिन्सन ने स्वनिम की परिभाषा यों की है—"स्वनिक दृष्टि से

समान ध्वनियों का वह वर्ग, जो कि उस भाषा के अन्य सभी तुल्य रूप वर्गों के साथ व्यतिरेक तथा परस्पर व्यावर्तकता रखता है।"

इस प्रकार किसी भाषा के उच्चारों में उपलब्ध होने वाली समस्त अनुरूपक ध्वनियों को स्वनिमों के निश्चित एवं सीमित सेटों में निर्धारित कर दिया जाता है, जो कि कम से कम कुछेक पर्यावरणों में व्यतिरेकी हों। इसलिए स्वनिमों की स्थापना के लिए शब्दों की समस्त स्थितियों का परीक्षण करना आवश्यक होता है। क्योंकि कुछ स्वनिम ऐसे भी होते हैं जो कि शब्द की आद्य, मध्य तथा अन्त्य की सभी स्थितियों में घटित न होकर किन्हीं विशेष स्थितियों में ही घटित होते हैं। विश्लेषण की सुविधा के लिए प्रत्येक स्वनिम के लिए लिपि चिह्न भी निर्धारित कर दिया जाता है।

स्वनिमों के सदस्य को स्वन (फोन) या सस्वन (एलोफोन) कहा जाता है। सर्वमान्य व्यवहार के अनुसार स्वन प्रतीकों को वर्गाकार कोष्ठकों में तथा स्वनिम प्रतीकों या स्थूल लिप्यकन (broad transcription) के प्रतीकों को तिर्यक कोष्ठकों में लिखा जाता है। उदाहरणार्थ—अंग्रेजी में [ट्] तथा [ठ्] दोनों ही स्वनिम/ट्/के सस्वन हैं, अतः पूर्वरूपों को वर्गाकार कोष्ठकों में तथा द्वितीय को तिर्यक् कोष्ठकों के द्वारा दर्शाया जाता है।

किसी भाषा के स्वनिमिक विश्लेषण के समय स्वनिक समानताओं के अतिरिक्त जिन बातों पर विशेष ध्यान दिया जाता है वे हैं स्वनिमों के वितरण तथा व्यतिरेक को प्रकट करने वाले आधार। इससे ही प्रतीत होता है कि कोई दो ध्वनियां, जो कि किसी एक भाषा में व्यतिरेक न दिखाने के कारण किसी एक स्वनिम की सध्वनियां होती हैं वही दूसरी भाषा में व्यतिरेकी होने के कारण दो पृथक्-पृथक् स्वनियों की रचना करती हैं यथा [ट्] और [ठ्] अथवा [त्] और [थ्] जो कि अंग्रेजी में व्यतिरेकी नहीं हैं वे चीनी तथा अनेक भारतीय भाषाओं में व्यतिरेकी होने के कारण दो भिन्न-भिन्न स्वनिमों की रचना करती हैं यथा, हिन्दी—। टीका/: /टीक/, /ताल/: /थाल/, अथवा संस्कृत /अनरमम्/ गच्छति : /अरम्यम्/ कुरुध्व।

भाषाओं में संरचनात्मक अन्तरों का कारण यह होता है कि वाक् की अविच्छिन्न प्रक्रिया में उच्चारणावयव की गति जब एक वाक् खण्ड से अगले अनुवर्ती वाक् खण्ड की ओर होती है तो वह उस आने वाले खण्ड के उच्चारण में स्वयं भी प्रभावित होता है और उसे भी प्रभावित करता है। वस्तुतः किसी ध्वनि खण्ड के निकटस्थ संदर्भगत परिवर्तन इसके व्यावर्तक गुणों की पहचान करने में सहायक हुआ करते हैं। स्वनिमों के इन संरचनात्मक अन्तरों को स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है व्यञ्जनों के साथ आद, मध्य, अन्त्य स्थानों

के योग में, यथा /तीन्/ और /तान्/। यहां प्रथम मे अग्रस्वर ई की सन्निहितता के कारण त् का उच्चारण पूरी तरह से दन्त्य हो गया है, जिसमें कि जिह्वा मुख्य रूप से दांतों का स्पर्श कर रही होती है, किन्तु द्वितीय उच्चारण मे पश्च स्वर आ के सानिध्य के कारण यह कुछ पीछे हट गया है अर्थात् जिह्वाग्र पूर्णतः दांतों का स्पर्श न करके दन्तकूट का स्पर्श करता है। अतः यहां पर त् के दो सस्वन माने जायेंगे एक दन्त्य तथा दूसरा दन्तमूलीय।

स्वनिमों का वर्गीकरण—ध्वन्यात्मक दृष्टि से किसी भाषा के स्वनिमों को दो रूपो में विभाजित किया जाता है—1 खडीय (Segmental), खंडेतर (Supra-Segmental)। इनमे से खण्डीय स्वनिम वे हैं जिनका कि पृथक् इकाइयों के रूप में विश्लेषण किया जा सकता है। इनकी स्थिति प्रायेण स्वरो एव व्यंजनो के रूप मे निर्धारित की जाती है तथा खण्डेतर स्वनिम वे कहलाते हैं जो कि खण्डीय स्वनिमो पर आश्रित होते हैं तथा एकाधिक स्वनिमो मे पाये जाते हैं। इनका अपना कोई स्वतन्त्र अस्तित्व होता भी है और नहीं भी होता है, किन्तु भाषा के रूपों की स्वाभाविक अभिव्यक्ति में इनका महत्त्वपूर्ण योग हुआ करता है। इसके अन्तर्गत आते—मात्रा, सुर, आघात, विराम।

यहां पर यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि सभी भाषाओ मे ध्वनिग्रामों का खण्डीय तथा खण्डेतर वर्गों में विभाजन करना अत्यावश्यक नहीं। खण्डेतर वर्ग की स्थापना तभी आवश्यक होगी जब कि सुर, तान, आघात, विवृत्ति आदि उस भाषा मे अर्थभेदक तत्त्व हो अन्यथा इस विभेद की आवश्यकता ही नही होगी।

स्वनिमों के सम्बन्ध में कुछ विशेष ज्ञातव्य

1. स्वनिम का सम्बन्ध केवल भाषा के उच्चरित रूप के साथ होता है लिखित रूप के साथ नही। जिस प्रकार भाषा की इस उच्चरित सार्थक इकाई को स्वनिम (phoneme) कहा जाता है उसी प्रकार इसकी लिखित इकाई को लेखिम (grapheme) कहा जाता है। जिन भाषाओं की लिपि ध्वन्यात्मक नही, उनमे इन दोनो मे परस्पर एकरूपता नही होती है। इसे अंग्रेजी के निम्न उदाहरणों से स्पष्ट किया जा सकता है, यथा "दो (though) शब्द में स्वनिम की दृष्टि से तो केवल दो ही स्वनिम द्+ओ हैं किन्तु लेखिम की संख्या 6 है (t,h,o,u,g,h)। एक और उदाहरण लीजिए—अंग्रेजी के /फ़/ स्वनिम के लिए हमे कम से कम 5 लेखिम मिलते हैं, यथा, f (father), ff (offer), ph, (physics), pph (sapphire), gh (rough)। इनमे से कुछ तो ऐसे हैं जिनमे कि एक स्वनिम के लिए दो (ff, ph, gh) तथा तीन (pph) लेखिमों की स्थिति पायी जाती है।

2. स्वनिमीय विश्लेषण की दृष्टि से प्रत्येक भाषा तथा बोली के स्वनिम अन्य भाषाओं एवं बोलियो से सर्वथा स्वतन्त्र होते हैं। इनके बीच प्रतीयमान एकरूपता

भ्रामक होती है। इसका प्रत्यक्षीकरण तब होता है जबकि किसी एक भाषा का बोलने वाला व्यक्ति किसी अन्य भाषा में वाग्व्यवहार करता है। ऊपरी तौर पर हिन्दी की अधिकतर ध्वनियां भारत की सभी आर्य भाषाओं में पायी जाती हैं किन्तु जब कोई बंगाली, गुजराती, असमिया, पंजाबी या काश्मीरी भाषा-भाषी हिन्दी या संस्कृत बोलता है तब उसके उच्चारण से यह स्वनिमिक अन्तर साफ सुनाई देता है। इसी प्रकार स्वनिम की दृष्टि से हिन्दी तथा अंग्रेजी दोनों ही भाषाओं में /त/ तथा /प/ स्वनिमों की स्थिति पायी जाती किन्तु ये दोनों भाषाओं में एकरूपी न होकर भिन्न रूपी होते हैं। इसका प्रत्यक्षीकरण दोनों भाषाओं में इनके उच्चारण को ध्यानपूर्वक सुनने से सहज ही हो सकता है। इसके अतिरिक्त इनके संस्वनों की स्थिति भी एक-सी नहीं होती। हिन्दी या संस्कृत में महाप्राणता भेदक तत्त्व होने से इसके किसी संस्वन का उच्चारण महाप्राण-युक्त नहीं होता है जबकि अंग्रेजी में इनकी महाप्राणता में भेदक तत्त्व न होने से शब्द के प्रारम्भ में अघोषयुक्त रूप में आने पर इनका संस्वनीय रूप [थ] तथा [फ] के समकक्ष होता है। इसी प्रकार लेखिम तथा स्वनिम के रूप में हिन्दी तथा बंगला का /अ/ स्वनिम [समरूप] होने पर भी दोनों में जो अन्तर है वह सर्वविदित है, /जन/, शब्द का हिन्दी रूप [जन] तथा बंगला रूप [जोन] होता है।

3 स्वनिम भाषा की व्यावहारिक इकाई होता है। इसलिए स्वनिमिक विश्लेषण स्वनिक विश्लेषण से भिन्न होता है। स्वनिक विश्लेषण में ध्वनिशास्त्री मानव कण्ठ से उच्चरित प्रत्येक ध्वनि का विवेचन करता है। जबकि स्वनिमिक विश्लेषण करने वाला भाषा-विज्ञानी भाषा विशेष की केवल व्यावहारिक एवं उपयोगी ध्वनियों का ही विश्लेषण किया करता है।

किसी ध्वनि के संस्वनों एवं स्वनिमों का अन्तर यह है कि संस्वनों में परस्पर परिवर्तन कर देने पर भी शब्द के अर्थ में कोई अन्तर नहीं आता है किन्तु स्वनिमों में एक के स्थान पर दूसरा स्वनिम रख देने से अर्थ भेद पैदा हो जाता है। जैसे हिन्दी में /तारी/ के /त/ स्वनिम के स्थान पर उसी वर्ग का /प/ स्वनिम रख दिया जाय तो शब्द /पारी/ बनकर अर्थ भेद उत्पन्न कर देगा। किन्तु त को दन्त्य स्थान से कुछ पीछे वर्त्स्य से उच्चरित करने पर भी शब्द के अर्थ में कोई अन्तर नहीं होगा, यद्यपि /त/ के ध्वन्यात्मक स्वरूप में अन्तर आ जाने से वह /त/ का एक संस्वन बन जायेगा।

अधिखण्डात्मक स्वनिम—प्रायः सभी भाषाओं में खण्डात्मक स्वनिमों के अति-रिक्त कुछ ऐसे स्वनिमों की भी सत्ता पायी जाती है जो कि एकाधिक स्वनिमों से सम्बद्ध होते हैं। इस प्रकार के स्वनिमों को अधिखण्डात्मक स्वनिम कहा जाता है, इनमें से सामान्यतया सभी भाषाओं में पाये जाने वाले स्वनिम हैं—विवृति

(juncture), स्वराघात/बलाघात (accent), सुरतल, (pitch), विराम (pause), अनुनासिका (nasality)।

स्वनिम की उपयोगिता—किसी भाषा के स्वनिमों का ज्ञान उस भाषा के अर्जन तथा व्यवहार में बड़ा उपयोगी होता है क्योंकि सर्वप्रथम तो इसके ज्ञान से उस भाषा की उन सभी सार्थक ध्वनियों का अन्तर स्पष्ट हो जाता है जिनके असम्यक् उच्चारण से उसके अर्थग्रहण में गड़बड़ी पैदा हो सकती है। अतः वक्ता को उनके विषय में सावधान रहना पड़ता है। यथा हिन्दी या संस्कृत मे /श/ तथा /स/ दोनों ही स्वनिम हैं किन्तु बंगला मे नही, वहां पर केवल /श/ ही स्वनिम है /स/ नही। अतः हिन्दी-संस्कृत स्वनिमो का ज्ञान रखने वाला बंगला-भाषी इन भाषाओं को बोलते समय श, स, का स्पष्ट भेद करते हुए शुद्ध उच्चारण करेगा अन्यथा नही। इसी प्रकार हरियाणवी में केवल /स/ है, /श/ नहीं।

2. स्वनिमों का ज्ञान होने पर किसी भाषा को सीखना सरल हो जाता है, क्योंकि स्वनिम भाषा की सार्थक ध्वनि होती है और इनकी संख्या सीमित होती है। अन्यथा किसी भाषा में उच्चरित होने वाली सभी ध्वनियों का आधिकारिक ज्ञान प्राप्त करना एक असम्भव कार्य है। इससे किसी भाषा के मूल उच्चारण पर भले ही अधिकार न हो सके, पर उसके व्यावहारिक रूप पर अधिकार हो जाता है, जैसे हिन्दुस्तानी, अंग्रेजी।

3. स्वनिमों का ज्ञान लिपि निर्माण मे परम सहायक होता है। आदर्श लिपि वही है जिसमें एक सार्थक ध्वनि (स्वनिम) के लिए एक लिपिचिह्न हो तथा एक लिपिचिह्न केवल एक ही स्वनिम का बोधक हो। इस सिद्धान्त पर आधारित होने के कारण ही देवनागरी लिपि सर्वथा पूर्ण तथा रोमन अपूर्ण समझी जाती है। स्वनिमों के आधार पर बनायी गयी लिपि मे न तो लिपि चिह्नों का व्यर्थ का बोझ होता है और न कोई सार्थक ध्वनि उचित प्रतिनिधित्व से वंचित रहती है।

4. स्वनिम के ज्ञान के बिना भाषा-विज्ञान की अन्य शाखाओं—पद-विज्ञान तथा अर्थ-विज्ञान का भी कार्य नहीं चल सकता। सार्थक शब्दों का ही वाक्यो में प्रयोग हो सकता है और सार्थक पदों की रचना स्वनिमों की सार्थकता पर निर्भर होती है। अतः स्वनिम का ज्ञान भाषा के सभी स्तरों पर आवश्यक है।

5

संस्कृत की स्वनिम-व्यवस्था

स्वनिम की संकल्पना को आधुनिक भाषा विज्ञान की सबसे महत्त्वपूर्ण उपलब्धि माना जाता है। इस सम्बन्ध में कहा जाता है कि इस धारणा को जन्म देने का श्रेय प्रोफेसर 'कुर्तने' को है तथा इसे एक निश्चित तकनीकी नाम 'फोनीम' के साथ सम्बद्ध करने का कार्य 1876 में 'ड्वेट' ने किया था। आगे जाकर बीसवीं शताब्दी में भाषिक विश्लेषण के लिए स्वनिम (phoneme) के महत्त्व की स्थापना करने का श्रेय आधुनिक भाषा-विज्ञान के जन्मदाता फर्डिनेण्ड द सस्यूर तथा एडवर्ड सापिर को दिया जाता है। किन्तु संस्कृत के सर्वप्रथम उपलब्ध व्याकरण अथवा विश्व के सर्वप्रथम व्याकरण अष्टाध्यायी को देखने से इसमें कोई सन्देह नहीं रह जाता है कि आचार्य पाणिनि ने चाहे इसे कोई पृथक् नाम न दिया हो पर उन्हें भाषिक विश्लेषण के सम्बन्ध में स्वनिम की संकल्पना बहुत स्पष्ट थी। माहेश्वर सूत्रों के माध्यम से उनके द्वारा प्रस्तुत वर्ण समाम्नाय संस्कृत भाषा की 'स्वनिम तालिका' (phonemic inventory) ही है।

आचार्य पाणिनि द्वारा उपर्युक्त सूत्रों में प्रस्तुत संस्कृत के वर्णों के खण्डीय स्वनिमों (segmental phonemes) का जो रूप हमें प्राप्त होता है, वह इस

प्रकार है।

	अग्र	मध्य	पश्च
उच्च	इ, (लृ)	ऋ	उ
मध्य	ए		अ, ओ
निम्न	ऐ		औ

स्वरों के उच्चारण में स्थान तथा करण का संयोग न होने से आधुनिक भाषा वैज्ञानिक विश्लेषणों में इनका वर्गीकरण यद्यपि उच्चारण स्थान की भिन्नता के रूप में नहीं किया जाता है, किन्तु पाणिनि जी ने इनका वर्गीकरण भी व्यंजन स्वनिमों के साथ ही उच्चारण स्थान के आधार पर किया था जो कि इस प्रकार है—

अ (कंठ्य), ई (तालव्य), ऋ (मूर्धन्य), लृ (दन्त्य), उ (ओष्ठ्य),
ए, ऐ (कण्ठ-तालव्य), ओ, औ (कण्ठोष्ठ्य)।

अष्टाध्यायी के उपर्युक्त विवरण के अनुसार इनमें से शुद्ध स्वर केवल तीन ही थे (अ, इ, उ), ऋ, लृ स्वर तथा व्यंजन दोनों थे तथा अन्य 4 सन्ध्यक्षर (diphthongs) थे। शुद्ध स्वरों में दीर्घता (length) स्वनिमिक; थी इसीलिए दीर्घ स्वरों का पृथक् रूप से परिगणन नहीं किया गया। आभ्यन्तर प्रयत्न के आधार पर केवल 'अ' को छोड़कर शेष सभी को विवृत माना गया।

व्यंजन—खंडीय व्यंजन स्वनिमों की व्यवस्था इस प्रकार थी।

	ओष्ठ्य	दन्तोष्ठ्य	दन्त्य	मूर्धन्य	तालव्य	कंठ्य	कंठद्वारीय
स्पर्श—अघोष अल्पप्राण	प्	—	त	ट्	च्	क्	—
अघोष महाप्राण	फ्	—	थ्	ठ्	छ्	ख्	—
घोष अल्पप्राण	ब्	—	द्	ड्	ज्	ग्	—
घोष महाप्राण	भ्	—	ध्	ढ्	झ्	घ्	—
नासिक्य—	म्	—	न्	ण्	(ञ्)	(ङ्)	—
ईषत् स्पृष्ट अन्तस्थ		व्	ल(ळ)	र	य		—
ईषत् विवृत ऊष्म			स	ष	श	ह्	(ह)

उपर्युक्त तालिका में कोष्ठकों में दिये गये स्वनों का यद्यपि आचार्य द्वारा संस्कृत के स्वनिमों में परिगणन किया गया है, किन्तु आधुनिक स्वनिम विश्लेषण के आधार पर इनका स्वनिमत्व संदिग्ध है।

स्वनिम /ळ/ तथा उसके महाप्राण प्रतिरूपी /ळ्ह/ की स्थिति केवल वैदिक भाषा में तथा /ल/ के परिपूरक वितरण के रूप पायी जाती है। लौकिक भाषा में यह /ल/ के साथ मुक्त वितरण में तथा /ड/ के रूप में पाया जाता है।

अधिखंडात्मक स्वनिम

संस्कृत में निम्नलिखित अधिखण्डात्मक स्वनिमों की स्थिति पायी जाती है।

1 दीर्घता—स्वरों में अ, इ, उ, ऋ, लृ के दीर्घ रूप आ, ई, ऊ, ॠ, लॄ (दीर्घ)
2 अनुनासिकता—
3 विवृत्ति/संहिता—बाह्य +, आन्तरिक /-/
4 स्वराघात—(केवल वेद में)
5. सुर लहर—आरोही / ↑ /
अवरोही / ↓ /
सम /→/

संस्कृत के छोटे से छोटे उच्चार में भी प्रत्येक अक्षर में एक स्वर अथवा एक स्वर+ पूर्वापर व्यंजन, एक स्वराघात स्वनिम तथा एक सुरलहर का होना आवश्यक है।

प्रस्तुत विश्लेषण में स्थानाभाव के कारण हम केवल खण्डनीय स्वनिमों का ही विवेचन करेंगे।

संस्कृत स्वनिमों के तुलनीय विरोधी युग्म—किसी भाषा के स्वनिमों के निर्धारण के लिए आवश्यक है कि वे उसी स्थान तथा प्रयत्न से उत्पन्न होने वाली सवर्णी ध्वनियों से अर्थ भेदकता दिखलाते हों। इन व्यतिरेकों को न्यूनतम युग्मों के माध्यम से प्राप्त किया जाता है। संस्कृत स्वनिमों को उनके तुलनीय विरोधों के आधार पर निम्न रूपों में देखा जा सकता है।

स्वर—स्वरों के न्यूनतम युग्मों को शब्द की विभिन्न स्थितियों में इन रूपों में देखा जा सकता है।

1. स्वरों की मात्रा के आधार पर पाये जाने वाले विरोधी युग्म

	आदि	मध्य	अन्त
इ : ई	/इति/समाप्ति	/आश्विन/एक मास	/रविः/सूर्य
	/ईति/अकाल, दैवी विपत्ति	/आश्वीन/घोड़े से एक दिन में तय किया जाने वाला पथ	/रवी/दो सूर्य
उ : ऊ	/उह/वेग, गांठ	/आहुति/यज्ञाहुति	/गमुः/धतूरा पौधा
	/ऊह/परिवर्तन, तर्क	/आहूति/बुलावा, पुकार	/गमूं/धान
अ : आ	/अकर/करमुक्त, हस्तहीन	/चन्दरः/चकूतरा	/क्षप/बाण
	/आकार/आकृति	/सम्वार/बार	/क्षपा/रक्षिनी
	/नग/पर्वत	/कपट/छल, धोखा	/एध/ईंधन
	/नाग/हाथी, सर्प	/कपाट/द्वार पल्ला	/एधा/समृद्धि

2. अग्र/अग्र स्वरों को तुलनीय विरोधी युग्म—

इ . ए	/इला/पृथ्वी, वाणी	/खिल/अनुर्वरभूमि	/ऋति/सेना
	/एला/इलायची	/खेल/क्रीडनीय	/ऋते/बिना
इ : ऐ	/इन्द्र /इन्द्रदेव	/हिमम्/बर्फ	/दिवम्/दिन, आकाश
	/ऐन्द्र /अर्जुन, बाली	/हैमम्/ओस	/दैवम् भाग्य
ई : ऐ	/ईशः/स्वामी, शिव	/शील/एक महासर्प	/कीश /बन्दर
	/ऐश/दिव्य, ईश्वरीय	/शैल/पर्वत	/केश /बाल
ए : ऐ	/हेमम्/सुवर्ण	/देवः/देवता, मेघ	/केलास/क्रिस्टल, रवा
	/हैमम्/ओस	/दैव/भाग्य	/कैलास/एक पर्वत

3 पश्च/पश्च स्वरों के तुलनीय विरोध

उ . ओ	/उष्ण/गरम	/कूप/कुआ	/कूल/किनारा
	/ओष्ण/नीम गरम	/कोपः/क्रोध	/कोल/सुअर
ऊ : ओ	/ऊध./ऐन	/उर्णम्/ऊन	
	/औध /दुग्ध	/और्णम्/ऊनी	
उ : औ	/उदुम्बर/गूलर वृक्ष	/उद्भिज/वनस्पति	
	/औदुम्बर/गूलर फल, तावा,	/औद्भिज/सेंधा नमक	
उ : आ	/कुल/वंश	/आसुरः/राक्षस	/कारूः/कारीगर
	/काल/समय	/आसार/वर्षा की झड़ी	/कारा/जेल
अ : ऋ	/रत/अनुरक्त	/स्रज/माला	
	/ऋतु/सत्य	/सृज/सृष्टि	
ऋ : उ	/आवृत्त/भ्रमित, दुहराया	/आकृति/स्वरूप, आकार	
	/आवुत्त/जीजा	/आकूतिः/इरादा, इच्छा	
आ : ऊ	/काल/समय	/आलान/गज बन्धन	/धा/धारण करना
	/कूलः/किनारा	/आलून/विच्छिन्न	/धूः/जुआ
अ : उ	/कचः/बाल	/लगड/प्रिय, सुन्दर	/कटः/चटाई
	/कुच /स्तन	/लगुड/डंडा	/कटु/कड़वा, तीक्ष्ण
ओ : औ	/कोल/सुअर एकजाती	/कोशः/म्यान, खजाना	
	/कौल/शाक्त मतानुयायी	/कौश/रेशमी, कुश का	

4. अग्र/ पश्च स्वरों के तुलनीय विरोधी युग्म

अ : उ	/अपहार/चुराना	/लगड/सुन्दर, प्रिय	/केलः/घर, मकान
	/उपहार/भेंट	/लगुड/डंडा	/केतुः/झंडा

अ : इ	/अन्ध/अंधा	/अनल /अग्नि	/रवः/शब्द, कोलाहल
	/इन्धः/ईंधन	/अनिल/वायु	/रवि/सूर्य
अ : ई	/अति/अत्यधिक	/कशः/कोड़ा	/रथः/रथ
	/ईति/दैवी विपत्ति	/कीश/बन्दर	/रथी/सारथी
ई : उ	/आहितः/स्थापित	/ऋति /सिना	/कटि/कमर
	/आहुतः/हवन किया गया	/ऋतु/मौसम	/कटु/कड़वा
ई : उ	/कीश /बन्दर	/आशीः/विष, फण	
	/कुश/एक घास	/आशु./शीघ्र	
ई : ऊ	/उद्गीर्णः/उगला हुआ	/धी/बुद्धि	
	/उद्गूर्ण /उन्नत	/धू:/जुआ	
ई : आ	/लीला/क्रीड़ा, विलास	/कीरः/तोता	/आशीः/फण, विष
	/लाला/लार	/कारा/जेल	/आशा/आशा
इ : आ	/इभ/हाथी	/तिल/तिल	/गिरि/पर्वत
	/आभा/प्रकाश,तेज	/ताल/ताड़ ,	/गिरा/वाणी
इ : ऋ	/ऋतु /मौसम	/अमृत/अमृत	/कृति/कार्य
	/रिपु:/शत्रु	/अमित/असीम	/कीर्ति /यश
अ : ए—	/अधः/नीचे	/ऋत/सत्य	/कृत/किया हुआ
	/एधः/ईंधन	/ऋते/बिना	/कृते/लिए
ए : ओ—	/एक/एक	/प्रेत/मृत	/सन्देह/सन्देह
	/ओक/घर	/प्रोत /प्रथित	/सन्दोहः/समूह, ढेर

वितरण—संस्कृत की स्वर ध्वनियों का वितरण निम्न उदाहरणों में देखा जा सकता है।

	आदि	मध्य	अन्त
/अ/—	/अद्य/आज	/मकर/मगरमच्छ	/मधुर/मीठा
/आ/—	/आद्य/प्रारम्भिक	/आहार/भोजन	/गुहा/गुफा
/इ/—	/इक्षु/गन्ना	/सरिता/नदी	/कवि/कवि
/ई/—	/ईश्वर/ईश्वर	/परीक्षा/परीक्षा	/नदी/नदी
/उ/—	/उत्पलम्/उत्पल	/कुमुद/एक पुष्प	/भानु/सूर्य
/ऊ/—	/ऊर्जा/शक्ति	/उलूक/उल्लू	/भू/पृथ्वी
/ऋ/—	/ऋतु/मौसम	/अमृत/अमृत	/नृ/मनुष्य
/लृ/—	/क्लृप्ति/पूर्णता	/क्लृप्त/व्यवस्थित	/गम्लृ/जाना
/ए/—	/एक/एक	/नरेश/राजा	/ऋते/बिना,/अये/हे
/ऐ/—	/ऐश्वर्य /विभूति	/वैनतेय./गरुड़	/रै/सम्पत्ति

/ओ/—/ओक:/घर	/अनोकह/वायु	/गो:/गाय:, बैल
/औ/—/औत्सुक्यम्/उत्सुकता	/जलौघ:/बाढ़	/द्यौ/आकाश
	/विडौजा/इन्द्र	/नौ/नाव

स्वर ध्वनियों के उपर्युक्त वितरण से संस्कृत की स्वनिम प्रक्रिया के सम्बन्ध में जो महत्त्वपूर्ण तथ्य सामने आये हैं वे ये हैं कि इसमे ऌ से किसी शब्द का प्रारम्भ नही होता और न यह ध्वनि क्लृप् धातु मूल अथवा उससे निर्मित शब्दों के अतिरिक्त और किसी शब्द में प्रयुक्त होती है।

पदान्त में सन्ध्यक्षरों—ए, ऐ, ओ, औ, की स्थिति केवल एकाक्षरी शब्दों में ही पायी जाती है। बह्वक्षरी पदों में ये केवल विभक्ति प्रत्ययों तथा अव्ययों के योग में ही पाये जाते हैं।

स्वरानुक्रम—संस्कृत में विशेषकर लौकिक संस्कृत में सन्धि नियमों की कठोर व्यवस्था के कारण किसी कोशीय शब्द में स्वरानुक्रम की स्थिति नहीं पायी जाती। सम्पूर्ण शब्द कोष में वैदिक परम्परा से प्राप्त एक मात्र /तितउ/ 'छलनी' शब्द है जिसमें कि अ+उ स्वरों का क्रम उपलब्ध है। इसके अतिरिक्त एक अन्य स्थिति जिसमें स्वरानुक्रम की स्थिति सम्भव है, वह है 'प्रकृतिभाव सन्धि' जिसमें कि अ, ई, उ ऊ,+कोई स्वर प्रयुक्त हो सकता है।

स्वर ध्वनियों का मुक्त विकल्पन

लिप्यंकन के आधार पर संस्कृत के शब्द कोशों में सकलित शब्दों का स्वन प्रक्रियात्मक विश्लेषण करने पर यह भी देखा जाता है कि इसमें विशुद्ध रूप से स्वनिमीय स्तर पर स्वरगत विरोध केवल मूल स्वरों अर्थात् अ, इ, उ, ऋ, ए, ओ, में ही था। स्वरों की दीर्घता तथा सन्ध्यक्षरता उपस्वनिक तथा वैकल्पिक थी। इसका कारण स्थानगत उच्चारणात्मक विभेद भी हो सकता है। संस्कृत की स्वर ध्वनियों के इस ध्वन्यात्मक पक्ष का निरूपण निम्न लिखित उदाहरणों द्वारा किया जा सकता है।

अ/आ—निगर:/निगार:, निगल:/निगाल: 'निगरण', निगद/निगाद कथन, निस्रव:/निस्राव: धारा, प्रवाह, निस्वन:/निस्वान: ध्वनि, छग:/छाग:, छगल:/छागल: बकरी, परिभव:/परिभाव: अपमान आदि।

इ/ई—निहार,/नीहार धुंध, निकार:/नीकार: राशि, ढेर, परिधानं/परीधानं वस्त्र, पहनावा, परिवाद:/परीवाद: बुराई, बदनामी खलिन:/खलीन लगाम, युवति:/युवती युवा स्त्री, रात्रि:/रात्री रात, यष्टि:/यष्टी लाठी, वीथि:/वीथी आदि।

उ/ऊ—अंदु/अंदू इंखला, वधु:/वधू वधू, करेणू/करेणु हथिनी, बन्धुर:/बन्धूर

सुन्दर, उन्नतावनत, जम्बुक:/जम्बूक: सियार, हनुमान्/हनूमान् बड़े जबड़े वाला आदि।

ई/ए—महीला/महेला महिला, नारी, सीवनं/सेवनम् सीना, सीवनी/सेवनी सुई, श्वित:/श्वेत सफेद, दिव्या/वेश्या, स्वस्रीय/स्वस्रेय भानजा।

ओ/औ—क्षोम:/क्षौम रेशमी वस्त्र, क्षोणि/क्षौणि पृथ्वी, ओघ:/औघ: बाढ़, चोर/चौर चोर, ओषण/औषण तीक्ष्ण स्वाद, ओषधि/औषधि दवा, जड़ीबूटी, ओष्ण्य/औष्ण्य गर्मी, उष्णता।

शब्द की आदि स्थिति में ऐ तथा औ केवल संरचक प्रत्ययों के योग में इ/ई तथा उ/ऊ के वृद्धिगत रूपों में ही पाये जाते हैं तथा ए तथा ओ के साथ इनके शुद्ध स्वनिमिक विरोध भी कठिनाई से ही पाये जाते हैं। मूल शब्दों में ऐ, औ की स्थिति नगण्य है। संज्ञा पदों अथवा क्रिया पदों की रूप रचना में भी रंधन, गं गाना आदि मूलों में ऐ स्वर के स्थान पर आ हो जाता है।

व्यंजन स्वनिमों के तुलनीय विरोधी युग्म

संस्कृत में व्यंजन स्वनिमों की स्थापना उनके उच्चारण स्थान तथा उच्चारण प्रक्रिया से सम्बद्ध विरोधी युग्मों के आधार पर की जा सकती है। इसके अतिरिक्त स्पर्श व्यंजनों में यह विरोध घोषत्व की स्थिति तथा उसके अभाव एवं महाप्राणता की स्थिति तथा उसके अभाव के रूप में भी पाया जाता है। इनके इन तुलनीय विरोधों को निम्नलिखित युग्मों के द्वारा प्रदर्शित किया जा सकता है।

(अ) स्पर्श व्यंजनों के तुलनीय विरोधी युग्म—घोष : अघोष

क	ग—	/कण/कण	/आकार/आकार	/नाक:/स्वर्ग लोक
		/गण/समूह	/आगार/घर	/नाग:/सर्प
		/कति/कितने	/निकर:/समूह	/रंक/निर्धन, भिखारी
		/गति/चाल	/निगर:/निगरण	/रंग/रंग
ख	ग—	/खल:/धूर्त	/नखर:/नख	/नख/नाखून
		/गल:/गला	/नगरम्/शहर	/नग:/पर्वत
क	घ—	/कृतम्/अलम्	/कर्कर/कठिन,	/अर्क/सूर्य
		/घृतम्/घी	/घर्घर/अस्पष्ट ध्वनि	/अर्घ/मूल्य
		/कट/चटाई	/आकर्षण/खींचना	/ओक/घर, आश्रय
		/घट/घड़ा	/आघर्षण/रगड़ना	/ओघ/बाढ़
ख	घ—	/खोर/लंगड़ा	/आखान/फावड़ा	
		/घोर:/भयंकर	/आघात/चोट	

च : ज—	/चय/ढेर	/चर्चरीक /घुघराले बाल	/कुच /स्तन
	/जय/विजय	/जर्जरीक /पुराना, तीर्ण	/कुज /मगलग्रह
	/चातक /एकपक्षी	/अर्चनम्/पूजा	/याच्/मांगना
	/जातक /शिशु	/अर्जनम्/कमाई	/याज्/यज्ञ करना
छ ज—	/छलम्/छल, धोखा	/उच्छासन/उद्दण्ड	/छागल /बकरी
	/जलम्/पानी	/उज्जासन/हत्या	/जागल/उजाड भूमि
ट ड—	/नट /नर्तक	/नाटिका/नाटिका	/निकट/नज़दीक
	/नड /नरकुल घास	/नाडिका/नाड़ी	/निगड/बेडी, जंजीर
ठ ढ—	/माठ/पथ, मार्ग	/कुठ /कुंठित, अतीक्ष्ण	
	/माड /वजन, माप	/कुंड /गड्डा, एकपात्र	
ठ ढ—	/ठक्कर:/ठाकुरजी	/शाठ्यम्/धूर्तता	
	/ढक्का /नगाडा	/आढ्यम्/धन, सम्पत्ति	
त द—	/तरी/नाव	/नर्तनम्/नाचना ,	/सूत /सारथी
	/दरी/गुफा	/नर्दनम्/दहाड़ना	/सूद./रसोइया
	/तृप्त/सन्तुष्ट	/पतग/पक्षी	/कुन्त./भाला
	/दृप्त./घमंडी	/पदग:/पदाति	/कुन्द./एक पुष्प
थ द—	/यथा/जैसे	/मथन/मन्थन	/आर्थ /अर्थ सम्बन्धी
	/यदा/जब	/मदन/कामदेव	/आर्द्र:/गीला
	/रथ:/रथ	/कथा/कहानी	/मथ्/मथना
	/रद /दांत	/कदा/कब	/मद्/नशे मे होना
न ध—	/तरणि/सूर्य	/वित्त /सम्पत्ति	/वर्तमान:/विद्यमान
	/धरणि/पृथ्वी	/विद्ध /घायल	/वर्धमान/बढ़ता हुआ
थ ध—	/अर्थ /धन, सम्पत्ति	/मन्थन/मंथन	/व्यथ्/पीछे पहुचाना
	/अर्ध /आधा	/बन्धन/बंधन	/व्यध्/बीधना
प ब—	/पलम्/मास	/पालक/रपक	/पंडित:/विद्वान्
	/बलम्/शक्ति	/बालक /बच्चा	/बंडित /बंटा हुआ
	/पलल/राक्षस	/आलाप /बातचीत	/कम्प्/कांपना
	/बलल/इन्द्र	/आलाबु /कद्दू	/कम्ब्/चलना
फ ब—	/फाल/हल का भाग	/फलम्/फल	/अफला/फलहीन स्त्री
	/बाल /बालक	/बलम्/शक्ति	/अबला/स्त्री
प : भ—	/पट्ट/रेशमी वस्त्र	/पूत/पवित्र	/लप्/बोलना
	/भट्ट /स्वामी	/भूत /व्यतीत	/लभ्/प्राप्त करना

(आ) स्पर्श व्यंजनों के तुलनीय विरोधी युग्म—अल्पप्राण : महाप्राण

क ख—	/कर/हाथ, किरण	/आकर/खान	/नाक/स्वर्गलोक
	/खर/तीक्ष्ण, गधा	/आखर/फावड़ा	/नख/नाखून
ग घ—	/गृष्टि/एकबार प्रसूता गौ	/आगूरण/गुप्त संकेत	/अग/पर्वत
	/घृष्टि/सूअर	/आघूरण/घूमना	/अघ/पाप
	/गुण/रस्सी	/गर्गर/भंवर, आवर्त	/मग/संगम
	/घुण/एककीट	/घर्घर/अस्पष्टध्वनि	/मघ/समूह
च छ—	/चल/अस्थिर	/चिति/ढेर, इकट्ठा	/कच/बाल
	/छल/धोखा	/छिति/काटना	/कच्छ/किनारा, तट
ज झ—	/जर्जर/जीर्ण, फटित	/निर्जर/देवता	
	/झर्झर/मंजीर, झांझ	/निर्झर/झरना	
ट ठ—	/कट/चटाई	/षष्टि/साठ	/पाट्/चीरना
	/कठ/एक ऋषि	/षष्ठी/षष्ठी तिथि	/पाठ्/पढ़ाना
ड ढ—	/षड/सांड, नपुंसक	/षोडश/सोलह	
	/षढ/नपुंसक व्यक्ति	/सोढ/सहन किया	
त थ—	/स्तेय/चौरहार्य	/अपत्यम्/सन्तति	/उक्त/कथित
	/स्थेय/स्थिर, निर्णायक	/अपथ्यम्/कुपथ्य	/उक्थ/यज्ञ
	/ताली/ताड़, वृक्ष	/उत्तान/ऊर्ध्वमुख	/पोत/पोता
	/स्थाली/बटलोई	/उत्थान/ऊपर उठना	/पोथ/सूर्य, अग्नि
द ध—	/दारा/पत्नी	/आदि/प्रारम्भ	/स्कन्द/कार्तिकेय
	/धारा/धारा	/आधि/मानसिकरोग	/स्कन्ध/शाखा, कन्धा
	/दा/देना	/विदुर/बुद्धिमानी	/रुद्/रोना
	/धा/रखना	/विधुर/वियोगी, व्यथित	/रुध्/रोकना
प फ—	/पलम्/मांस	/पलित/पका, वृद्ध	[illegible]
	/फलम्/फल	/फलित/फला हुआ	[illegible]
	/पण/शर्त	/पाणि/हाथ	/गुप्/रक्षा करना
	/फण/फन	/फाणि/एक भोज्य पदार्थ	/गुफ्/गूंथना

ब भ—	/बग/बंगाल प्रदेश	/आलम्बनम्/सहारा	/अम्ब/एक अव्यय
	/भग/टूटना, तरंग	/आलम्भनम्/मारना	/अम्भ /जल

(ई) नासिक्य ध्वनियों के तुलनीय विरोधी युग्म

म · न—	/मख /यज्ञ	/अमल /निर्मल	/आयानम्/आना, पहुंच
	/नख /नाखून	/अनल /अग्नि	/आयामम्/विस्तार
	/मग /मार्ग	/शामि/एक वृक्ष	
	/नग /पहाड	/शनि /एक ग्रह	
म : ण—	/कर्ण/कान	/होम /हवन	/रण्/शब्द करना
	/कर्म/काम	/हूण /एक बर्बर जाति	/रम्/आनन्द लेना
म · न—	/मद./नशा	/नार /बछड़ा, पानी	/अहम्/मैं
	/नद/नदी	/मार /कामदेव	/अहन्/दिन
	/मी/मापना		/उद्दाम./मस्त असंयत
	/नी/लि जाना		/उद्दानम्/बन्धन, आनमन
म ञ—	/नम्/झुकना		
	/नञ्/निषेधार्थक अव्यय		
न · ण—	/लवनम्/फसल काटना	/पनस /कटहल	
	/लवणम्/नमक	/पणस·/विक्रयणीय	

(ई) अन्तस्थ ध्वनियों के तुलनीय विरोधी युग्म

र · ल—	/रय /वेग	/परित /चारों ओर	/खर:/गधा
	/लय /विलय	/पलित/पका, वृद्ध	/खल /दुष्ट
	/रक्षक·/रक्षक	/अरि /शत्रु	/मुकुर./शीशा
	/लक्षक·/संकेतक	/अलि /भ्रमर	/मुकुल·/कुड्मल
य व—	/यामः/प्रहर	/इप्यः/वसन्त ऋतु	/रय /वेग
	/वाम /बायां	/इप्व/एक धार्मिक गुरु	/रव./शब्द, ध्वनि
	/या/जाना	/आश्रय:/स्थान, सहारा	/हयः/घोड़ा
	/वा/बहना (हवा)	/आश्रव /वायदा	/हवः/यज्ञ, प्रार्थना
य : र—	/यम्/बाधना	/याम./प्रहर	/हय·/घोड़ा
	/रम्/आनन्द लेना	/राम /दाशरथी	/हर /शिव
	/यति /संयमी	/यामा/रात्रि	/वय /उम्र

	/रति /अनुराग	/रामा/स्त्री	/वर /श्रेष्ठ
य	ल—/यक्ष/एक देवजाति	/हय /घोड़ा	/कायः/शरीर
	/लक्ष /लाख	/हल /हल	/काल /समय
र	व—/रच्/बनाना	/अवि /भेड़	/शर /बाण
	/वच्/बोलना	/अरि /शत्रु	/शव /मुर्दा

(ई) दन्त्य तथा मूर्धन्य ध्वनियों के तुलनीय विरोधी युग्म

त	ट—/सेतु /पुल	/निर्घात /बरबादी	/उत्पत /पक्षी
	/सेटु /तरबूज	/निघट /सूचीपत्र	/उत्पट /वृक्ष का रस, राल,
	/तक /भय, कष्ट	/घात./चोट	
	/टक /छेनी	/घाट /उत्तरण स्थल, कठ	/पात्/गिरना
			/पाट्/चीरना
न	ड—/कान्त /प्रिय	/अनिग /तीव्रगामी	/दन्त /दांत
	/काण्ड /एकभाग	/अडिग /स्थिर	/दण्ड /डंडा
द	ड—/तुन्दिल /तोंदवाला	/विदार /चीरना	/कुन्द /चमेली
	/तुण्डिल /बातूनी, मुंहवाला	/विडाल/बिल्ला,	/कुण्ड/गड्ढा

(उ) ओष्ठ्य तथा द्वयोष्ठ्य ध्वनियों में तुलनीय विरोधी युग्म

प	व—/पा/रक्षा करना	/सर्प /साँप	/शाप /शाप
	/वा/बहना	/सर्व /सब	/शव /मुर्दा
व	म—/निर्वेद /ग्लानि, खेद	/वल्लव /ग्वाला	/गर्व /घमंड
	/निर्भेद /फटना, फूटना	/वल्लभ./प्रिय	/गर्भ /गर्भ
व	भ—/निर्वाण/मृत्यु मोक्ष	/यव /जौ	
	/निर्माण/बनाना	/यम /संयम, यमराज	
भ	म—/क्षोभ /दुख	/भरणम्/पोषण	/भी/डरना
	/क्षोम /रेशमी	/मरणम्/मृत्यु	/मी/मारना

(ऊ) ऊष्म ध्वनियों के तुलनीय विरोधी युग्म

श : ष—	/निकाश/नैकट्य	/अवमर्श/स्पर्श, सम्पर्क
	/निकाष /खुरचना, रगड़ना	/अवमर्ष/छानबीन, विचारणा
श : स—/शर्व/शिव	/विनाश/बरबादी	/अभ्याश/निकट
/सर्वः/सब	/विनास/नकटा	/अभ्यास/आवृत्ति
/शार/चितकबरा	/अशित/भुक्त	/वशा/स्त्री, पत्नी
/सार/निचोड़, तत्त्व	/असित/काला	/वसा/चर्बी
स : ष—	/निकास./नैकट्य	/मस्/तोलना
	/निकाष /खुरचना रगड़ना	/मष्/मारना, चोट करना
		/मास./महीना
		/माषः/उड़द (दाल)
स : ह—/सार /निचोड़, तत्त्व	/आवास /मकान, घर	
/हार /माला, हार	/आवाह् /विवाह करना	
/असि /तलवार	/असित/काला	
/अहि /सर्प	/अहित /हानिकर	

(ए) सघोष ऊष्म तथा सघोष महाप्राण स्पर्शों में तुलनीय व्यतिरेक

ह/ध—/अर्ह./योग्य;/अर्घ /आधा,/बर्ह/मोर,/वर्ध/बढ़ना,/अहस्/पाप,/अघस्/भोजन

ह : ढ—/निर्व्यूढ /पूर्ण, वृद्ध,/निर्व्यूह /बुर्ज, चोटी,/वाढ/हां,/वाहः/वाहक

ह : घ—/अह /दिन;/अघ:/पाप./हट्ट /बाजार /घट्ट/घाट

ङ्, ञ की स्वनिमिक स्थिति : लौकिक संस्कृत की व्यंजन ध्वनियों के वितरण तथा संस्कृत शब्द कोशों की प्रवृष्टियों के परीक्षण से स्पष्ट होता है कि इस भाषा में कोई भी शब्द ऐसा नहीं जोकि ङ्, ञ् अथवा ण् से प्रारम्भ होता हो। इनमें से णकार से प्रारम्भ होने वाले कतिपय धातुमूल अवश्य हैं, किन्तु रूप रचना के स्तर पर वे सभी नकार में परिवर्तित हो जाते हैं।

इसी प्रकार नासिक्य व्यंजनों के तुलनीय विरोधी युग्मों के प्रसंग में भी हम देखते हैं कि णकार का तो अनाद्य स्थिति में मकार तथा नकार से व्यतिरेक सिद्ध होता है किन्तु ङकार तथा ञकार का किसी भी नासिक्य व्यंजन के साथ विरोध दिखाई नहीं देता।

इसके अतिरिक्त ग्लिन्, ह्रिम् जैसे पारिभाषिक शब्दों को छोड़कर लौकिक संस्कृत में ये किसी प्रकार के उपांश (onglide) के रूप में भी नहीं आते। अतः विवरणात्मक भाषाविज्ञान की दृष्टि से लौकिक संस्कृत में इन्हें स्वनिम का दर्जा नहीं दिया जा सकता, इनके वितरणात्मक विश्लेषण के आधार पर इन्हें मकार के सस्वनों के रूप में स्वीकार किया जा सकता है।

व्यंजन स्वनिमों का मुक्त विकल्पन—स्वर ध्वनियों के समान ही व्यंजन ध्वनियों में भी मुक्त विकल्पन की स्थिति अनेक रूपों में पायी जाती है। इनमें से कतिपय ध्वनियों का विकल्पन तो प्राचीन काल में ही इतना व्यापक था कि पाणिनि आदि भाषाचार्यों को उसका निर्देश अपने विवेचनों में करना पड़ा था, यथा—रलयोरभेदः, डलयोरभेदः आदि। इन व्यत्ययों के कतिपय उदाहरण इस प्रकार है—

र/ल—रेखा/लेखा पंक्ति, रेखा; नारिकेर/नारिकेल नारियल।
कुम्भीरक/कुंभीलक: चोर, करभ/कलभ: हाथी या ऊँट का बच्चा।
चर्/चल्—चलना, क्रन्द/क्लन्द रोना, इरा/इला पृथ्वी, वाणी।

ड/ल—जड/जल मन्द, शीतल; अर्गल,/अर्गड/अर्गला, चूला/चूडा चोटी; लगुल/लगुड डंडा; लोल/लोड लगड़ा।

व/ब—बक/वकः बगुला, बहल/वहल घना, अत्यधिक, बन्धुर/वन्धुर उन्नतावनत, सुन्दर, (अधिक उदाहरणों के लिए देखो शर्मा, 1983)

श/ष/स्—शुनासीरः/सुनासीरः इन्द्र, पांशुः/पांसु धूलि, मषी/मसी कालिख, कोशः/कोषः खजाना, वेश/वेष घर, वेश, पेशल/पेषल/पेसल कोमल, चिकना आदि। (अपि च दे शर्मा 1983)

घोष-अघोष अथवा तद्विपरीतः शृगाल/शृकाल/सृगाल/सृकाल सियार, रिखणं/रिंगणम् रेंगना, टंकणम्/टंगणम् सुहागा, कपाट/कवाट. किवाड़, तटाक/तडागः तालाब, कन्दुक/गन्दुक गेंद, काकः/काग कौवा आदि।

अल्पप्राण महाप्राण: अथवा तद्विपरीत—थंड/थंड जनथा, केशिः/खेसि गेल, फुप्फुस/फुप्फुस फेफड़े, सिन्दुवारः/सिन्धुवार निर्गुण्डी, करंब/करंभ एक प्रकार का भोजन, आदि। इसके अतिरिक्त और भी अनेक प्रकार के व्यंजन व्यत्यय देखे जाते हैं। इस सम्बन्ध में विशेष विवरण के लिए देखिए लेखक का शोध पत्र 'जनभाषा के रूप में संस्कृत का प्रयोग तथा उसके वैभाषिक रूप" (हरियाणा, साहित्य अकादमी, चण्डीगढ़, 1983)

व्यंजन वितरण—संस्कृत स्वनिम प्रक्रिया मे व्यजनो का वितरण इस रूप मे पाया जाता है—

/क/—/कर /हाथ,/ककुम्/दिशा,/उदक्/ऊपर,/तिर्यक्/पक्षी,/दिक्/दिशा
/ख/—/खर/तीक्ष्ण,/शिखर/चोटी,/नख./नाखून,/लिख्/लिखना
/ग/—/गज/हाथी,/गगनम्/आकाश,/दृग्/आख,/मृग्/खोजना
/घ/—/घट/घड़ा,/घर्घर/घरघराहट,/लघ्/लांघना
/च/—/चुचु/चोच,/चचरीक /भ्रमर,/पयोमुच्/मेघ,/पच्/पकाना
/छ/—/छाया/छाया,/छुछुदर /छछूदर,/अच्छः/निर्मल/मूर्च्छ्/बेहोश होना
/ज/—जलम्/पानी,/जर्जर/पुराना, जीर्ण,/स्रज्/माला,/यज/यज्ञ करना
/झ/—/झकार/झंकार,/झंझा/तूफान,/निर्झर/झरना,/उज्झ्/त्यागना
/ट/—/टक./छेनी/टिटिभ/टिटीहरी,/त्विट्/प्रकाश,/स्फुट्/खिलना/ फूटना
/ठ/—/ठक्कुर /मूर्ति,/निष्ठुर/निर्दयी,/शठ/धूर्त/गुठ्/लपेटना, घेरना
/ड/—/डिंडिम/एक ढोल,/दाडिम./अनार,/मृड/शिव,/तड/पीटना
/ढ/—/ढक्का/एक बड़ा ढोल,/वाढम्/हां,/मूढ/चकित,/दृढ/मजबूत
/ण/—/वाण./तीर,/गणिका/वेश्या,/गण्/गिनना
/त/—/तक्रम्/छाछ,/वितानम्/चदोवा,/गरुत्/पख,/पत्/गिरना
/थ/—/थूत्कार/थू करना,/व्यथा/पीड़ा,/रथ /रथ,/व्यथ्/पीड़ा पहुचाना
/द/ —/दधि/दही,/दर्दुर/मेढक,/ककुद्/चोटी,/छद्/ढकना
/ध/—/धनम्/धन,/धुरधर/शक्तिमान्/समिध,/क्रुध/क्रोध करना
/न/—/नगः/पर्वत,/जननी/मा,/अहन्/दिन,/जन्/पैदा होना
/प/—/पट/वस्त्र,/परस्पर/आपस मे,/अप/पानी,/लप्/बोलना
/फ/—/फलम्/फल,/निष्फलम्/निष्फल,/गुम्फ्/गूथना
/ब/—/बालः/बालक,/शबल./चितकबरा,/लम्ब्/लटकना
/भ/—/भगिनी/बहिन,/बुभुक्षा/भूख,/ककुभ/दिशा,/लभ्/प्राप्त करना
/म/—/मख /यज्ञ,/भ्रमरः/भौरा'/अलम्/काफी,/भ्रम्/घूमना
/य/—/यशः/यश,/प्रवज्या/सन्यास,/जय/विजय,/लय्/जाना
/र/—/रसाल /आम,/सरसः/रसीला,/गिरि /पर्वत,/चुर्/चुराना
/ल/—/लघु/छोटा,/लालनम्/प्यार करना,/हलः/हल,/ज्वल्/जलना
/व/—वश /वास,/यवः/जौ,/दिव/आकाश,/दिव्/खिलना
/श/—/शकुनि /पक्षी,/श्वशुरः/ससुर,/शशः/खरगोश,/विश्/प्रवेश करना
/ष/—/षोडश /सोलह,/दृषद्/पत्थर,/विष /विष,/द्विष्/द्वेष करना
/स/—/सत्यम्/सच,/सारसः/सारस पक्षी,/वस्/रहना
/ह/—/हय./घोडा,/वाहनम्/सवारी,/उपानह./जूता,/वह्/ले जाना, उठाना

व्यंजनों के उपर्युक्त ध्वनिम वितरण के परिणाम स्वरूप जो कतिपय रुचिकर तथ्य सामने आये हैं वे इस प्रकार है (1) व्यंजनों में अन्त होने वाले शब्द मूलों की संख्या अत्यन्त ही सीमित है तथा इस अवस्थिति में आ सकने वाले व्यंजनों में प्रमुख हैं *अल्पप्राण स्पर्श*, *नासिक्य*, *अन्तस्थ तथा सोष्म*। इस अवस्थिति में घटित होने वाले प्रमुख व्यंजन हैं क् (दिक्, उदक्), ङ् (प्राङ्, उदङ्), च् (वाच्, पयोमुच्), ज् (सज्, ऋत्विज्), ट/ड् (सम्राट्/सम्राड्, पद्) ण् (सुगण), त् (मरुत्, सरित्), प अग्निमथ्), द् (सुहृद, दृषद्) ध् (समिध्, बुध्), न् (मघवन्, राजन्), प् (गुप्), भ् (ककुभ्), म् (किम्, अयम्), र् (धुर्, गिर्), ल् (कमल् केवल व्याकरण में व् (दिव्), श् (विश्, दिश्, तादृश्), ष् (रत्नमुष्) स् (चन्द्रमस् मनस्), ह् (उपानह्, मधुलिह्)। महाप्राण व्यंजनों में केवल ध् और भ् ही इस स्थिति में देखे गये हैं तथा सम्पूर्ण शब्द कोश में ऐसे शब्दों की संख्या 5 से भी कम है। अन्तस्थों में भी यकारान्त शब्दों का सर्वथा अभाव देखा गया है तथा सोष्मों में यदि धनुस्/धनुष् को षकारान्त न माना जाय तो अन्य कोई षकारान्त शब्द दृष्टिगोचर नहीं होता।

आवृत्ति की दृष्टि से भी झ, ट, ठ, ड, ढ, तथा ध से प्रारम्भ होने वाले शब्दों की संख्या अगुनि परिगणनीय है। इस दृष्टि से अग्रणी है—क; त, न, प, स। इनके बाद के क्रम में आते हैं अघोष अल्पप्राण, घोष अल्पप्राण, ऊष्म तथा अन्तस्थ।

6

उप-स्वनिमात्मक विवेचन

जैसा कि पीछे बताया गया है कि स्वनिम एक काल्पनिक इकाई है जो कि उसकी परिधि मे आने वाली अनेक ध्वनियो का प्रतिनिधित्व करती है। यत्किंचित अन्तर के साथ शब्द की विभिन्न अवस्थितियों अथवा तत्रस्थ विभिन्न ध्वनियो के परिवेशो में प्राप्त होने वाले उसके रूपो को उसकी सध्वनिया कहा जाता है। यो तो किसी स्वनिम की अनन्त सध्वनियो हो सकती है किन्तु उसके कतिपय रूप ऐसे भी होते है जिन्हे कि उनके परिवेशों की पृष्ठ भूमियो में पूर्वानुमेय बनाया जा सकता है। इस प्रकार पाये जाने वाले ये सस्वन परिपूक वितरण मे भी हो सकते हैं तथा मुक्त वितरण मे भी। इनमें कुछ का निरूपण निम्न रूपो मे किया जा सकता है।

परिपूरक वितरण

वैदिक सस्कृत मे कतिपय स्वनिम तथा उनके सस्वन ऐसे थे जो कि परिपूरक वितरण मे घटित होते थे। इनमे से कुछ का विवरण इस प्रकार है /ल/~/ळ/—

वैदिक भाषा में स्वनिम /ल/ की एक महत्वपूर्ण संध्वनि थी /ळ/ तथा उस की अनुरूप महाप्राण ध्वनि थी /ळ्ह/, ये /ल/ के प्रतिवेष्टित रूप थे तथा इनका उच्चारण आधुनिक भाषाओं की उत्क्षिप्त प्रतिवेष्टित ध्वनियों /ड़/ तथा /ढ़/ के समान हुआ करता था, क्योंकि इनके उच्चारण में जिह्वा का अग्रभाग उलट कर कठोर तालु को छूकर झटके के साथ नीचे को उतरता था। ये ध्वनियां /ल/ तथा /ल्ह/ के साथ परिपूरक वितरण में घटित होती थी जो कि इस प्रकार था। संध्वनि /ळ/ तथा उसकी अनुरूपी महाप्राण ध्वनि /ळ्ह/ स्वरान्तर्वर्ती स्थिति में तथा /ल/ अन्यत्र घटित होती थी, यथा /लिडि/, किन्तु /मीळे/, यथा अग्निमीळे पुरोहितम्।

उल्लेख्य है कि लौकिक संस्कृत तक आते आते यह पूर्णत /ड/ के रूप में विकसित हो गया था तथा /ल/ के साथ मुक्त वितरण में आने लगा था, यथा नालिकेर/नाड़िकेर (नारियल), लगुल/लगुड डंडा, कुहेलिका/कुहेडिका धुंध, जल/जड़ मन्द, शीतल, अर्गल/अर्गड अर्गला, चूला/चूड़ा शिखा।

/व/ / /व्व/ वैदिक भाषा में अन्तस्थ /व/ की दो संध्वनियां थी, एक /व/ तथा दूसरी /व्व/। इनका वितरण इस प्रकार का था—

/व्व/ की संध्वनि /व्व/, जो दन्तोष्ठ्य थी, शब्द के प्रारम्भ में बोली जाती थी, इसे वकार का गुरु रूप कहा गया है।[1] इस प्रकार के उच्चारण का सम्बन्ध गुरु रूप में यजुर्वेद की भाषा के साथ था। यथा इसके अनुसार ततो विराडजायत विराजो अधिपूरुषः का उच्चारण [ततो व्विराडजायत व्विराजो अधिपूरुषः] होता था, इसका यह रूप वैदिक मन्त्रों के लिप्यंकन में भी पाया जाता है।

/य/~/ज/—इसी प्रकार वैदिक भाषा में /य/ की दो संध्वनियां थी [य] तथा [ज] जिनका वितरण इस प्रकार था—संध्वनि [ज] पदादि में असंयुक्त /य/ तथा पद-मध्य में र, र, ऋ, ण, ह, के साथ संयुक्त होने पर,[2] उदाहरणार्थ, वैदिक मन्त्रों यद्भूतं यच्च भाव्यम् तथा सूर्यं आत्मा जगतस्तस्थुषश्च में य का उच्चारण ज के समान होने के कारण इन्हें जद्भूतं जच्च भाव्यम् तथा सूर्जं आत्मा जगतस्तस्थुषश्च के रूप में लिया जाता था। यजुर्वेदीय परम्परा में इनका उच्चारण अभी भी इसी रूप में होता है,[3] तथा /य/ संध्वनि अन्यत्र प्रयुक्त हुआ करती थी।

---

1 गुरुर्वकारो विज्ञेयः पदादौ पठितो भवेत्।

2 पदादौ विद्यमानस्य द्वसंयुक्तस्य यस्य च।
आदेशो हि जकारः स्यात् युक्त सन् इरणेन तु ॥ माध्य० शि० 2.3-5

3 किन्तु वाज प्राति. स्वरान्तर्वर्ती य का भी उच्चारण ज का करने का विधान करता है। स्वरात् स्वरे परे समानपदे आद्यम् न तु ऋकारे ॥ वा. ज. प्रा. 1.164

/ष/ ~ /ख/ मूर्धन्य षकार की भी दो सध्वनियां थी एक /ष/ तथा दूसरी /ख/। इनका वितरण इस प्रकार था—सध्वनि /ष/ का उच्चारण वर्गीय स्पर्शों से संयुक्त होने की स्थिति मे तथा संध्वनि /ख/ का उच्चारण अन्यत्र किया जाता था।[1] यजुर्वेदीय परम्परा मे इन दोनो ही सध्वनियो का इसी रूप मे प्रयोग अभी भी बराबर किया जाता है। इनके उदाहरणो के लिए देखिए ऊपर य तथा व के सन्दर्भ मे दिए गये उदाहरण (इसके अनुसार यजुर्वेद के प्रसिद्ध मन्त्र सहस्र शीर्षा पुरुषः का उच्चारण होता है—सहस्र शीरेखा पुरुखः।

[ल]~[लृ]· स्वनिम /ल/ की दो सध्वनियों थी एक स्वरात्मक तथा दूसरी व्यजनात्मक। भारद्वाज शिक्षा के अनुसार पद के आदि तथा अन्त मे ल् व्यंजन ही होता था किन्तु पद के मध्य मे यह स्वर हो सकता था, यथा क्लृप्त मे।[2]

/र/[ऋ]—इसी प्रकार /र/ की भी दो सध्वनियां मानी गयी हैं। इनमें से एक व्यंजनात्मक तथा दूसरी स्वरात्मक थी। "स्वर-व्यजन शिक्षा" मे र के स्वरत्व तथा व्यंजनत्व पर बड़े विस्तार के साथ विवेचन किया गया है (दे०, वर्मा, 1973 : 71-73)। इसके अनुसार जहा पर विसर्ग या तो/र/ से हुए हों या र मे परिवर्तित हो, (ऋक् प्राति० 4 9) यथा प्रातरग्निम् मे अथवा जहां पर र से पूर्व आने वाले म् का अनुस्वार हो जाता है यथा होतारं रत्नधातमम् मे, वहा पर भी यह व्यंजन रहता है। किन्तु जब इससे पूर्व में अनुस्वार नही होता तो यह स्वरत्व अर्थात् /ऋ/ का बोधक होता है, यथा समृतुभिः मे। इसी प्रकार सकार मे परिवर्तित न हो सकने वाले विसर्गों के बाद आने वाला र भी स्वरत्व को प्राप्त हो जाता है।

इनके अतिरिक्त इसी शिक्षा के अन्त मे र की एक तीसरी स्थिति भी स्वीकार की गयी है जिसे कि शिक्षाकार "सचित रेफ" (संचितो रेफः) कहता है। इसके अनुसार यह तब होता है जबकि र या ऋ मे पूर्व मे कोई व्यंजन न हो और बाद मे हो, यथा ऋजु, ऋंजसे, रिशादस्। तदनुसार संस्कृत शब्द मे तो ऋ स्पष्ट रूप से स्वर है क्योकि इससे पूर्व मे व्यंजन सयोग है किन्तु ऋजु या ऋंजसे आदि का ऋ एक "सचित रेफ" है जोकि स्वरत्व तथा व्यंजन के बीच दोलायमान है।

स्वनिम वितरण के अनुसार स्वनिम /म/ के भी तीन सस्वन बनते है—[म] [ङ]~[ञ]। परिपूरक वितरण मे आने वाली इन नासिक्य ध्वनियो मे प्रथम की स्थिति स्वनिमात्मक तथा अन्य दोनों की सस्वनात्मक बनती है। क्योकि /म/ एक स्वनिम के रूप मे शब्द की आदि, मध्य तथा अन्त्य सभी स्थितियों में आ सकता है तथा अन्य नासिक्य स्वनिमों, /न/ तथा /ण/ के साथ व्यतिरेकी वितरण भी

---

1. षकारस्य खकारस्याद्दुक्योगे तु नो भवेत्। म. शि. 2.9
2. उदाहृतः क्लृप्तशब्दो न पद्याद्यन्तयो स्वरः ॥34॥

हो सकता है,[1] यथा—आप्नुवन् + पूर्वम् = [आप्नुवन्त्-पूर्वम्], सम्यक् + स्रवन्ति = [सम्यक्-स्रवन्ति], तत् + करोति = [तत्करोति,], यावत्-+ हि = [यावद्धि]। डा० वर्मा जी के अनुसार अन्त्य व्यंजनों का द्वित्वीकरण ध्वन्यात्मक दृष्टि से कठिनता से ही सम्भव हो सकता है (दे. पृ 113)।

दीर्घ किये जा सकने वाले व्यंजन - "लोमशी शिक्षा" के अनुसार 21 व्यंजन ऐसे हैं जिन्हें कि दीर्घ किया जा सकता है।[2] ये हैं—5 अघोष अल्पप्राण स्पर्श, 5 घोष अल्पप्राण स्पर्श, 5 नासिक्य व्यंजन, 3 अन्तस्थ (य, ल, व) तथा तीन सोष्म सघर्षी (श, ष, स)। फलतः "तस्य, अग्निः, सप्त, ग्रीष्म, तीर्थः, सप्यते, सर्वाणि, मर्माणि, सूर्यः, विशल्यो, रक्ष, आदि का उच्चारण क्रमशः—तस्स्य, अग्गिन, तेक्ष्णः, सप्प्तः, ग्रोष्ष्मः, तीर्त्थः, तप्यते, सर्व्वाणि, मर्म्माणि, सूर्य्यः, विशल्ल्यो, रक्ष आदि के रूप में होता था।

उच्चारण के अनुसार लिप्यंकन करने वाली वैदिक पाण्डुलिपियों एवं गुप्तकालीन शिलालेखों को देखने से पता चलता है कि सामान्यतः प्रत्येक व्यंजन संयोग में लिखित रूप में भी उसके प्रथम वर्ण को द्वित्व कर दिया जाता था। यह द्वित्व केवल उसी शब्द से सम्बन्धित अक्षर से पूर्व ही नहीं, अपितु किसी अन्य शब्द से पूर्व में भी कर दिया जाता था, यथा "अश्विभ्यो-स्वाहुभ्याम्" "उपदधामि-भ्भ्रातृव्यस्य", अर्थात् वाक् प्रवाह में पूरे वाक्यांश को ही एक इकाई समझ लिया जाता था।

संस्कृत उच्चारण में इस प्रकार का सर्वाधिक दीर्घीकरण/द्वित्व स्पर्श + र तथा महाप्राण व्यंजन + अन्तस्थ के संयोग में होता था। इसके अतिरिक्त यह प्रवृत्ति र + स्पर्श के संयोग में भी सामान्यतया पायी जाती है, यथा—

स्पर्श + र्	महाप्राण + अन्तस्थ	र + स्पर्श
पराक्क्रम	अद्ध्ययनम्	दर्प्पः
विक्क्रम	पत्थ्यम्	दीर्घ—
उग्ग्र —	मद्ध्येन	वर्ग—
भद्द्र—	मधुद्ध्यत	मार्ग्गम्
वाक्य विक्रयाभि	सौद्ध्यम्	स्वर्ग्गम्—

1 शिक्षा संग्रह पृ० 930, संयोगादि: स्वरादिश्च प्राप्नोतीति विदुर्बुधाः।
स्पर्शान्त परतोर्वा परमप्येति सर्वशः ॥
उद्धृत, वर्मा, पृ० 123

2. वर्णाः विंशतिरेकाश्च यत्रा द्विर्भाव इष्यते।
प्रथमाग्यानुनासिक्याश्च यवला शषसः सह ॥ शि० सं०, पृ० 457.

पुत्रस्य	सेनाभ्य	आवर्ज्जन—
तदब्रुवन्	बाहुभ्याम्	विसर्ज्जन—
एद्द्रेभ्य'	आड्ढय	महार्घं
अवर्मकेभ्य	अर्घ्यम्	निर्ज्झरी
नम. प्रजाभ्यो	दैर्घ्यम्	झर्ज्झरी—

किन्तु इसके अतिरिक्त अनेक ऐसे उदाहरण भी देखे जाते हैं जिनसे सिद्ध होता है कि अन्तस्थो के योग मे सामान्यतया व्यजनो का उच्चारण सामान्य से कुछ अधिक दीर्घता लिए हुए होता था जो कि लगभग द्वित्व के अथवा दीर्घीकृत रूप के ही निकट पहुच जाता था, यथा—सर्वे षाम् [सर्व्वेषाम्], सर्वाणि [सर्व्वाणि], सर्पि [सर्प्पि], ऊर्जम्, [ऊर्ज्जम्] अघ्न [अद्घ्न], तप्यते [तप्प्यते], नित्यम् [नित्त्यम्], सूर्यस्य=[सूर्य्यस्य], विद्यते [विद्द्यते], उज्वल [उज्ज्वल], निर्मल [निर्म्मल], विश्वत [विश्श्वत.], पार्श्वे [पार्श्श्वे], जुगुप्सा [जुगुप्प्सा], नव्य [नव्व्य], स्नात्वा [स्नात्त्वा]। वस्तुत सस्कृत के व्यंजन संयोगों में इस प्रकार के व्यजन दीर्घता के उच्चारण का सम्बन्ध संस्कृत के अक्षरीकरण एवं अक्षर विभाजन के साथ है। डॉ० सिद्धेश्वर वर्मा जी ने अपने ग्रन्थ मे इस समस्या पर विस्तार के साथ विचार किया है (देखो, पृ० 135—44)

अभिनिधानीकृत उपस्वन—अभिनिधान का सामान्य अर्थ है अपूर्ण उच्चारण (in complete artiulation)। हमारे प्राचीन ध्वनिविज्ञानियो के अनुसार किसी अन्य स्पर्श या विराम से पूर्व मे आने वाले स्पर्श या अन्तस्थ (र को छोड़कर) का उच्चारण दबा हुआ (पीडित) या अपूर्ण हुआ करता था। उदाहरणार्थ, अर्वाग्देवाः, याभिः में दकार व भकार से पूर्व गकार का उच्चारण अस्पष्ट होता था। इसी प्रकार मरुद्भिः, मरुद्भ्याम् मे भी भ् से पूर्व द् का उच्चारण अति शिथिल (सन्नतरः) होता था। किन्तु इस विषय मे सभी आचार्य एकमत नहीं है। शाकटी के अनुसार (ऋक् प्राति 6.12) यह तभी होता है जब कि व्यजन को द्वित्व किया गया हो तथा शाकल शाखा के अनुसार यदि स्पर्श के बाद आने वाला स्पर्श सवर्णी न हो तो अभिनिधान विकल्प से होता था (दे वर्मा, 159)। यह मत अधिक सगत प्रतीत होता है, क्योकि मुक्त, दग्ध मे क् तथा ग् का उच्चारण स्पष्ट रूप से होता है। किन्तु यह स्पष्टता बहुत कुछ वक्ता पर भी निर्भर करेगी। शीघ्र अथवा शिथिल उच्चारण में इनका व्यक्तीकरण अवश्य ही अस्पष्ट या अपूर्ण हो जायेगा। इसी प्रकार विराम से पूर्व मे आने वाले व्यंजन की स्थिति भी होती है यथा—त्रिष्टुप्+ततः; सत्+पश्यति, वाक्+तस्य मे भी अन्त्य स्पर्शों का उच्चारण अपूर्ण ही होता है। लगता है कि यह क्षेत्रीय विभेद था जो कि कुछ क्षेत्रो के उच्चारण मे पाया जाता था तथा कुछ मे नहीं।

यमीकृत उपस्वन—"यम" का अर्थ है युगल, जुड़वा (twin)। यह भी वैदिक संस्कृत के उच्चारण की एक जानी-मानी विशेषता थी। संस्कृत के शब्दों के उच्चारण के समय स्पर्श+नासिक्य व्यंजनों के मध्य से उद्भूत होने वाली विशेष नासिक्य ध्वनियों को "यम" कहा जाता था[1] जोकि स्वयं ध्वनि के आंशिक नासिक्य स्फोटन के कारण बन जाती थी अर्थात् ऐसी अवस्थितियों में स्पर्श व्यंजनों के दो उपस्वन होते थे—प्रथम निरनुनासिक अर्थात् शुद्ध स्पर्श तथा द्वितीय सानुनासिक। इस प्रकार रुक्म, पद्म, स्वप्न, तृष्णुतः, आप्नानम् आदि का उच्चारण रुक्क्ँम, पद्द्ँम, स्वप्प्ँन, तृप्प्ँणुतः आप्प्ँनानम् के समान होता था। (दे. वर्मा, 193—96)

इसके अतिरिक्त विभिन्न स्वनिमों के विभिन्न ध्वन्यात्मक परिवेशों में घोषीकृत, अघोषीकृत, महाप्राणीकृत, अल्पप्राणीकृत, नासिक्यीकृत, ऊष्मीकृत, रेफीकृत आदि उपस्वन होते हैं जिनका विवेचन रूप स्वनिमिक परिवर्तनों के अन्तर्गत किया जायेगा।

---

1. तैत्ति० प्राति० 21. 12-13—स्पर्शादनुत्तमादुत्तमपरादानुपूर्व्यान् नासिक्याः तान् यमानेके। तथा च ऋक्० प्राति० 6 29.32

7

रूप-स्वनिम प्रक्रिया

भाषिक विश्लेषणो मे उनके रूप-स्वनिमात्मक विश्लेषण का भी महत्वपूर्ण स्थान होता है, क्योकि इससे भाषा विशेष की स्वन-प्रक्रिया तथा रूप-प्रक्रिया के पारस्परिक सम्बन्धों का पता चलता है। सामान्यतः रूप स्वनिमिकी का क्षेत्र पद रचनाओ के प्रसंग मे होने वाले स्वनिम परिवर्तनो से होता है, किन्तु वाक् प्रवाह मे भिन्न-भिन्न रूपो मे होने वाले ध्वन्यात्मक परिवर्तनो का अध्ययन भी इसके विषय क्षेत्र के अन्तर्गत आ जाता है। अव्यवहित रूप मे आने वाले दो रूपिमो मे होने वाले ये परिवर्तन नियमित भी हो सकते है, अनियमित भी तथा मुक्त विकल्पन मे भी। वे रूपिम मुक्त+बद्ध क्रम के भी हो सकते हैं और मुक्त+मुक्त क्रम के भी। इस सम्बन्ध में यहा पर इतना स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि सधिप्रक्रिया रूप-स्वनिमिकी का अंग तो है पर रूप-स्वनिमिकी नही। क्योकि सन्धियो में जहा केवल पदान्त तथा पदादि की ध्वनियो के बीच होने वाले परिवर्तनो पर विचार किया जाता है वहां रूपस्वनिमिकी में रूपिमो मे होने वाले सभी प्रकार के परिवर्तनो पर विचार किया जाता है। वह परिवर्तन रूपिम के चाहे किसी अश मे क्यो न हुआ हो।

संश्लिष्ट भाषा होने के कारण संस्कृत में इन रूप-स्वनिमात्मक परिवर्तनों की इतनी विविधता है कि उन सबका निरूपण इस ग्रन्थ में कर पाना कठिन है। अतः यहां कतिपय प्रतिनिधि रूपों का ही विवेचन प्रस्तुत किया जायेगा।

इन परिवर्तनों की कतिपय व्यवस्थित अभिरचनाओं के आधार पर संस्कृत के वैयाकरणों ने इन्हें विभिन्न वर्गों में रखा है जिन्हें पारिभाषिक रूप में संधि, विकार लोप, आगम, आदेश, अभ्यास आदि नामों से संकेतित किया जाता है। क्योंकि भिन्न-भिन्न प्रकार की पद-रचनाओं में इनकी स्थिति भिन्न हुआ करती है, अतः हम यहां पर भी इनका निरूपण इन्हीं रूपों में करेंगे।

पदरचना सम्बन्धी रूप-स्वनिमिक परिवर्तनों के रूप मुख्यत नाम पदरचना, समस्त पदरचना, आख्यात पदरचना, कृदन्त पदरचना, तद्धित पदरचना, तथा स्त्री-प्रत्ययों के योग में पाये जाते हैं। इन्हें निम्नलिखित रूपों में प्रस्तुत किया जा सकता है।

नामपदों की रूपरचना में होने वाले रूप-स्वनिमात्मक परिवर्तन

नाम पदों की रूपरचना प्रक्रिया में प्रकृति तथा प्रत्यय के योग से उसके नाम पदों में होने वाले रूप-स्वनिमात्मक परिवर्तन के विवेचन के लिए समस्त सुपों (विभक्ति प्रत्ययों) को तथा प्रातिपदिकों को दो-दो वर्गों में विभाजित किया जा सकता है। सुपों के विभाज्य वर्ग है—अजादि अर्थात् औ, अस्, अम्, आ, ए, ओस्, इ, आम् तथा हलादि अर्थात् स्, भ्यास्, भिस्, भ्यम्, सु। इसी प्रकार प्रातिपदिकों के विभाज्य वर्ग हैं: 1 अजन्त तथा 2 हलन्त। रूप स्वनिमात्मक प्रक्रिया से सम्बन्ध रखने वाले परिवर्तन उपर्युक्त दोनों ही आधारों पर होते हैं। यहां पर हम केवल उन्हीं परिवर्तनों पर विचार करेंगे जो कि सन्धिगत परिवर्तनों के सामान्य नियमों के अन्तर्गत नहीं आ सकते हैं।

अजन्त शब्दमूलों में होने वाले परिवर्तन—विभक्ति प्रत्ययों के योग में अजन्त प्रकृति में होने वाले परिवर्तनों का रूप इस प्रकार पाया जाता है।[1]

1 दीर्घीकरण—न्, नि, नाम् विभक्ति प्रत्ययों के योग में प्रकृत्यन्त ह्रस्व स्वरों (अ, इ, उ, ऋ) का दीर्घीकरण हो जाता है, यथा, रामान्, हरीन्, गुरून् पितॄन्, वारीणि, मधूनि, धातॄणि, रामाणाम्, नदीनाम्, धेनूनाम्, पितॄणाम् आदि किन्तु अकारान्त शब्दों में यह दीर्घीकरण—य (च., ए. व.) के पूर्व में भी पाया जाता है, यथा रामाय। इसी प्रकार इकारान्त में औ (प्र., द्वि, द्वि. व) तथा उका-

---

1 प्रस्तुत विवेचन में प्रत्ययों के अन्तर्गत उनके कृतिमों तथा उपरूपों दोनों का समावेश किया गया है।

रान्तों मे (स्त्री , द्वि, ब व) के योग मे भी यह रूप पाया जाता है, यथा—कवो, धेनू आदि।

2. ह्रस्वीकरण—ईकारान्त शब्दो मे सम्बुद्धिपरक—स् प्रत्यय के योग में अन्त्य स्वर का ह्रस्वीकरण हो जाता है, यथा हे देवि, हे गौरि। इसी प्रकार स्यै, स्या तथा स्याम् सार्वनामिक विभक्ति प्रत्ययो के योग मे आकारान्त सार्वनामिक शब्दो के अन्त्य स्वर का भी ह्रस्वीकरण हो जाता है, यथा—सर्वस्यै, सर्वस्याः, सर्वस्याम्<सर्वा।

3. गुण—ए (च, ए व), अस् (पं , प , ए व.) तथा सम्बुद्धि परक—स् के योग में इकारान्त तथा उकारान्त शब्दो के प्रकृत्यन्त स्वर को गुण हो जाता है; यथा—हरये, मतये, भानवे, हरेः, भानोः, हे हरे, हे साधो, हे मते आदि।

किन्तु ऋकारान्त शब्दो मे अस् (जस्), अम् तथा इ (ङि) के योग में प्रकृति स्वर का गुणीभाव—अर् पाया जाता है, यथा पितरौ, पितरः, पितरम्, पितरि<पितृ।

4 वृद्धि—वृद्धीकरण की प्रवृत्ति सीमित रूप से इकारान्त, ओकारान्त तथा ऋकारान्त शब्दो मे देखी जाती है जो कि औ (प्र , द्वि- द्वि.), अस् (जस्) तथा अम् प्रत्ययो के योग मे घटित होती है। इकारान्त शब्दों में केवल सखि शब्द तथा ऋकारान्तों मे बन्धुत्व सम्बन्ध वाचक शब्दो के अतिरिक्त भर्तृ, नप्तृ, तथा स्वसृ को छोड़कर सभी शब्द इससे प्रभावित होते हैं, यथा—सखायौ, सखायः, सखायम्<सखि, कर्तारौ, कर्तार, कर्तारम्<कर्तृ, नेतारौ, नेतारः, नेतारम्<नेतृ; गौ, गाव<गो।

5. लोप—सप्तमी एक वचन इ/औ के योग में प्रकृत्यन्त—आ, -इ, -उ का नित्य लोप हो जाता है, यथा—गोपि<गोपा, हरौ<हरि, भानौ<भानु। इसके अतिरिक्त पचमी, षष्ठी विभक्ति के प्रत्ययों—अस् उस् के योग मे आकारान्त प्रकृति अनित्य मे रूप से प्रकृत्यन्त स्वर का लोप पाया जाता है, यथा—गोपोः<गोपा, सख्युः, पत्युः, दध्नोः, भानोः, मातुः, पितुः।

उपर्युक्त परिवेशों के अतिरिक्त आकारान्त शब्दो में अस् (द्वि., द. व.) तथा इकारान्त नपुंसक शब्दों मे नाम् के योग मे भी प्रकृत्यन्त स्वर का लोप देखा जाता है, यथा—गोप.<गोपा, दध्नाम्<दधि।

6 आदेश—अजन्त शब्दों के प्रकृत्यन्त में होने वाले आदेश भिन्न-भिन्न रूपों मे पाये जाते हैं।

आ→ए—आकारान्त पुल्लिंग मे -भ्यास्, -ओस् एवं-सु के योग में, यथा—रामेभ्यः, रामयोः, रामेषु।

आ→ए—आकारान्त स्त्रीलिंग मे -आ (टा) -ओस् एवं -सु सम्बोधन के योग

में, यथा—रमया, रमयो:, हे रमे।

इ→अ—सु के योग में सखि शब्द में, यथा—सखा।

ई→इय्—प्रकृत्यन्त -ई को अजादि प्रत्ययों के योग में, यथा—धियौ, धियः, धियम्, धिया, धिये, धियोः धियाम्, धियि। इसी प्रकार श्री, स्त्री, ह्री आदि कुछ अन्य शब्दों में भी इसी प्रकार की ईकार की स्थानापन्नता पायी जाती है, किन्तु अन्यत्र यह केवल यकार के रूप में होती है, यह—नद्यौ, नद्यः, नद्याः, नद्यः, नद्योः, नद्याम्।

ऊ→उव्—प्रकृत्यन्त स्वर—ऊ को अजादि प्रत्ययों के योग में, यथा—भुवौ, भुवः, भुवम्, भुवा, भुवे आदि। यह आदेश ऊकारान्त सभी लिंगों के शब्दों में तो नित्य रूप में तथा पुलिंग शब्दों में अनित्य रूप में पाया जाता है।

ऐ→आ—संस्कृत में ऐकारान्त शब्दों की संख्या नगण्य है, जो हैं उनमें हलादि विभक्ति प्रत्ययों के योग में यह स्थानापन्नता पायी जाती है, यथा राः, राभ्याम्, राभिः, राभ्यः, रासु < रै "धन", सम्पत्ति।

ओ→आ—ओकारान्त शब्दों में प्रकृत्यन्त स्वर की यह स्थानापन्नता विभक्ति प्रत्यय—अम् तथा अस् (शस्) के योग में पायी जाती है यथा—गाम्, गाः < गो, द्याम्, द्याः < द्यो।

हलन्त पदों की रूपरचना में होने वाले रूप-स्वनिमिक परिवर्तन

संस्कृत प्रातिपदिकों में अन्त्य व्यंजन की स्थिति में आने वाले व्यंजनों की संख्या केवल 22 है (देखिए व्यंजन वितरण पीछे)। विभक्ति प्रत्ययों के योग में इनकी प्रकृति में होने वाले रूप-स्वनिमात्मक परिवर्तनों के अनेक रूप देखे जाते हैं। जिनमें से कुछ तो लोप, आगम, आदेश आदि के रूप में होते हैं तथा कुछ ध्वन्यात्मक परिवर्तनों के रूप में। इसके अतिरिक्त अनेक परिवर्तन ऐसे भी होते हैं जिनका सम्बन्ध प्रातिपदिक विशेष तक ही सीमित होता है। हम यहां पर इस प्रकार के परिवर्तनों पर विचार नहीं करेंगे। इसके लिए व्याकरण सम्बन्धी ग्रन्थों को देखना ही अपेक्षित होगा। यहां पर इस सन्दर्भ में केवल कुछ सर्व सामान्य प्रवृत्तियों का ही उल्लेख किया जायेगा।

इन परिवर्तनों की अवस्थितियां भी भिन्न-भिन्न हैं। कुछ परिवर्तन केवल हलादि विभक्ति प्रत्ययों के योग में होते हैं, तथा कुछ केवल सर्वनाम स्थान (प्रथम पांच रूप) विभक्ति चिह्नों के योग में ही होते हैं, यथा अन्त्य अच् से परे न् का आगम, उपधा को दीर्घ आदि। कुछ परिवर्तन इसके विपरीत केवल असर्वनाम स्थान अजादि विभक्तियों के परे होने पर ही होते हैं। यथा—सम्प्रसारण, दीर्घ, उपधालोप, टिलोप आदि।

हलन्त प्रातिपदिकों में होने वाले सामान्य रूपस्वनिमात्मक परिवर्तनों को मोटे तौर पर निम्न वर्गों में वर्गीकृत किया जा सकता है—

1. कण्ठीकरण—सामान्यतया शब्द के अन्त मे आने वाले अल्पप्राण चवर्गीय ध्वनियों (च् ज्), श्, ष् तथा ह् को हलादि विभक्ति प्रत्ययो के योग मे कवर्गीय ध्वनिया (क्, ग्) हो जाती है यथा वाच्>वाक्/वाग्, तादृश्>तादृक्/ग्, दधृष्>दधृक्/ग्, दुह्>धुक्/ग् (केवल दकारादि मे)।

विशेष—यह कण्ठीकृत ध्वनि पदान्त मे अर्थात् शून्य प्रत्यय के योग में तो घोष तथा अघोष दोनो रूपो मे, सु के योग मे केवल अघोष रूप मे (वाक्षु, धुक्षु), तथा अन्यत्र केवल घोष रूप मे (वाग्भ्याम्, वाग्भिः) पायी जाती है।

2. मूर्धन्यीकरण—यह परिवर्तन उपर्युक्त नियमो का अपवाद कहा जा सकता है। इसके अनुसार हलादि विभक्ति प्रत्ययो के योग मे, व्रश्च्, भ्रस्ज्, सृज् मृज्, यज्, राज्, भ्राज् तथा श्, ष् या ह् से अन्त होने वाले धातुओ से बने प्रातिपदिको की अन्त्य ध्वनिया अल्पप्राण टवर्गीय ध्वनिया हो जाती है। इन परिवर्तित मूर्धन्य ध्वनियो की घोषता एव अघोषता का निर्धारण उपर्युक्त रूप मे ही होता है; यथा—राज्>राट्/ड्, राड्भ्याम्, राट्सु, विश्>विट्/ड्, विड्भ्याम्, विट्सु; रत्नमुष्>रत्नमुट्/ड्, लिह्>लिट्/लिड्, लिड्भ्याम्, लिट्सु आदि।

3. घोषीकरण—अघोष स्पर्शों मे अन्त होने वाले सभी हलन्त प्रातिपदिको (परिवर्तित अथवा मूल) का घोष हलादि विभक्ति प्रत्ययों—-भ्याम्, -भिस्, तथा -भ्यस् के योग मे नित्य रूप से तथा पदान्त शून्य प्रत्यय के योग मे विकल्प से घोषीकरण हो जाता है, यथा—वाक्/ग्, वाग्भ्याम्, वाग्भिः, वाग्भ्यः, वणिक्>वणिग्भ्याम्; सरित्>सरिद्भ्याम्; महद्भ्यः, दिश्>दिक्>दिक्/ग्, दिग्भ्य।

घोषीकरण का यह रूप दो पदों के अनुक्रम मे भी इसी रूप मे देखा जाता है। यथा—जगत्+ईशः=जगदीशः, असीत्+राजा=आसीद्राजा आदि।

4. अमहाप्राणीकरण—सस्कृत शब्दो मे केवल थ् तथा घ् ही दो ऐसी महाप्राण ध्वनियां हैं जो कि शब्दान्त मे पायी जाती है। उपर्युक्त अवस्थितियो मे इन महाप्राण ध्वनियों का स्ववर्गीय अल्पप्राणीकरण अथवा घोषीकरण हो जाता है, यथा—अग्निमथ्<अअग्निमद्/अग्निमत्/द्, अग्निमद्भ्याम्, बुध्>भुत्/द्, भुद्भ्याम् भुद्भिः आदि।

5. महाप्राणीकरण या महाप्राणता का स्थानान्तरण—यदि शब्दान्त ध्वनि घोष महाप्राण हो और उससे पूर्ववर्ती ध्वनि घोष अल्पप्राण हो तो हलादि विभक्ति प्रत्ययो के योग मे महाप्राणता का पश्चगामी स्थानान्तिरण हो जाता है, यथा—बुध्>भुत्/द्, भुद्भ्याम्, दुह्>धुक्/ग्, धुग्भ्याम् आदि।

6. दन्त्यीकरण—सस्कृत मे अप्, विद्वस्, स्वनडुह् आदि कुछ शब्द ऐसे है जिनकी अन्त्य ध्वनियो का हलादि प्रत्ययो के योग मे दन्त्यीकरण (त्, द्) हो जाता है। इसका रूप अघोष हलादि प्रत्ययों के योग मे त् तथा घोष हलादि प्रत्ययो के योग मे द् होता है, किन्तु अप् मे यह परिवर्तन केवल घोष हलादि प्रत्ययों के योग मे

ही होता है, यथा—अद्भिः, अद्भ्यः, विद्वत्>विद्वद्भिः, विद्वत्सु, स्वनडुत्/द् स्वनडुद्भ्याम्, स्वनडुत्सु आदि।

7. दीर्घीकरण—अन् में अन्त होने वाले अधिकतर शब्दों में सर्वनाम स्थान (प्रथम पांच विभक्ति-प्रत्यय) में उपधा को दीर्घ हो जाता है: राजन्>राजा, राजानौ, राजानः राजानम्, युवन्>युवा, युवानौ आदि। इनके अतिरिक्त यह दीर्घीकरण महत्, विद्वस्, पुम्स्, आदि कुछ अन्य शब्द रूपों (जिनमें सर्वनाम स्थान विभक्ति-प्रत्ययों के योग में न् का आगम हो जाता है) में भी पाया जाता है। तुलना-बोधक यस् या ईयस् प्रत्यय वाले शब्दों के उपधा स्वर को भी सर्वनाम स्थान विभक्ति प्रत्ययों के योग में दीर्घता आ जाती है, यथा श्रेयस्>श्रेयान्, श्रेयांसौ, श्रेयांसः आदि। इसी प्रकार प्रेयस्, गरीयस्, ज्यायस्—आदि को भी समझना चाहिए। स् (सु) विभक्ति चिह्न से पूर्व में तो प्रायः सभी—अन्,-इन् एवं-मत् में अन्त होने वाले शब्दों को दीर्घ हो जाता है, यथा—शशिन्>शशीः, धनिन्> धनी, धीमत्> धीमान्, बलवत्>बलवान्, पूषन्>पूषा, वृत्रहन्>वृत्रहा।

इसी प्रकार -वस् (क्वसु) प्रत्ययान्त शब्दों में भी (प्रथमा एकवचन में वस् को वान्) सर्वनामस्थान विभक्तियों को उपधा के स्वर को दीर्घ हो जाता है, यथा— तस्थिवत्>तस्थिवान्, तस्थिवांसौ, तस्थिवांसः, तस्थिवांसम्, अग्निवान्, शुश्रुवत्> शुश्रुवान् आदि।

8 लोप—(Elison) संस्कृत के पदों की रचना में लोप का भी अपना विशेष स्थान है। यह लोप अन्त्य वर्ण का भी हो सकता है, उपधा के स्वर का भी तथा "टि" का भी।

उपधालोप—कुछ-अन् में अन्त वाले शब्दों में असर्वनामस्थान अजादि विभक्तियों के योग में उपधा के अ का लोप हो जाता है। इनमें से अनेक शब्द ऐसे हैं जिनमें कि ङ (ङि) के योग में यह लोप विकल्प से होता है, यथा राजन्>राज्ञः, राज्ञा, राज्ञि~राजनि, मूर्धन्>मूर्ध्नः, मूर्ध्नः, मूर्ध्ना, मूर्ध्नि~मूर्धनि आदि, किन्तु—अन् अन्तः वाले नपुंसक लिंगी शब्दों में यह वैकल्पिक उपधा लोप सप्तमी एकवचन इ के अतिरिक्त प्रथमा एवं द्वितीया के द्विवचन (औ) के योग में भी पाया जाता है, यथा—अहन्> अह्नी~अहनी~अह्नि, नामन्> नाम्नी~ नामनी। किन्तु- अन् में पूर्व में कोई संयुक्त व्यंजन हो तो फिर वहाँ भी उपधा लोप नहीं होता, यथा—ब्रह्मन्> ब्रह्मणः, ब्रह्मणा, ब्रह्मणि।

अन्त्यलोप—अन्त्य लोप के अन्तर्गत निम्नलिखित व्यंजनों का लोप होता है।

1.-न्-लोप—नकारान्त—अन्,-इन् आदि शब्दों में हलादि विभक्तियों के योग में अन्त्य न् का लोप हो जाता है, यथा—आत्मन्> आत्मा, आत्मभ्याम्,

आत्मभिः, आत्मभ्यः, पथिन्,> पथिभ्यः, पथिषु आदि।

2 -द् लोप—सार्वनामिक प्रातिपदिकों—त्यद् तद्, यद्, एतद् आदि में सभी विभक्त्यन्त प्रत्ययों के योग में अन्तिम द् ध्वनि का लोप हो जाता है तथा इनकी रूपरचना अकारान्त सार्वनामिक प्रातिपदिकों के समान होती है, यथा—**यद्>यः, यौ, ये, यम, यान्** आदि।

त् स् लोप—मत्, वत्, अत् (शतृ) प्रत्ययान्त अनेक प्रातिपादकों के त् का तथा तुलनाबोधक यस् और ईयस् प्रत्ययान्तों एवं विद्वस्, पुम्स् के स् का शून्य विभक्ति प्रत्यय स् के योग में लोप हो जाता है, यथा—**धीमान् बलवान्, महान्, भवान्, श्रेयान्, विद्वान्, पुमान्** आदि।

आगम—लोप के समान ही आगम का भी संस्कृत पदों की रूपरचना में एक महत्वपूर्ण स्थान पाया जाता है। आगम का क्षेत्र प्रायः सामान्य न होकर विशेष ही होता है, अर्थात् किन्हीं विशेष शब्दों की रूप रचना के लिए ही उनका विधान पाया जाता है।

साधारणीकृत रूप में कहा जा सकता है कि सभी हलन्त शब्दों में स् विभक्ति के योग में ङ के बाद क् का, ण के बाद ट् का, तथा न् या ट् के बाद त् का आगम हो जाता है, यथा—**प्राङ्क्षु, राट्सु; सुगण्ट्सु, विद्वत्सु** आदि। (दे० सं० ऐ० स० परिचय, पृ० 157)।

आदेश—आदेश के कुछ सामान्य रूपों का ऊपर वर्गीकृत रूप कण्ठीकरण आदि में दिया जा चुका है। (प्रत्यय विशेष के योग में शब्द विशेष की प्रकृति में होने वाले आदेशों के लिए देखो—संस्कृत का ऐतिहासिक एवं संरचनात्मक परिचय, पृ० 157-58)।

सम्प्रसारण—अनेक नकारान्त, सकारान्त, वकारान्त एवं हकारान्त शब्दों में यणों य, व, र, ल, को असर्वनाम स्थान अजादि प्रत्ययों के योग में सम्प्रसारण **इ, उ, ऋ, लृ** हो जाता है यथा—**युवन्>यूनः, यूना, यूने, यूनः, यूनाम्, यूनि, मघवन्> मघोनः, मघोना, विद्वस्>विदुषः, विश्ववाह्>विश्वोहः, विश्वौहा, सुदिव्> सुद्युभ्याम्, सुद्युभिः** आदि।

सर्वादेश—कुछ प्रातिपदिक ऐसे भी होते हैं, जिनमें कि विभक्त्यन्त रूपों की रचना के अवसर पर सम्पूर्ण प्रकृति के स्थान पर अन्य पद का आदेश हो जाता है। *इस प्रकार का सर्वादेश अजन्त तथा हलन्त दोनों ही प्रकार के शब्दमूलों को हो* जाया करता है। विवरण के लिए देखिए—संस्कृत का ऐतिहासिक एवं संरचनात्मक परिचय (पृ० 158-160)।

समस्त पदों में होने वाले रूप-स्वनिमिक परिवर्तन

किसी भाषा में रूप-स्वनिमिक परिवर्तनों का कौन सा रूप या रूपिम इन

परिवर्तनों को स्वीकार करेगा, इसका विश्लेषण भी रूप स्वनिमिकी का विषय है। परिवर्तन प्रथम या द्वितीय किसी भी रूपिम में हो सकता है, किन्तु यह निर्भर करता है भाषा विशेष पर तथा रूपिम विशेष की प्रकृति पर। संस्कृत के समस्त पदों में होने वाले ये परिवर्तन इसका बहुत अच्छा उदाहरण उपस्थित करते हैं, यथा राजपुत्र (राजा + पुत्र), युवजानि (युवा + जाया), चित्रगु (चित्रा + गो)।

समास योजना संस्कृत पदरचना का एक अभिन्न अंग रहा है। दो पदों का समास किये जाने पर उनमें जो रूप-स्वनिमिक परिवर्तन होते हैं उनका विस्तृत विवेचन इसके व्याकरण ग्रन्थों में किया गया है। हम यहाँ पर केवल कुछ ऐसे परिवर्तनों का ही उल्लेख करेंगे जो कि पद विशेष से सम्बद्ध न होकर पदों के वर्गों का प्रतिनिधित्व करते हैं।

1 ह्रस्वीकरण—अव्ययीभाव समास में सर्वत्र ही उत्तरपद के दीर्घस्वर का ह्रस्वीकरण हो जाता है, फलतः आ, ई, ऊ का अ, इ, उ तथा ए/ऐ का इ और ओ/औ का उ हो जाता है, यथा—निर्मक्षिकम् (<मक्षिका), उपनदि (<नदी), उपगुरु (<गुरु) चित्रगु (<गो)।

2 अकारीकरण—विभिन्न समासों में पदान्त इ या अ भी हो सकता है: प्रत्यक्षम् <अक्षि, द्व्यङ्गुलम् <अंगुलि, दीर्घसक्थम् <सक्थि, प्रियसखः <सखि। अव्ययीभाव में यह अकारीकरण विकल्प से होता है, यथा उपनदि/उपनदम् < नदी, उपगिरम् < गिरि।

3. पुंवद्भाव—स्त्रीलिंग विशेषण तथा विशेष्य का समास होने पर पूर्वपद में पुंवद्भाव हो जाता है, यथा कृष्णचतुर्दशी <कृष्णाचतुर्दशी, महती-प्रिया > महाप्रिया, ब्राह्मणीभार्या > ब्राह्मणभार्या, रूपवती भार्या यस्य सः > रूपवद्भार्यः।

सर्वादेश—समस्त पदों में सामान्य रूप से घटित होने वाले आंशिक लोप, आगम, विकार के अतिरिक्त कतिपय पदों में पूरी प्रकृति के स्थान पर ही आदेश हो जाया करता है, यथा—क्षीरोदम् < उदकम्, समानोदर्यः <समान, घटोघ्नी < ऊधस्, कदश्वः <कुत्सित, कापुरुषः <कुत्सित, कीदृशः <किम्, अहर्दिवम् <दिवा, द्वादश <द्वि, त्रयोदशः <त्रि, अष्टादश <अष्ट आदि।

कृत् प्रत्ययों के योग में होने वाले रूपस्वनिमिक परिवर्तन

कृत् प्रत्ययों के योग में होने वाले रूपस्वनिमिक परिवर्तनों के रूप निम्न प्रकार के होते हैं।

विकार—इनमें ध्वनि सम्बन्धी ये विकार मुख्यतः धातुमूल में घटित होते हैं जो कि गुण, वृद्धि तथा सम्प्रसारण के रूप में देखे जाते हैं। इन्हें निम्न उदाहरणों द्वारा स्पष्ट किया जा सकता है—

गुण—कृ + तव्य - कर्तव्य, चि + अ > चेर, भू + अ > भव।

वृद्धि—कृ+य>कार्य, नी+अक>नायक, पू+अकः>पावकः।

सम्प्रसारण—य→ई=यज्>इज्या, व→उ=वद्>उद्यम्।

आदेश—स्वरों तथा व्यजनों का प्रतिष्ठापन भी इसमे पाया जाता है—

ऋ→आव : लू+य>लाव्य, पू+य>पाव्य

ई→इय : प्री+अ>प्रिय

ऋ→अर् : कृ+अ>किर, गृ+अ>गिर

ऋ→इर् : कृ+आ>क्रिया,

हन् →घत् : हन्+त>घातक,

लोप—लोप स्वर तथा व्यंजन किसी का भी हो सकता है

अ—लोप : हन्→घ्न. "मारने वाला" यथा—शत्रुघ्नः

आ—लोप : ज्ञा→ज्ञ जानकार, दा→द 'देने वाला", यथा—अज्ञः, जलदः।

म्-लोप : गम्+त>गतः गया हुआ।

न्-लोप : हन्+त>हतः, जन्+त>जातः पैदा हुआ।

आगम—आगम भी स्वर-व्यजन किसी का भी हो सकता है

त्— : कृ+य>कृत्य, स्तु+य>स्तुत्य

य्— : दा+अक >दायकः, धा+अकः>धायक.

अभ्यास—कृत् प्रत्ययो के योग मे धातुमूलो का द्वित्वीकरण भी हो जाता है : √चर>चराचर, √पत्>पतापत।

सम्प्रसारण सहित द्वित्व—पू+अ>पोपूव, लू+अ>लोलुव

अल्पप्राणीकरण—धातुमूल की अन्तिम महाप्राण ध्वनि अल्पप्राण प्रत्यय के योग में अल्पप्राण हो जाती है, यथा लभ्+त>लब्ध, रुन्ध्+धः>रुन्द्धः।

तद्धित प्रत्ययों के योग में होने वाले रूप-स्वनिमात्मक परिवर्तन

तद्धित प्रत्ययो के योग मे होने वाले प्रातिपदिको के रूप स्वनिमात्मक परिवर्तन निम्न रूपो मे देखे जाते हैं —

1. आदि स्वर वृद्धि—इसके अन्तर्गत प्रातिपदिको के आद्यक्षर के स्वरो—अ, इ, उ, ऋ का क्रमश आ, ए, औ, आर् मे परिवर्तन हो जाता है जिसे व्याकरण की शब्दावली में "वृद्धि" भी कहा जाता है—

अ>आ . गर्ग+अ>गार्ग्य, दिति+अ>दैत्य, सिन्धु+अ>सैन्धव, उपगू+अ>औपगव, पृथ्वी+अ>पार्थिव।

किन्तु इष्ठ, इम् तथा इयस् प्रत्ययों के योग मे हलादि ऋ का र हो जाता है, यथा मृदु+इष्ठ>म्रदिष्ठः, मृदु+इम>म्रदिम, मृदु+इयस्>म्रदीयान्, पृथु+

इयस्>प्रेयान् आदि,

2 अन्तर्निवेश—इन तद्धित प्रत्ययों के योग में होने वाला अन्तर्निवेश दो रूपों में पाया जाता है—1. आदि में, 2. मध्य में।

आदि अन्तर्निवेश—यदि किसी प्रातिपदिक के आद्यक्षर में ऐसा व्यंजन संयोग हो जिसका कि द्वितीय घटकतत्व य या व हो तो उसमें तद्धित प्रत्ययों के योग में य से पूर्व में ऐ का तथा व से पूर्व में औ का अन्तर्निवेश हो जाता है। आदि अन्तर्निवेश केवल स्वरात्मक होता है, यथा व्याकरण+अ=वैयाकरण, स्वश्व+अ=सौवश्व।

मध्यान्तर्निवेश—आदि अन्तर्निवेश के समान ही अनेक तद्धित प्रत्ययों के योग में मध्य अन्तर्निवेश भी पाया जाता है। अन्तर्निविष्ट किया जाने वाला यह वर्ण स्वर भी हो सकता है और व्यंजन भी, यथा—तमस+रा>तमिस्रा (ई आगम), घात+ई>घातकी (क आगम), मनु+य>मनुष्य (ष् आगम), ऊर्ज+वल>ऊर्जस्वल (स् आगम)।

3 लोप—लोप कई रूपों में देखा जाता है[1]: 1. अन्त्य स्वर लोप, 2 अन्त्य व्यंजन लोप, 3 अन्त्य अक्षर लोप।

स्वर का लोप—तद्धित प्रत्ययों से पूर्व में प्रायः प्रातिपदिक शब्द के अन्तिम वर्ण अ, आ, इ, ई, उ, ऋ आदि का लोप हो जाता है, इनमें से प्रथम चार स्वरों का तो नित्य रूप से तथा अन्त्य दो का विकल्प से लोप होता है यथा—गर्ग+य>गार्ग्य, गंगा+अ>गांग दिति+य=दैत्य, पृथिवी+अ=पार्थिव, पाण्डु+य>पाण्डव, पर ऋ का कभी र् भी हो जाता है, यथा पितृ+यम्>पित्र्यम्, किन्तु उ का प्रायः गुण ओ हो जाता है, यथा—सिन्धु+अ>सैन्धव, उपगु+अ>औपगव।

व्यंजन लोप—अन्त्य स्वर लोप के समान ही अनेक तद्धित प्रत्ययों के योग में प्रातिपदिक के अन्त्य व्यंजन का भी लोप हो जाता है यथा—गार्ग्य+ईय>गार्गीय (य् लोप), आत्मन्+ईय>आत्मीय (न् लोप), उशनस्+अ>औशनस् (स् लोप), तूष्णीम्+क=तूष्णीक (म् लोप।)

अन्त्याक्षर लोप—संस्कृत में ऐसे अनेक तद्धित प्रत्यय हैं जिनके योग में पूर्व प्रातिपदिक के पूरे अन्तिम अक्षर का ही लोप हो जाता है। व्याकरणशास्त्र की पारिभाषिक शब्दावली में इसे कहीं "अक्षर" लोप के रूप में तथा कहीं टि संज्ञक लोप के रूप में प्रस्तुत किया जाता है। पर वर्णनात्मक भाषा शास्त्र की दृष्टि से

1. अन्त्य स्वर के सहित व्यंजन को 'टि' संज्ञा मानी गई है, अचोऽन्त्यादि टि (पा० 1.1.64)

इन सभी को अन्त्याक्षर लोप के अन्तर्गत रखा जा सकता है, यथा—विंशति > विंशः (ति लोप), हेमन्त > हेमनः (त लोप), स्थूल > स्थविष्ठः (ल लोप), टि लोप के उदाहरण—बहिस् > बाह्य (इस् लोप) सायं प्रातर् > सायंप्रातिक (अर् लोप), महात्मन् > माहात्म्यम् (अन् लोप), त्रिंशत् > त्रिंश (अत् लोप) आदि।

उपान्त्य लोप—अन्त्याक्षर लोप के समान ही कभी-कभी प्रातिपदिक के उपान्त्य स्वर वर्ण का लोप भी हो जाता है, यथा—तक्षन् > तक्ष्ण (अ लोप), ज्योतिस् > ज्योत्स्ना (इ लोप)।

4. आदेश—इन तद्धित प्रत्ययों के योग में होने वाला आदेश दो रूपों में देखा जाता है—आंशिक 2 पूर्ण। आंशिक आदेश में प्रातिपदिक के किसी वर्ण विशेष के स्थान पर कोई अन्य निर्धारित वर्ण हो जाता है, किन्तु पूर्ण आदेश में सम्पूर्ण प्रकृति के स्थान पर ही विहित आदेश हो जाता है।

आंशिक आदेश—आंशिक आदेश केवल प्रातिपदिक के अन्त्य वर्ण में ही पाया जाता है यथा—ऋ→र—पितृ+य=पित्र्यम्, ओ→अव्=गो+यम्= गव्यम्, औ→आव्—नौ+यम्=नाव्यम्।

पूर्णादेश—अनेक तद्धित प्रत्यय ऐसे हैं जिनके योग में कुछ निर्दिष्ट प्रातिपदिकों को सम्पूर्ण प्रकृति के स्थान पर विहित आदेश हो जाते हैं, यथा—नव→नू; नव+तन=नूतन, सर्व→स; सर्व+दा=सदा, प्रशस्य→श्र, श्र+इष्ठ=श्रेष्ठ, वृद्ध→ज्य+इष्ठ=ज्येष्ठ, युव→कन्+इष्ठ=कनिष्ठ, बहु→भूय+इष्ठ= भूयिष्ठ, छन्दस्→श्रोत्र, श्रोत्र+इय=श्रोत्रिय।

इस विषय में यह उल्लेखनीय है कि इस प्रकार का शाब्दिक आदेश विशेषकर- -इष्ठ और—इयस् प्रत्ययों के योग में एवं कुछ सर्वनाम शब्दों में भी किया गया है, यथा—युष्मद्→तावकीन, तवक, त्वत्क; अस्मद्→मामकीन, मामक, मत्क, किम् →कु~क=कुत्र, कुतः, कदा इत्यादि।

स्त्री प्रत्ययों के रूप में होने वाले रूप-स्वनिमिक परिवर्तन

अन्य प्रकार की प्रत्यय-योजना में होने वाले रूप स्वनिमिक परिवर्तनों के समान ही स्त्री प्रत्ययों के योग में भी पद की प्रकृति में लोप, आदेश, विकार आदि परिवर्तन घटित होते हैं।

लोप—स्त्री प्रत्ययों का योग होने पर प्रायः प्रातिपदिक के अन्त्य स्वर तथा उपान्त्य स्वर सहित अन्त्य व्यंजन का लोप हो जाता है।

अ-लोप—अज+आ=अजा, कुमार+ई=कुमारी

---

1. अन्त्य स्वर के सहित व्यंजन की 'टि' संज्ञा मानी गई है, अचोन्त्यादि टि (पा. 1. 1. 64.)

इ-लोप—पति+नी=पत्नी,

उ लोप—मनु+आवी=मनावी

अन् लोप—धीवन्+री=धीवरी

अक्षर लोप—य से अन्त होने वाले कई शब्दों में स्त्री प्रत्यय से पूर्व पूरे अक्षर का ही लोप हो जाता है।

सूर्य+ई=सूरी, गार्ग्य+ई=गार्गी, मत्स्य+ई=मत्सी

लोप-विकार—विशेष कर अक् प्रत्यय से अन्त होने वाले पदों के साथ स्त्री प्रत्ययों का योग होने पर अन्त्य स्वर के लोप के अतिरिक्त उपान्त्य स्वर अ को इ हो जाता है, घातक+आ=घातिका, वर्तक+आ=वर्तिका आदि।

वृद्धि—स्त्री प्रत्ययों का योग होने पर कतिपय शब्दों के आद्यक्षर के स्वर को वृद्धि सम्बन्धी विकार भी देखा जाता है।

मुखर+या=मौखर्या, कुमुदगन्धि+या=कौमुदगन्ध्या।

आदेश—स्त्री प्रत्ययों के योग में आदेश सम्बन्धी स्वरव्यंजनात्मक परिवर्तन केवल कुछ ही शब्दों में देखा जाता है, इसके अन्तर्गत प्रातिपदिक के अन्त्याक्षरीय त् के स्थान पर न् का आदेश हो जाता है, यथा—एता→एनी, श्येता→श्येनी, हरिता→हरिणी आदि।

आख्यात पद रचना में होने वाले रूप स्वनिमिक परिवर्तन

संस्कृत के धातुमूलों के साथ तिङन्त प्रत्ययों का योग अव्यवहित तथा व्यवहित दोनों ही रूपों में होता है, किन्तु साथ ही दोनों ही स्थितियों में यह शुद्ध भी हो सकता है तथा विकृत भी। स्वरस्वनिमिक परिवर्तनों का सम्बन्ध इनके अव्यवहित विकृत तथा व्यवहित विकृत प्रकार की रूप रचनाओं के साथ होता है। धातु मूलों में होने वाले इन विकारों के रूप इस प्रकार हैं—

अव्यवहित विकृत—ये विकार पृथक रूप में भी हो सकते हैं समवेत रूप में भी, यथा—द्वित्व>वृद्धि—पपाठ<√पठ्, जुहोति<हु+ति, जुजोष, पापच्यते,

गुण—वेत्ति<√विद्+ति, चुकोप<कुप्-

वृद्धि—यौति<यु+ति

ह्रस्वत्व—बिभीयात्<√भी-, ददाति<√दा-

दीर्घत्व—पूयात्>√पू-

यण्—यन्ति>√इ-

सम्प्रसारण—इयाज, इज्यात्<√यज्, उवाच<√वच्, सुष्वापयति<√स्वप्

स्वरलोप—रेढु<वह्, जिहीत<हा-, कुर्यात्<कृ-, बबृहे<बृह-

स्वरलोप—घ्नन्ति<हन्, जग्मतु<गम्।

व्यंजन परिवर्त—दोग्धा<दुह् + ता, भोत्स्यते<बुध्, धोक्ष्यति<दुह्, जघान<हन्, चकार जगाम।

उपजन—नङ्क्ष्यति<नश् ई + स्यति।

व्यवहित विकृत—इस वर्ग के अन्तर्गत आने वाले धातु मूलों से निम्न प्रकार के विकार पाये जाते हैं।

द्वित्व—सिषिधिव+सिध् + इ+व

गुण—भवति<भू+अ+ति

वृद्धि—अगादीत्<अ+गद्+इ+त्

दीर्घत्व—दीव्यति<दिव्+य+ति

आगम—मुञ्चति<मुच्+अ+ति, विन्दति, लुम्पति।

सम्प्रसारण—विध्यति<व्यध्+य+ति।

संस्कृत की आख्यात पद रचना में इसके अतिरिक्त अनेक प्रकार के विकरणों का भी योग होता है। इनके दो वर्ग हैं, 1 गणधीन विकरण तथा 2 लकाराधीन विकरण। इनके विवरण के लिए देखिए लेखक की कृति "संस्कृत का ऐतिहासिक एवं संरचनात्मक परिचय" (पृ० 196-201)।

बाह्यसन्धिगत रूप स्वनिमिक परिवर्तन

पद रचनाओं के स्तर पर पाये जाने वाले उपर्युक्त ध्वन्यात्मक परिवर्तनों के अतिरिक्त संस्कृत में वाग्व्यहार के स्तर पर भी अनेक प्रकार के ध्वन्यात्मक परिवर्तन पाये जाते हैं जो कि दो पदों की पूर्वापर सीमाओं पर घटित होते हैं। ध्वनियों के उच्चारणात्मक प्रभावों से उत्पन्न ये परिवर्तन कालान्तर में भाषा में स्थिर रूप को भी प्राप्त कर लेते हैं। संस्कृत के वैयाकरणों ने इस प्रकार के ध्वनि परिवर्तनों को 'सन्धि' के नाम से अभिहित किया है। प्राचीन शिक्षा ग्रन्थों तथा व्याकरण ग्रन्थों में इनका बड़ा सूक्ष्म एवं विस्तृत विवेचन किया गया है।

सन्धिगत परिवर्तन किसी पद के दो अंगों के वर्णों के बीच भी हो सकता है तथा दो पदों के बीच भी। इनमें प्रथम प्रकार को 'आन्तरिक सन्धि' तथा द्वितीय प्रकार को *'बाह्य सन्धि' कहा जाता है। आन्तरिक सन्धि के अनेक उदाहरण ऊपर* के नामपद रचना तथा आख्यात पदरचना सम्बन्धी रूप-स्वनिमिक परिवर्तनों में दिखाए जा चुके हैं, यथा—हरये (हरि+ए) भुवि (भू+इ), भवति (भू+अ +ति), प्रतिष्ठा (प्रति + स्था), प्रष्ठः (प्र + स्थ :) आदि।

बाह्य सन्धि के कई रूप होते हैं, जिन्हें उनके स्वरूप एवं प्रकृति के अनुसार भिन्न-भिन्न नामों से पुकारा जाता है। संस्कृत व्याकरणों में इन्हें अच् संधि, हल्

संधि, विसर्ग सन्धि आदि नामों से पुकारा जाता है। इस प्रकार के ध्वनि-परिवर्तन की कतिपय विशेषताएं ऐसी भी थीं जो कि केवल वैदिक संस्कृत में ही प्रचलित थीं, साहित्यिक संस्कृत में उनका विधान नहीं पाया जाता है। संस्कृत में संधि के फलस्वरूप मूलध्वनियों में होने वाले कतिपय परिवर्तन इन रूपों में देखे जाते हैं—

समीकरण—ये सन्ध्यात्मक विशेषताएं स्थान सम्बन्धी भी हो सकती हैं और प्रयत्न सम्बन्धी भी। स्थान सम्बन्धी विशेषताओं में सबसे अधिक महत्वपूर्ण तत्व है शब्दान्त की तथा शब्दादि की दो भिन्न भिन्न स्थानीय ध्वनियों का समीकरण। इसके प्रमुख रूप हैं तालव्यीकरण एवं मूर्धन्यीकरण। इसके अनुसार सामान्य रूप में किसी शब्द की अन्तिम दन्त्य ध्वनियां क्रमशः तालव्य या मूर्धन्य ध्वनियों में परिवर्तित हो जाती हैं यदि आने वाले शब्द की प्रारम्भिक ध्वनि तालव्य या मूर्धन्य हो, यथा—तत्+च=तच्च, रामस्+चलति=रामश्चलति, हरिस्+शेते= हरिश्शेते, जगत्+जननी=जगज्जननी, तत्+टीका=तट्टीका, प्रति+स्था =प्रतिष्ठा, तत्+शिव=तच्छिवः। इस प्रकार का समीकरण एक ही स्थान वाली भिन्न-भिन्न ध्वनियों में भी पाया जाता है, यथा—एतत्+मिलामि= एतन्मिलामि।

घोषीकरण—बाह्य सन्धिगत घोषीकरण के सम्बन्ध में पीछे (पृ॰ 170) बताया ही जा चुका है।

अघोषीकरण—इसी प्रकार शब्दान्त की घोष+शब्दादि की अघोष ध्वनि क्रम में अन्तिम घोष ध्वनि आने वाले शब्द की अघोष ध्वनि के अनुरूप बदल जाती है, यथा—विपद्+सु=विपत्सु, छिद्+ता=छेत्ता, ककुभ्+सु=ककुप्सु, उद्+स्थानम्=उत्थानम्।

अल्पप्राणीकरण—ऐसे ही पदों के महाप्राण+अल्पप्राण अनुक्रम में महाप्राण ध्वनि के स्थान पर अल्पप्राण ध्वनि हो जाती है इसके उदाहरण कृत् प्रत्ययों के योग में दिए जा चुके हैं।

अनुनासिकीकरण—पदान्त की अघोष+नासिक्य ध्वनि क्रम में अघोष ध्वनियां अपने वर्ग की नासिक्य ध्वनियों में परिवर्तित अथवा समीकृत हो जाती हैं। इनमें यदि आगे आने वाले शब्द की प्रारम्भिक नासिक्य ध्वनि म है और वह किसी प्रत्यय का अंग है तो यह नासिक्यीकरण नित्य रूप से होता है अन्यथा यह घोषीकरण के साथ विकल्प से होता, यथा तत्+मयम्=तन्मयम्, वाक्+मात्रम्=वाङ्मात्रम्, अप्+मयम्=अम्मयम्, अप्+मात्रम् अम्मात्रम्, वाक्+निनादः=वाङ्निनादः/वाग् निनादः, एतत्+मनुष्यः=एतन्मनुष्यः, एतद्मनुष्यः, षट्+मुखः=षण्मुखः, षड्मुखः, तत्+भाष=तन्नाप, तद्भाष

अंतःस्थीकरण—संस्कृत में प्रायः पदान्त में आने वाले म् का अनुस्वार हो जाता है। दो पदों के अनुक्रम में इस अनुस्वार का उच्चारण, अन्तःस्थों और ऊष्मों

को छोडकर अगने शब्द की प्रारम्भिक स्पर्श ध्वनि की स्थानीय नासिक्य ध्वनि के हो जाता है, यथा—त्वं करोषि = त्वङ्करोषि, अहं करोमि = अहङ्करोमि, शीघ्रं चलति = शीघ्रञ्चलति, पटं तनोति = पटन्तनोति, अहं पचामि = अहम्पचामि।

ऊष्मीकरण—संस्कृत मे पूर्व पद के अन्त मे आने वाले विसर्गों का उच्चारण अगले पद की प्रारम्भिक ध्वनि के अनुसार कई रूपो मे बदल जाता है। प्रायः क् प् से पूर्व मे होने पर इनका इनका उच्चारण स, यथा—नमस्करोति, बृहस्पति, च् छ् मे पूर्व मे श्, ट्, ठ् से पूर्व मे ष् तथा त्, थ् से पूर्व मे होने पर स हो जाता है। क्, ख् एव प्, फ् से पूर्व इनका उच्चारण जिह्वामूलीय एव उपध्मानीय भी होता है यथा—क≍करोति, क≍पचति (दे० व्यजन ध्वनिया)।

रेफीकरण—किन्तु यदि पदान्त विसर्गों स पूर्व मे अ, आ के अतिरिक्त कोई अन्य स्वर हो तथा आने वाले शब्द की आदि ध्वनि कोई स्वर, घोष व्यजन, नासिक्य व्यजन, अन्तस्थ या ह् हो तो इसका उच्चारण र के समान होता है, यथा—गौः + अयम् = गौरयम्, साधुः + गच्छति = साधुर्गच्छति, भानुः = याति = भानुर्याति। किन्तु इन्ही अवस्थितियो मे यदि विसर्गों से पूर्व मे अ हो और बाद मे भी अ स्वर हो तो इनका ओ हो जाता है और यदि कोई अन्य स्वर हो तो इनका उच्चारण नही होता है यथा—पुरुषः + अस्ति => पुरुषोऽस्ति, देवः + गच्छति, > देवो गच्छति, कृष्ण + वदति > कृष्णो वदति, देवः + हसति > देवो हसतिः।

माग . चार

रूप-रचना

रूपिम प्रक्रिया

रूपिम विज्ञान : एक परिचय—पाश्चात्य भाषाशास्त्रीय विश्लेषणो के क्षेत्र मे रूपग्रामिक विश्लेषण (Morphemics) एक आधुनिकतम विकास है, किन्तु भारतवर्ष में इस शाखा का पूर्ण विकास अति प्राचीन काल में ही हो चुका था। महर्षि पाणिनि की अष्टाध्यायी इसका एक जीवन्त प्रमाण है। इसके अन्तर्गत भाषा विशेष के रूपों अथवा पदों का वैज्ञानिक ढंग मे अध्ययन एव विश्लेषण किया जाता है। ध्वनिविज्ञान के क्षेत्र मे जिस प्रकार अध्ययन तथा विश्लेषण का क्षेत्र स्वन, स्वनिम तथा संस्वन होता है उसी प्रकार रूप विज्ञान में रूप, रूपिम तथा संरूपों की स्थिति होती है। 'रूपिम' (Morpheme) शब्द की रचना 'स्वनिम' शब्द के साम्य पर ही की गयी है। रूपग्राम-विज्ञान (Morphemics) के अन्तर्गत जिन भाषिक तत्त्वों का अध्ययन किया जाताहै वे हैं—1. रूप (Morph), 2. रूपिम (Morpheme) तथा 3. सरूप (allomorph)।

क्योंकि इन तीनों ही तत्त्वो के विश्लेषण एव अध्ययन का आधार भाषा की वह इकाई है जिसे 'रूप' (morph) या पद कहा जाता है अतः इनका विवेचन करने से पूर्व पद अथवा रूप के स्वरूप को समझ लेना भी आवश्यक है।

रूप/पद—जिस प्रकार केवल क्, ष्, ट्, त्, प् आदि ध्वनियों के संयोग मात्र से किसी सार्थक इकाई (शब्द) की रचना नहीं हो जाती उसी प्रकार केवल शब्दों के सकलन मात्र से भाषा की अर्थवान् इकाई वाक्य की रचना नहीं होती। इस सम्बन्ध में यहां पर यह भी समझ लेना आवश्यक है कि भाषाशास्त्रीय परिवेश में शब्द तथा पद/रूप एक ही तत्त्व नहीं। शब्द एक इकाई है जो कि किसी प्रकार के सम्बन्ध तथा विभक्ति प्रयत्न आदि से रहित होता है। वाक्य में मात्र इसका प्रयोग नहीं किया जा सकता है। संस्कृत के वैयाकरणों की परिभाषा में इसे 'प्रातिपदिक' अथवा मूल शब्द कहा जाता है। वाक्य में प्रयोग की योग्यता प्राप्त करने के लिए इसे पद की योग्यता प्राप्त करना आवश्यक होता है। संस्कृत वैयाकरणों ने तो विधान ही किया है—अपद न प्रयुञ्जीत अर्थात् जो प्रातिपदिक पदत्व को प्राप्त नहीं हुआ है उसका वाक्य में प्रयोग नहीं किया जाना चाहिए। किसी प्रातिपदिक को पदत्व की प्राप्ति कराने के लिए उसके साथ सुबन्त प्रत्ययों (संज्ञा, विशेषण तथा सर्वनाम बोधक शब्दों के साथ) तथा तिङन्त प्रत्ययों (क्रियाबोधक शब्दों के साथ) का योग आवश्यक होता है। इन्हीं प्रत्ययों के आधार पर किसी वाक्य के अंगभूत पदों (रूपों) के पारस्परिक सम्बन्धों का ज्ञान होता है। इसलिए इन्हें 'सम्बन्ध तत्त्व' कहा जाता है तथा इन्हीं के योग से शब्द रूपत्व को प्राप्त करता है, इसलिए इन्हें 'रूपतत्त्व' भी कहा जाता है। विभक्ति प्रधान भाषाओं में इस सम्बन्ध तत्त्व या रूपतत्त्व को स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है। जैसे संस्कृत का यह वाक्य है—बालकः अश्वं पश्यति 'बालक घोड़े को देखता है'? इसमें बालक, अश्व, पश्य मूल शब्द हैं। इनका इसी रूप में न तो वाक्य में प्रयोग किया जा सकता है और न प्रयुक्त होने पर किसी अर्थ का बोध करा सकते हैं। वाक्य में इनके प्रयोग तथा सम्बन्ध बोध के लिए इनके साथ विभक्ति प्रत्ययों का योग आवश्यक होता है। उपर्युक्त वाक्य में ही 'बालक' एक अर्थ बोधक इकाई तो है किन्तु वाक्य में प्रयुक्त अन्य पदों के साथ उसका क्या सम्बन्ध है इसका ज्ञान उसके साथ लगे हुए विभक्ति प्रत्यय 'सु' (विसर्ग) से ही हो सकता है। यहां पर विसर्गों की स्थिति यह बतलाती है कि यह अर्थवान् तत्त्व इसमें कर्ता है तथा एक है। इसी प्रकार 'अश्व' के साथ 'अम्' की स्थिति उसके कर्मत्व एवं एकत्व का बोध कराती है व 'पश्यति' में 'ति' की स्थिति उस क्रिया की वर्तमान काल में, अन्य पुरुषीय एक व्यक्ति के द्वारा किये जाने की स्थिति को दर्शाती है। हिन्दी में भी यद्यपि बालक के साथ किसी विभक्ति चिह्न का योग दिखाई नहीं देता, पर वाक्य में उसकी स्थिति उसके कर्तृत्व का, तथा घोड़े के साथ उसकी विकृति ए एवं को उसके कर्मत्व का तथा देख के साथ ता एवं 'है' की स्थिति उसके वर्तमान काल, अन्य पुरुष एवं एकत्व का बोध कराती है। तथा ये सभी पद अपने-अपने रूप में इस प्रकार कर्ता, कर्म एवं क्रिया के सम्बन्ध को व्यक्त करते हैं। इस प्रकार कहा जा सकता है कि ध्वनियों का

एक विशिष्ट आकारवान् तथा विशिष्ट अर्थवान् ध्वनि समूह ही रूप है। रूपग्राम या रुपिम रूप या पद के सम्बन्ध में उपर्युक्त संक्षिप्त परिचय प्राप्त कर लेने के उपरान्त अब हम रूपग्राम के स्वरूप को समझने का यत्न करेंगे। भाषा विज्ञान के क्षेत्र में कार्य करने वाले सभी विद्वानों ने रुपिम के स्वरूप को स्पष्ट करने का यत्न किया है, यद्यपि उनकी परिभाषाओं में वही विविधता पायी जाती है जो कि हम स्वनिम के सम्बन्ध में देख चुके हैं। इनमें से कुछ विद्वानों के द्वारा दी गयी परिभाषाओं को देखा जा सकता है। प्रसिद्ध अमेरिकन भाषा शास्त्री लिओनार्ड ब्लूम फील्ड लिखते हैं—

'A linguistic form which bears no partial phonetic semantic resemblance to any other form in the language is morpheme.' अर्थात् रुपिम या पदग्राम वह भाषायी रूप है जिसका भाषा विशेष के किसी अन्य रूप से किसी प्रकार का ध्वन्यात्मक तथा अर्थगत सादृश्य नहीं होता है।'

ग्लीसन इसे 'भाषायी' संरचना की न्यूनतम अर्थवान् इकाई मानता है। (smallest meaningful unit in the structure of a language)। लगभग इसी से मिलती जुलती परिभाषा दी है हॉकेट ने भी 'Morphemes are the smallest individually meaningful elements in the utterance of a language'. इसी का स्पष्टीकरण पाया जाता है ब्लाख तथा ट्रेगर में भी। इनके अनुसार रूपग्राम भाषा की वह न्यूनतम अर्थवान् इकाई है जिसे कि पुनः अर्थवान् इकाई में खण्डित नहीं किया जा सकता है। यह इकाई मुक्त भी हो सकती है और आबद्ध भी (Any form whether 'free' or 'bound' which can not be divided into smaller meaningful parts is a morpheme)।

इन सभी परिभाषाओं पर विचार करने पर रूपग्राम के स्वरूप के सम्बन्ध में जो बात स्पष्ट होती है वह यह है कि यह भाषा की वह लघुतम इकाई है जो कि अर्थवान् होती है तथा जिसका पुनः किन्हीं अर्थवान् इकाइयों में विभाजन नहीं किया जा सकता है। यथा—बालक पुस्तक पढ़ता है। इसमें 'बालक' 'पुस्तक' ऐसे रुपिम हैं जो अर्थवान् भी हैं तथा जिनका आगे विभाजन भी नहीं किया जा सकता है। किन्तु संस्कृत में बालकः तथा पुस्तकम् का विभाजन प्रकृति तथा प्रत्यय के रूप में हो सकता है। किन्तु 'पढ़ता है' का विभाजन 'पढ़+ता+है' के रूप में हो सकता है तथा ये तीनों ही खण्ड किसी न किसी अर्थ का द्योतन भी करते हैं। अर्थात् 'पढ़' से 'पठन-क्रिया' का, 'ता' से अन्य पुरुष एक वचन का, तथा 'है' से अन्य पुरुष एक वचन एवं वर्तमान काल का बोध होता है। अतः पद की दृष्टि से 'पढ़ता है' भले ही एक पद माना जाए पर रुपिम की दृष्टि से इसमें तीन रुपिम हैं, क्योंकि ये तीनों ही लघुतम इकाई होने पर भी सार्थक है, जबकि बा+ल+क अथवा पुस्+त+क की ऐसी स्थिति नहीं है। अतः रुपिम केवल धातु या प्रातिपदिक ही नहीं, अपितु वे

सभी तत्त्व हैं जो कि उनको पदत्व का पद दिलाने तथा प्रयोगयोग्य बनाने में योगदान करते हैं।

पद तथा पदग्राम के स्वरूप को एक अन्य उदाहरण में इस प्रकार स्पष्ट किया जा सकता है। एक वाक्य है—'अध्यापक ने बालक को छड़ी से पीटा' अथवा अध्यापकः छात्रं दण्डेन अताडयत्। इस वाक्य में पद विभाजन की दृष्टि से केवल चार पद है। 1. अध्यापक ने, 2. बालक को, 3. छड़ी से, 4 पीटा, किन्तु रूपग्राम की दृष्टि से इनकी संख्या आठ है अर्थात् (1) अध्यापक, (2) ने, (3) बालक, (4) को, (5) छड़ी, (6) से, (7) पीट्, (8) आ। इनमें से प्रत्येक का अपना अर्थ है तथा इसमें आगे इनका सार्थक इकाई के रूप में विभाजन भी नहीं हो सकता है। अन्तिम रूप ग्राम आ—का अर्थ है, भूतकाल, एक वचन। अतः ये सभी रूपग्राम की कोटि में आते हैं।

रूपिमों के भेद—रूपिमों का वर्गीकरण सामान्यतः उनकी रचना, प्रयोग, अर्थतत्त्व, सम्बन्धतत्त्व एवं खण्डीकरण आदि के आधार पर किया जाता है। इन्हें इस प्रकार दिखाया जा सकता है।

प्रयोग एवं रचना के आधार पर—प्रयोग एवं रचना के आधार पर इनके तीन भेद पाये जाते हैं—

1. **मुक्त रूपिम**—मुक्त रूपिम का प्रयोग सर्वथा स्वतन्त्र रूप में हुआ करता है। हिन्दी आदि भाषाओं में इसका शुद्ध रूप प्राप्त नहीं होता है। क्योंकि 'राम पुस्तक पढ़ता है' जैसे वाक्यों में यद्यपि राम, पुस्तक जैसे पद मुक्त रूपग्राम प्रतीत होते हैं, किन्तु इनमें भी शून्य प्रत्यय के रूप में कर्तृत्व एवं कर्मत्व का रूपिम विद्यमान रहता है। अतः इन्हें मुक्त रूपिम का आदर्श उदाहरण मानना सगत नहीं, संस्कृत में—'रामः पुस्तकं पठति' में यह स्पष्ट रूप से विद्यमान रहता है। इसका आदर्श उदाहरण है अंग्रेजी का विभक्ति प्रत्यय फ्रॉम (from), क्योंकि इसका प्रयोग कभी किसी अन्य रूपग्राम के साथ नहीं किया जा सकता है।

2. **बद्ध रूपिम**—जिन रूपिमों का प्रयोग सदा ही किसी अन्य रूपिम के साथ जोड़कर ही किया जा सकता है। उन्हें 'बद्ध' कहा जाता है। यह संयोग शब्द के आदि में भी हो सकता है और अन्त में भी। यथा—अज्ञान = अ + ज्ञान, अनायास = अन् + आयास, पराजय = परा + जय, सुन्दरता = सुन्दर + ता, शिशुत्व = शिशु + त्व, मानवता = मानव + ता। इन पदों में अ, अन्, परा, ता, त्व, ता आदि सार्थक इकाइयाँ तो हैं किन्तु इनका प्रयोग कभी भी स्वतन्त्र रूप में नहीं किया जा सकता है। इन्हें सदा ही किसी अन्य रूपिम के साथ बांध कर प्रयोग में लाया जाता है। अतः ये बद्ध रूपिम कहलाते हैं। इसी प्रकार 'लड़के' लड़का + ए का बहुवचन सूचक ए' अथवा देखा - देख् + आ का भूतकाल, एकवचन सूचक आ आदि भी आबद्ध रूपिमों की कोटि में आते हैं। अरबी, मुण्डा आदि कुछ भाषाओं में इनकी स्थिति

मुक्त रूपिम के मध्य मे भी पायी जाती है, क्-त्-ल्>का-ति-ल, मं-शि>म-प-शि आदि ।

3. मुक्त-बद्ध-रूपिम—इस वर्ग के अन्तर्गत उन रूपिमो का परिगणन होता है जिनका कि प्रयोग स्वतन्त्र एव आबद्ध दोनों ही रूपों मे किया जा सकता है। ये *प्राय: सामासिक रूपो में पाये जाते हैं, यथा चन्द्रकला, विश्वव्यापी।* इनमे से प्रत्येक रूप का स्वतन्त्र रूप मे भी प्रयोग हो सकता है तथा इन प्रयोगों मे वे एक दूसरे के साथ आबद्ध भी होते है। इन्हे मिश्रित रूपिम भी कहा जा सकता है। इस कोटि के रूपिमों की स्थिति मुक्त + मुक्त की भी हो सकती है जैसे कि ऊपर के उदाहरणो में दिखाया गया है तथा बद्ध + बद्ध की भी, यथा—'तारतम्य' में। यद्यपि तारतम्य का संयुक्त प्रयोग तो होता है किन्तु 'तार' तथा 'तम्य' दोनों का पृथक्-पृथक् स्वतन्त्र प्रयोग नहीं हो सकता है। यही स्थिति अंग्रेजी के (de-ceive) मे भी देखी जाती है।

अर्थदर्शी रूपिम—*वाक्य मे प्रयुक्त किये जाने वाले पदों के अर्थतत्त्व का निर्देश* करने वाले रूपिमों को अर्थदर्शी रूपिम कहा जाता है। ये रूपिम ही किसी भी भाषा के आधारभूत तत्त्व हुआ करते हैं। प्राचीन भारतीय वैयाकरण इन्हे 'प्रातिपदिक' *तथा 'धातु' की संज्ञा से अभिहित करते हैं किन्तु आजकल की भाषा वैज्ञानिक* शब्दावली मे उन्हें 'प्रकृति' कहा जाता है। प्रत्येक भाषा के संज्ञा, सर्वनाम, विशेषण, क्रिया एवं क्रिया विशेषण, के सूचक रूप इसके अन्तर्गत परिगणित होते हैं। राम, सीता, दूध, फल, आदि संज्ञा बोधक रूप, साधु, असाधु, हरित, पीत आदि विशेषण बोधक रूप तथा√पा-,√दा-√लिख्, आदि क्रिया रूप सभी अर्थदर्शी रूपिम के उदाहरण हैं।

सम्बन्धदर्शी रूपिम—वाक्य में प्रयुक्त विभिन्न पदो के पारस्परिक सम्बन्धों को अभिव्यक्त करने वाले रूपिमों को सम्बन्धदर्शी रूपिम के नाम से अभिहित किया जाता है *भाषाशास्त्रियों ने इन्हे कई रूपों मे वर्गीकृत किया है जिनमे से प्रमुख* हैं—

1. **सामासिक**—जब दो या अधिक अर्थदर्शी रूपिम अपने विभक्ति प्रत्ययों का परित्याग कर एक नये पद की सरचना करते हैं तो वह पद एक समस्तपद हो जाता है किन्तु समस्त होने पर भी उन दोनो के बीच सम्बन्धदर्शी तत्त्व की अप्रत्यक्ष स्थिति पायी जाती है। यथा राजपुरुष, पर्वतशिखर आदि। राजपुरुष मे राजा के द्वारा नियोजित व्यक्ति के अर्थबोध के साथ रूपिमो के बीच के सम्बन्ध का भी व्यक्तीकरण होता है।

2. **स्वतन्त्र शब्द-रूप**—इनकी स्थिति मुख्यतः वियोगात्मक भाषाओं में पूर्वसर्गों तथा परसर्गों के रूप में पायी जाती है। हिन्दी के को, ने, से, का, में, पर आदि परसर्ग इसके आदर्श उदाहरण कहे जा सकते हैं। अंग्रेजी के पूर्वसर्ग to,

from, of आदि की गणना भी इसी कोटि में होती है।

3. संयोग—इन अर्थदर्शी रूपिमों की स्थिति किन्हीं अन्य अर्थदर्शी रूपिमों के साथ-साथ संयुक्त रूप में भी पायी जाती है। यह संयोग स्वतन्त्र अर्थदर्शी रूपिम के पूर्व भी हो सकता है तथा पश्चात् भी। पूर्वयोग (prefix)—यथा, दुर्जन (दुर्+जन), अनपढ़ (अन्+पढ़ा), परयोग—यथा, शिशुत्व (शिशु+त्व), मानवीय (मानव+ईय), लघुता (लघु+ता)।

4 आन्तरिक परिवर्तन—इनमें अर्थदर्शी रूपिमों के मध्य में किसी ध्वनि का प्रतिस्थापन करके उनके सम्बन्धी की अभिव्यक्ति की जाती है, जैसे पुत्र से पौत्र, सुहृद् से सौहार्द, मित्र से मैत्री आदि। अंग्रेजी के man>men, sing>sang, sung आदि भी इसी कोटि के रूपिमिक परिवर्तन हैं।

5. शून्य अथवा अभावरूप—लिंग, वचन, कालादि बोधक किसी रूपिम के संयोग के बिना ही मूल रूपिम का प्रयोग किया जाना, यथा हिन्दी के राजा, साधु, मुनि, √आ-, √जा-, √चल्-आदि निर्विभक्तिक रूप।

6 द्वित्व रूप—इसका अभिप्राय है मूल रूपिम की ध्वनियों का द्वित्व किया जाना। संस्कृत के क्रिया रूपों—स्मारम्-स्मारम्, ददर्श, पपाठ, आदि में इसकी स्थिति पायी जाती है। हिन्दी में प्राय. अनुकरणात्मक धातुमूलों में इस प्रवृत्ति को देखा जाता है यथा, खड़खड़, खटखट, टकटक, आदि।

इसके अतिरिक्त खण्डीकरण के आधार पर भी रूपिमों का वर्गीकरण किया जाता है। इसके दो भेद हैं—

1. खण्डात्मक रूपिम (Segmental Phonemes)—जिन रूपिमों का विभाजन सार्थक इकाइयों के रूप में किया जा सकता है वे खण्डात्मक रूपिम कहलाते हैं, जैसे देखा = देख् (क्रिया) + आ (भूतकाल, ए० व०), मनुष्यत्व = मनुष्य + त्व (भाव), सौन्दर्य = सुन्दर + य (भाव)।

2. अखिलखण्डात्मक या अखण्डात्मक रूपिम—जिन रूपिमों को पृथक्-पृथक् इकाइयों के रूप में विभक्त नहीं किया जा सकता है उन्हें अखण्डात्मक रूपिम कहा जाता है। इसके अन्तर्गत बलाघात, तान तथा सुरलहर जैसे भाषाई तत्त्वों का समावेश होता है।

संरूप—जब एक ही अर्थ की अभिव्यक्ति के लिए एक से अधिक रूपिमों का प्रयोग किया जाता है और उनका ध्वन्यात्मक परिवेश निश्चित होता है अर्थात् वे परस्पर परिपूरक वितरण में घटित होते हैं तो उन्हें रूपिम विशेष के संरूप कहा जाता है। उदाहरणार्थ, हिन्दी में कर्ता कारक के बहुवचनीय रूपों की रचना में ए, एं, याँ, ीं (वैकल्प अनुनासिक) तथा शून्य रूपिमों का प्रयोग किया जाता है। किन्तु एक ही अर्थ (बहुवचन) के बोधक होने पर भी ये भिन्न-भिन्न हैं तथा भिन्न-भिन्न ध्वन्यात्मक परिवेशों में प्रयुक्त होते हैं अर्थात् जिस परिवेश में एक का प्रयोग होता है उसमें

दूसरे का नही, यथा—

1 ए—पुंलिग आकारान्त शब्दों म, जैसे—लड़का से लड़के, घोड़ा से घोड़े, कपड़ा से कपड़े।

2. एं—इसका केवल मात्रिक रूप हलन्त स्त्रीलिंग शब्दों के साथ प्रयुक्त होता है, *यथा बहिन् > बहिनें, रात् > रातें तथा स्वतन्त्र रूप* आकारान्त, उकारान्त, ऊकारान्त तथा औकारान्त स्त्रीलिंग शब्दो के साथ प्रयुक्त होता है, जैसे माता > माताएं, शाखा > शाखाएं, कथा > कथाएं, धातु > धातुएं, वस्तु > वस्तुएं, बहू > बहुएं, गौ > गौएं आदि।

3 यां—इस संरूप का प्रयोग इकारान्त तथा ईकारान्त स्त्रीलिंग शब्दो के साथ *किया जाता है*—नीति > नीतियां, शक्ति > शक्तियां, नदी > नदियां, रानी > रानियां, रोटी > रोटियां आदि।

आं—केवल सानुनासिक आ स्वर का प्रयोग उन स्त्रीलिंगी रूपो के साथ किया जाता है जिनका मूल रूप या मे अन्त होता है, जैसे गुड़िया > गुड़ियां, डिबिया > डिबियां, *बुढ़िया > बुढ़ियां आदि।*

शून्य उपरूप का प्रयोग उपर्युक्त परिवेशों को छोड़कर अन्य सभी प्रकार के पुंलिग बोधक रूपिमो के साथ किया जाता है, यथा हलन्त पुंलिग—बाप्, काम्, घर्, गांव्, गण्, जन्, आदि आकारान्त—चाचा, दादा, मामा, इकारान्त—रवि, कवि, मुनि; ईकारान्त—तेली, माली, भाई, हाथी, पक्षी, उकारान्त—साधु, गुरु, ऊकारान्त—डाकू, उल्लू लड्डू, भालू, एकारान्त—चौबे, दूबे, ओकारान्त—रासो, औकारान्त—जौ आदि।

उपर्युक्त सरूपावली मे से/ए/यां/एं/ को रूपिम तथा अन्यो को संरूप माना जा सकता है क्योंकि इनका प्रयोग क्षेत्र अन्यो का अपेक्षा अधिक विस्तृत है।

लगभग यही स्थिति अंग्रेजी मे भी बहुवचनीय रूपिमों के विषय मे देखी जाती है। वहा पर हमे इसके 6 सरूप (-s,-z,-iz-ren, en, θ) देखने को मिलते हैं, पर सभी का ध्वन्यात्मक परिवेश निश्चित होने मे ये सभी पूरक वितरण मे ही घटित होते हैं। अर्थात्— s सरूप का प्रयोग अघोष स्पर्शों के बाद (cat > cats, book > books), -z घोष ध्वनियो के बाद (dog > dogs, wood > woods, eye > eyes); संरूप—iz का ऊष्मो तथा स्पर्श-संघर्षी ध्वनियो के बाद (rose > roses, horse > horses); ren का केवल कुछ शब्दों के साथ (child > children, brother > brethren), -en का कुछ रूपिमों के साथ (ox > oxen, -θ (शून्य रूपिम) का प्रयोग भी रूपिमो की कुछ सीमित संख्या के साथ ही प्रयुक्त होता है। यथा, fish, sheep, deer आदि।

संस्कृत के कारकीय रूपों मे प्रत्येक विभक्ति के प्रत्येक वचन के प्रत्ययो के कई कई संरूप पाये जाते हैं, यथा तृतीया एक वचन - आ (महता = महत् + आ), -एन

(रामेण=राम+एन), -ना—(कविना=कवि+ना)। ऐसे ही ब. व में ऐस्>, ऐ, भिस् यथा, रामै : (राम+ऐस्), कविभि : (कवि+भिस्) आदि।

रूप (Morph)—अर्थ की दृष्टि से रूप तथा रूपिम में कोई अन्तर नहीं, दोनों ही भाषा की अविभाज्य अर्थवान् इकाइयाँ हैं। अन्तर केवल इनके स्तर का है अर्थात् रूपिम का सम्बंध भाषा की इस इकाई के ध्वनिमात्मक स्तर के साथ है तो रूप का इसके लेखिमात्मक स्तर से। ध्वन्यात्मक लिपि वाली भाषाओं में यह अन्तर बहुत कम पाया जाता है किन्तु अध्वन्यात्मक लिपि वाली भाषाओं में यह बहुत अधिक होता है, यथा अंग्रेजी में 'हाइ' का रूपिम होगा [hai] किन्तु रूप है high। इसी प्रकार higher में दोनों रूपिम होंगे [hai-ə:] किन्तु रूप होंगे high-er, हॉकिट ने यह पारिभाषिक विभेद भाषाओं के इन दोनों रूपों का विश्लेषण करने के लिए प्रारम्भ किया था। हिन्दी में तो यह विभेद बहुत कम पाया जाता है किन्तु अंग्रेजी, फ्रेंच, तिब्बती आदि भाषाओं में यह पदे-पदे पाया जाता है। उदाहरणार्थ तिब्बती में भूटानी के लिए जो शब्द है उसका रूप (लिपिमात्मक प्रतिनिधि तो है <हृदुद्-प> किन्तु रूपिम होगा /दुक्-पा/। ऐसे ही एक के वाचक शब्द का रूपिम तो है /चिक/ किन्तु रूप है <गृचिग्।

पद-रचना—संस्कृत की पद रचना प्रक्रिया पर विचार करने से पूर्व यहाँ पर प्राचीन भारतीय वैयाकरणों द्वारा निर्देशित उसके स्वरूप एवं उसके प्रकारों का संक्षिप्त परिचय दे देना असंगत न होगा।

पदों का वर्गीकरण—संस्कृत में पदों को भिन्न-भिन्न आधारों पर कई प्रकार का माना गया है।[1] किन्तु प्रस्तुत प्रकरण में हम यहाँ पर केवल वैयाकरणों के द्वारा प्रतिपादित पद-विभाग का ही उल्लेख करेंगे। वैयाकरणों के भी कई पक्ष हैं, इनमें से तीन प्रमुख हैं, जिन्हें कि द्विधापक्ष, चतुर्धापक्ष एवं पंचधापक्ष के रूप में प्रस्तुत किया जाता है। इनमें से पहला पक्ष केवल 'नाम' (substantive) और 'आख्यात' (verb) को ही पद मानता है। अर्थात् जिन पदों से द्रव्य अथवा सत्व प्रतीति होती है वे 'नाम' पद कहलाते हैं तथा जिनसे भाव अर्थात् क्रिया की प्रतीति

1 अर्थ-बोधकता के आधार पर साहित्यिकों ने इसके तीन भेद—वाचक, लक्षक एवं व्यंजक माने हैं। तस्योऽपि वाचकलाक्षणिकव्यंजकास्त्रिधा (सा० द० 2 19)। इसी प्रकार व्युत्पत्ति के आधार पर इसके चार भेद—रूढ़, यौगिक, योगरूढ़ एवं यौगिक रूढ़ माने गए हैं, तथा च प्रवृत्ति निमित्तता के आधार पर भी इसके चार भेद—जाति, गुण, क्रिया, द्रव्य माने गए हैं। चतुष्टयी शब्दानां प्रवृत्तिः। जातिशब्दाः गुणशब्दाः क्रियाशब्दाः यदृच्छाशब्दाश्चतुर्थाः (महा० भा० 2, सा० द० परि० 2), इत्यादि।

होती है वे 'आख्यात' पद कहलाते हैं।[1]

दूसरा पक्ष चार प्रकार के पदों की स्थिति स्वीकार करता है, जिनके नाम हैं—नाम, आख्यात, उपसर्ग और निपात। प्रथम मत में उपसर्ग और निपातों का अन्तर्भाव नाम और आख्यात के अन्तर्गत ही कर लिया जाता है, किन्तु इस मत में इनकी पृथक् सत्ता स्वीकार की जाती है, क्योंकि अर्थ की दृष्टि से ये नाम और आख्यात दोनों में सर्वथा भिन्न अर्थ की प्रतीति कराते हैं, अर्थात् नाम और आख्यात दोनों ही वाचक हैं तथा उपसर्ग और निपात दोनों द्योतक हैं।[2]

पदों को चार भागों में विभक्त करने की परम्परा अति प्राचीन है। स्वयं महाभाष्यकार ने चार प्रकार के पद विभाग—नाम, आख्यात, उपसर्ग और निपात को स्वीकार किया है।[3] यही पद-विभाग सबसे अधिक मान्य एवं प्रचलित है। इसके अतिरिक्त एक मत और भी है जो इन उपर्युक्त चार प्रकार के पदों के अतिरिक्त कर्म प्रवचनीयों को पृथक् रूप से एक पद विभाग स्वीकार करता है। इसके अनुसार कर्म-प्रवचनीय उपसर्गों के समान साक्षात् रूप से किसी क्रिया की *विशेषता का द्योतन नहीं करते, अपितु ये तो क्रिया के साथ किसी कर्तृ भिन्न संज्ञा* या सर्वनाम का सम्बन्ध व्यक्त करते हैं। अतः ये उपसर्गों से भिन्न हैं।[4] किन्तु चार प्रकार का पद विभाग करने वाले आचार्य कर्मप्रवचनीयों को उपसर्गों के अन्तर्गत ही मानते हैं।

रूपरचना की दृष्टि से पद विभाग—वस्तुतः भाषाशास्त्र की दृष्टि से किया गया पद-विभाग ही किसी के भाषा-शास्त्रीय अध्ययन के लिए अभिप्रेत होता है।

---

1. भावप्रधानमाख्यातं सत्त्वप्रधानानि नामानि। निरुक्त 1. 1.
2. नह्येतौ साक्षादर्थंवदतः अपितुतद्गतिविशेषद्योतकाविति। वाचकाभ्यां नामाख्याताभ्यां प्रविभक्तौ। हेलाराज, वाक्य० 3. 1. 1.
3. तान्येतानि चत्वारि पदजातानि नामाख्याते चोपसर्ग नि॰ ।ताश्च। तानीमानि भवन्ति। निरुक्त 1. 1. 1.
   नामाख्याते चोपसर्ग निपाताश्चेति वैयाकरणाः। निरुक्त, 18. 1. 1.
   चतुर्णां पदजातानां नामाख्यातोपसर्ग निपातानां सन्त्यपद्यो गुणो प्रातिज्ञम्। अथर्व. प्राति॰ 1 1. 1.
   चत्वारि शृंगा-चत्वारि पदजातानि नामाख्यातोपसर्गनिपाताश्च। महा॰ *1. 1. 1.*
4. साक्षात् क्रियाविशेषप्रकाशनाभावात्तदपि पंचमम्। हेला. वाक्य॰ 3. 1. 1.
   और भी—महाभाष्यकार के अनुसार उपसर्ग क्रिया के विशेषक माने गए हैं, यथा—क्रियाविशेषक उपसर्गः। पचतीति क्रिया गम्यते, तां प्रो विशिनष्टि। महा॰ 1. 3. 1.

इस दृष्टि से संस्कृत के पदों को दो भागों में विभक्त किया जाता है। (1) सुबन्त, (2) तिङन्त। आचार्य पाणिनि ने अपने भाषा-शास्त्रीय विवेचन में इन्हीं दो विभागों को स्वीकार किया है।[1] दूसरे शब्दों में ये नाम (सुबन्त) और आख्यात (तिङन्त) के ही पर्यायवाची हैं। आचार्य पाणिनि ने उपसर्गों को इसलिए पद नहीं माना कि रूपरचना में इनका स्वतन्त्र-रूप में प्रयोग नहीं होता है, क्योंकि ये सदा ही नाम और आख्यातों के साथ प्रयुक्त होते हैं। इसी प्रकार उन्होंने निपातों (अव्ययों) की गणना सुबन्तों में कर डाली है। यद्यपि इनमें सुप् विभक्तियों का प्रयोग नहीं होता, फिर भी 'अपदं न प्रयुञ्जीत' 'जो पद नहीं उसका प्रयोग भाषा में नहीं करना चाहिए' के व्याकरण सम्मत विधान का निर्वाह करने के लिए उन्होंने निपातों में भी सुप् विभक्ति का विधान करके उसका लोप कर दिया है।[2]

संस्कृत पदरचना के घटक तत्व—संस्कृत की पदरचना के मुख्य घटक तत्व हैं प्रकृति और प्रत्यय।

प्रकृति—यद्यपि आधुनिक पाश्चात्य भाषाशास्त्र की पारिभाषिक शब्दावली में पद रचना के घटकों "प्रकृति" के लिए केवल एक ही पारिभाषिक शब्द "मूल" (root) का प्रयोग किया जाता है, किन्तु संस्कृत वैयाकरणों ने भिन्न-भिन्न सदर्भों में इसके लिए भिन्न शब्दावली का प्रयोग किया है, अर्थात् सुप् तथा तद्धित के अन्तर्गत परिगणित एक विशेष प्रकार के रूपिमों से पूर्व में प्रयुक्त होने वाली मूल प्रकृति को प्रातिपदिक (stem) तथा तिङ् एवं कृत् के अन्तर्गत परिगणित रूपिमों से पूर्व में प्रयुक्त होने वाली प्रकृति को धातु (root) के नाम से अभिहित किया है। इन दोनों ही मूल प्रकृतियों—प्रातिपदिक एवं धातु—के अनन्तर पदसंघटनाकारी रूपिमों को 'प्रत्यय' (suffixes) के नाम से अभिहित किया जाता है।

प्रत्यय—प्रत्ययों को दो वर्गों में विभक्त किया गया है। निष्पादक प्रत्यय (stem forming suffixes) तथा रूप रचनात्मक प्रत्यय (inflexional suffixes)। संस्कृत में निष्पादक प्रत्ययों के दो वर्ग हैं जिनमें से एक को 'कृत्' (Primary) तथा दूसरे को 'तद्धित' (secondary) कहा जाता है। इनमें से 'कृत्' प्रत्ययों का प्रयोग धातु मूलों से शब्दमूलों के व्युत्पादन के लिए, यथा वच्+अस्> वचस् तथा तद्धित प्रत्ययों का योग प्रातिपदिक मूलों से शब्दमूलों के व्युत्पादन के लिए किया जाता है, यथा वाक् (—च्)+इक<वाचिक।

इसी प्रकार रूप रचनात्मक प्रत्ययों के भी दो वर्ग हैं, (1) सुबन्त, जिनका प्रयोग सदा शब्द रूपों की रचना के लिए किया जाता है, (2) तिङन्त जिनका प्रयोग धातुरूपों की रचना के लिए किया जाता है। इन प्रत्ययों की उत्पत्ति तथा

1. सुप्तिङन्तं पदम्। पा. 1. 4. 14.
2. अव्ययादाप्सुपः। पा. 2. 8. 83.

विकास का इतिहास अत्यन्त धूमिल है। इस ग्रन्थ का लक्ष्य संस्कृत के ऐतिहासिक पक्ष का विश्लेषण न होने से हम भी इसका यहां विवेचन नहीं कर सकेंगे। इसके लिए देखिए लेखक का ग्रन्थ 'संस्कृत का ऐतिहासिक एवं संरचनात्मक परिचय' (पृ० 94-98 आदि)।

इस प्रकार हम देखते हैं कि संस्कृत पदरचना के अनुसार प्रत्येक व्युत्पन्न पद में उसकी 'प्रकृति' के साथ उपर्युक्त प्रत्ययात्मक रूपिमों में से किसी एक या अधिक का होना आवश्यक होता है अर्थात् संस्कृत के प्रत्येक पद का प्रथम तत्त्व प्रकृति (प्रातिपदिक या धातु) होता है तथा दूसरा प्रत्यय (सुप्, तद्धित, तिङ्, कृत्)। उदाहरणार्थ, आचार्य पाणिनि के अनुसार रामः पद में रम्- प्रकृति अर्थात् अर्थवत् प्रातिपदिक है और विसर्ग (स्) प्रत्यय एकत्व तथा कर्तृत्व का बोधक अर्थवत् तत्व है। इसी प्रकार रामौ में औ प्रत्यय द्वित्व और कर्तृत्व का बोधक अर्थवत् तत्व है। ऐसे ही पचति 'पकाता है' पद में पच् प्रकृति (धातु) अ- योजक विकरण तथा -ति प्रत्यय (अन्य पुरुषतत्व, एकत्व एव क्रियात्व का बोधक अर्थवत् तत्व) है।

प्राचीन भारतीय वैयाकरणों ने धातुमूलों (roots) को ही संस्कृत पद रचना का मेरुदण्ड माना है। उनके अनुसार प्रत्येक पद के मूल में कोई न कोई धातु मूल अवश्य ही रहता है। किन्तु आधुनिक भाषा-विज्ञानी सर्वत्र ही इस प्रकार की स्थिति को मानने के पक्ष में नहीं हैं। स्वयं संस्कृत में ही पद् 'पैर', मह् 'महान्' जैसे प्रातिपदिक रूप हैं किन्हें किसी धातु मूल से व्युत्पन्न नहीं माना जा सकता। डॉ० घोष का विचार है कि ये मूल हमें उस मूल भारोपीय काल से प्राप्त हुए हैं जब कि भाषा में अभी संज्ञा, क्रिया, विशेषण आदि जैसी व्याकरणिक कोटियां स्पष्ट एवं पृथक् रूप से विकसित नहीं हो पायी थी (दे० घोष पृ० 91-92)। इसका सबसे अधिक पुष्ट प्रमाण यह है कि सभी भारोपीय भाषाओं में सभी कोटियों (क्रिया, संज्ञा, विशेषण आदि) के शब्द एक ही धातु मूल से व्युत्पन्न हो सकते थे। उदाहरणार्थ, द्विष्—'घृणा' 'शत्रु', द्वेषस् (अर्थ वही) को लिया जा सकता है। इसमें नपुंसक संज्ञात्मक प्रत्यय अस् वाले रूप में तथा मूल रूप में अर्थतः कोई भी मौलिक अन्तर नहीं है। वस्तुतः मूल रूप किसी निश्चित व्याकरणात्मक अर्थ का बोध न करा कर एक सामान्य भाव का बोध कराते थे। इन्हीं विकरण विहीन (athematic) *रूपों से ही विभिन्न प्रत्ययों एवं विकरणों के योग से किसी भी भाव का बोधन* कराया जाता था। संस्कृत में भी, जैसा कि हम ऊपर बता चुके हैं, इन्हीं मूल प्रकृतियों में कृत् या तद्धित प्रत्ययों तथा सुप् एवं तिङ् विभक्ति प्रत्ययों के योग में पद-रचना की जाती है।

नामपद-रचना—संरचनात्मक दृष्टि से संस्कृत की सम्पूर्ण नामपद-रचना प्रक्रिया को दो भागों में विभक्त किया जा सकता है। (1) असमस्त नामपद-रचना, (2) समस्त नामपद-रचना। प्रस्तुत विश्लेषण में हम इस अध्याय में असमस्त

नामपद-रचना के विभिन्न रूपों पर विचार करेंगे तथा समस्त नामपद-रचना पर पृथक् रूप से अगले अध्याय में विचार करेंगे।

नामपद रचना के घटक तत्व—संस्कृत के नामपदों की रचना दो अर्थ तत्वों (रूपिमों) के योग से होती है जिन्हें संस्कृत व्याकरण की शब्दावली में प्रातिपदिक (प्रकृति,stem) तथा सुप् (प्रत्यय suffix) कहा जाता है। प्रातिपदिक भी दो प्रकार के माने गये हैं। (1) अव्युत्पन्न, (2) व्युत्पन्न। जिन प्रातिपदिकों में सरलतापूर्वक प्रकृति तथा प्रत्यय का विश्लेषण नहीं किया जा सकता, उन्हें अव्युत्पन्न प्रातिपदिक तथा जिनमें इनका विश्लेषण सरलता से दिखाया जा सकता है उन्हें व्युत्पन्न या धातुज कहा जाता है। निरुक्तकार यास्क तथा कुछ अन्य वैयाकरणों ने सभी प्रातिपदिकों को धातुज माना है।[1] किन्तु पाणिनि तथा पतञ्जलि के अनुसार यद्यपि अधिकतर नामपद धातु मूल से ही व्युत्पन्न होते हैं, किन्तु सभी के लिए ऐसा सामान्य विधान नहीं किया जा सकता। इसीलिए उन्होंने व्युत्पन्न तथा अव्युत्पन्न नामों की प्रातिपदिक संज्ञा के विधान के लिए दो पृथक्-पृथक् सूत्रों की रचना की है।[2]

किन्तु आधुनिक भाषा वैज्ञानिक इन प्रातिपदिकों (धातुओं का भी) अथवा मूल रूपों का जिन दो रूपों में विभाजन करते हैं, वे हैं, सविकरण (thematic) तथा अविकरण (athematic) अर्थात् जिनमें पद-रचना के लिए सुप्, तिङ्, कृत्, तद्धित आदि प्रत्ययों से पूर्व कोई अन्तःप्रत्यय (infix) या विकरण लगता है, वे सविकरण कहलाते हैं तथा जिनमें कोई विकरण नहीं लगता वे अविकरण कहलाते हैं। विकरणहीन प्रातिपदिकों के रूप संस्कृत तथा अन्य भारोपीय भाषाओं में पर्याप्त संख्या में पाये जाते हैं। उदाहरणार्थ, द्यौः (आकाश), क्षा (पृथ्वी), गौः (गाय), भ्रू (भौंह) आदि शब्दों के मूल प्रातिपदिकों में द्यौ, क्षा, गौ, भ्रू, तथा सुप् प्रत्यय सु (विसर्ग) के बीच कोई विकरण नहीं पाया जाता है। ये चारों ही शब्द भारोपीय मूल के माने गये हैं। इसी प्रकार राज् एवं विश् से निष्पन्न राट्~ड्, विट्~ड् (प्र०, ए० व०) रूपों में भी किसी प्रकार का विकरण नहीं देखा जाता। ऐसे विकरणविहीन मूल रूपों की रचना द्वित्वीकृत धातु मूलों से भी की जाती थी, यथा √हु—से जुहू (ज्वाला) एवं √वृह् से ववृह् (पक्ष)। इनके अतिरिक्त इ, उ, एवं ऋ से अन्त होने वाले इन मूल रूपों में (द्वित्वीकृत अथवा अद्वित्वीकृत दोनों में ही) एक विशेषता यह भी पायी जाती है कि उनमें एक त अवश्य ही जोड़ दिया जाता था। स्वयं पाणिनि का भी इस विशेषता की ओर ध्यान गया था। इसके

1. तत्र नामान्याख्यातजानीति शाकटायनो नैरुक्तसमयश्च। निरुक्त 1. 4. 13
2 1 अर्थवदधातुरप्रत्ययः प्रातिपदिकम्। पा 1. 2. 45.
2 कृत्तद्धितसमासाश्च, । पा 1. 2. 46.

अनुमार मित्, स्तुत्, कृत्, विद्युत् आदि का मूल रूप मि,-स्तु,-कृ,-द्यु—था (दे० घोष पृ० 93)।

सविकरण मूल रूपों मे अधिकतर विकरणस्वर अ- पाया जाता है। डॉ० घोष के अनुमार इस विकरण स्वर -अ-को किसी प्रकार भी प्रत्यय नही कहा जा सकता, क्योंकि एक प्रकार से इन सविकरण रूपों को भी अविकरण रूपो से ही विकसित माना जा सकता है। यद्यपि व्यावहारिक सुविधा के लिए इन्हें पृथक् कोटि मे रखा जा सकता है, पर भारोपीय भाषाओ मे स्पष्टत देखा जाता है कि उनकी सामान्य प्रवृत्ति मूलत अविकरण मूल रूपो का विकरणीकरण करने की रही है। फिर भी सामान्यत. यह विभेद मानने मे कोई कठिनाई नही कि विकरण-हीन मूल रूपों का सम्बन्ध मुख्य रूप से विकरणहीन धातु मूलो से तथा विकरण-युक्त मूलो का सम्बन्ध विकरण युक्त मूलों से होता है, यद्यति इनके कई अपवाद भी पाये जाते है।

इसके अतिरिक्त अनेक संस्कृत नाम रूपो मे वैकल्पिक रूप से विकरण युक्त तथा विकरणहीन दोनों ही रूपो की स्थिति इस बात की सकेतक है कि प्राचीनकाल मे शब्द रचना मे दोनो ही प्रकार के मूलों का प्रयोग किया जाता था, यथा—आशुः, अपाम्, पादम्, पदः, भ्रूः, भ्रुव., गो गाम्, गवाम्, श्वा, श्वानम्, शुन. इत्यादि। किन्तु अनेक रूपो मे ये लुप्त हो गये है, यथा—वाक्, वाचम्, वाचा इत्यादि। वस्तुत. सस्कृत मे अधिकतर नाम रूप ऐसे है जिनमें कि विकरण (infix) मूल रूपो मे ही सम्पृक्त रहता है।

व्युत्पादक प्रत्यय—सस्कृत मे व्युत्पन्न प्रातिपदिक तीन प्रकार के होते हैं—कृत् प्रत्ययान्त, तद्धित प्रत्ययान्त तथा समस्तपद। यद्यपि इनका प्रातिपदिक रूप कभी धातु रूप भी हो सकता है, यथा—द्विष् (द्विट्), द्रुह् (ध्रुक्) 'द्रोह करने वाला', भास् (भा) 'चमकने वाला', वच् (वाक्) 'जो बोली जाय', दृश् (दृक्) 'आख'='जिससे देखा जाय'। इनमे धातुरूप एव धातुनाम (कृदन्त रूप) दोनो ही एक रूप मे पाये जाते हैं। सस्कृत के वैयाकरणो ने ऐसे रूपो की सिद्धि के लिए प्रत्ययलोप (शून्य प्रत्यय) की कल्पना की है, किन्तु सामान्यतः इसकी निष्पत्ति धातु रूप के साथ किसी प्रत्यय के योग से होती है। ये प्रत्यय विविध प्रकार के है तथा इनमे से अनेकों का सम्बन्ध भारोपीय काल से है। ये स्वतन्त्र शब्दों के घिसे हुए अवशेप न होकर (यथा अंग्रेजी मैनली man-ly मे ली है) पृथक् घटक तत्व होते हैं। ये धातुमूल पर भी जोड़े जा सकते हैं तथा प्रत्यययुक्त प्रातिपदिक पर भी, यथा—वच्+अस्=वचस् 'वचन', स्रु+अस्<स्रोतस् 'स्रोत, धारा'। क्योकि भारो० काल से ही किसी प्रत्यययुक्त मूल मे पुनः प्रत्यय का योग हो सकता था, अतः विकास की दीर्घ परम्परा मे अनेक एकाधिक प्रत्यय समस्त होकर एकरूप हो गए। इसलिए परम्परागत सस्कृत व्याकरणो मे इन्हे एक पृथक् इकाई (unit) के रूप में स्वीकार किया गया है।

प्रो० टी० बरो का कथन है (पृ० 119-120) कि संस्कृत के लिए इसप्रकार का प्रत्ययविभाजन सुविधाजनक होने पर भी, भारोपीय के दृष्टिकोण में इसका कोई मौलिक या पुरातन महत्त्व नहीं है। *यह इसलिए कि प्राचीन शब्द रूपों में एक* ही प्रत्यय का दोनों रूपों में प्रयोग देखा जाता है। इसके अतिरिक्त जहां कहीं किसी प्रत्यय का प्रयोग केवल 'तद्धित' (Secondary) रूप में भी पाया जाता है *वहां ऐतिहासिक दृष्टि से यह उसकी बाद की विशिष्ट स्थिति का द्योतक होता है,* मूल स्थिति का नहीं।

संस्कृत में सामान्यतः वन्त् (यथा अश्ववन्त् <अश्व + वन्त्) तद्धित प्रत्यय है किन्तु अर्वन्त 'घोड़ा', यह्वन्त 'युवा' आदि उदाहरणों में यह 'कृत्' प्रत्यय है।

इसी प्रकार अनेक शब्द रूप जो कि संस्कृत व्याकरणों के अनुसार 'कृत्' प्रत्ययों से निष्पन्न होते हैं वे मूलतः तद्धित प्रत्ययों से निष्पन्न रूप हैं। उदाहरणार्थ, उद्र—'उद्बिलाव' जोकि संस्कृत के 'कृत्' प्रत्यय र (उद् + र्) से निष्पन्न होता है, वह मूलतः तद्धित मूल का है, जिसका अर्थ है 'जल सम्बन्धी, जलीय जीव' (तुल० ग्रीक—उडोर 'जल')। मूलतः सभी प्रकार के ऐसे सविकरण विशेषणात्मक रूप तद्धित हैं, किन्तु पुरातन नपुंसक भाववाचक संज्ञाओं (जिन पर कि ये आधारित थे) के प्रयोगबाह्य (obsolete) हो जाने से ये कृदन्त रूप हो गए। संस्कृत के नामपदों की रचना करने वाले कृदन्त एवं तद्धित प्रत्ययों का संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है।-

कृत् प्रत्ययों का पदरचनात्मक स्वरूप—शब्द रचना के आधारभूत एवं प्रमुख उत्पादक होने के कारण पहले हम 'कृत्' प्रत्ययों पर ही विचार करेंगे।

अर्थ की दृष्टि से 'कृत्' प्रत्ययों को दो भागों में विभक्त किया जाता है— (1) क्रियार्थक, (2) नामार्थक। क्रियार्थक प्रत्ययों का सम्बन्ध क्रियापद रचना के साथ होने के कारण इनका विवेचन क्रियापदों की रचना के प्रकरण में ही किया जाएगा। यहां पर केवल प्रसंगप्राप्त नामार्थक 'कृत्' प्रत्ययों का ही निरूपण किया जाएगा। संस्कृत के नामार्थक 'कृत्' प्रत्ययों का प्रयोग नाम शब्दों अर्थात् संज्ञा एवं विशेषण पदों की रचना के लिए किया जाता है। यद्यपि वर्तमानकालिक एवं भविष्यत्कालिक क्रियार्थक कृदन्तों का प्रयोग भी (प्रथमातिरिक्त विभक्तियों के योग में) विशेषणों की रचना के लिए होता है, किन्तु इनका सम्बन्ध क्रिया-रूपों से ही अधिक होने के कारण उसी प्रसंग में इनका विवेचन करना अधिक संगत होगा।

इन नामार्थक 'कृत्' प्रत्ययों के अनेक प्रकार के शब्दों की निष्पत्ति की जाती है। इनकी संख्या के विषय में कुछ वैयाकरणों में मतभेद पाया जाता है। इसका *कारण यह है कि कुछ वैयाकरण धातुओं को अनेकार्थक मानकर प्रत्येक नामपद को* धातुज (धातु + कृत् प्रत्यय) मानते हैं।[1] अतः उनके मत में 'कृत्' प्रत्ययों की

1. सर्वाणि नामानि आख्यातजानि। शाकटायन

सख्या भी असीम हैं, किन्तु आचार्य पाणिनि आदि की दृष्टि मे इनकी संख्या सीमित ही है। उन्होंने स्वय 55 के लगभग अनुबन्धरहित 'कृत्' प्रत्ययों का विधान किया है तथा इसके अतिरिक्त अव्युत्पन्न प्रातिपदिको की रूप सिद्धि के लिए **उणादयो बहुलम्** (पा० 3.3 1) के द्वारा कुछ अन्य प्रत्ययो को भी स्वीकृत किया है। इनमे अनेक प्रत्यय ऐसे भी होते हैं जिनका प्रयोग अनेक अर्थों का द्योतन करने के लिए किया जाता है—

प्रयोग एव अर्थ की दृष्टि से इन 'कृत्' प्रत्ययो का वर्गीकरण निम्न प्रमुख रूपो मे किया जा सकता है—

1 **कर्तृ पंक**—अर्थात् जिन कृदन्त प्रत्ययो से निष्पन्न होने वाली सज्ञा किसी कर्ता (agent) का बोध कराती हो, यथा—**कर्ता** (कृ+तृच्) 'करने वाला', **घातकः** (हन्+अक) 'मारने वाला', **नन्दनः** (नन्द्+अन्) 'आनन्दित करने वाला', **मंत्रिन्** (मंत्र+इन्) 'सलाह देने वाला' आदि।

2. **कर्मर्थक**—अर्थात् जहा कृदन्त प्रत्यय से निष्पन्न सज्ञा कर्म (object) का बोध कराती हो, यथा—**अज** (अ+जन्+शून्य) 'जो पैदा न हो', **कार्य** (कृ+य+णिच्) 'जो किया जाए', **वच्** (वच्+शून्य) 'जो बोली जाए', **अर्हत्** (अर्ह्+अत्) 'जो पूजा जाए', **भोजन** (भुज्+अन्) 'जो खाया जाए' इत्यादि।

3. **करणार्थक**—जो कृत् प्रत्यय करणार्थक सज्ञाओं की निष्पत्ति करते हो, यथा—**करण** (कृ+अन्) 'जिससे किया जाए', **भुजा** (भुज्+अ) जिससे खाया जाए', **दृक्~दृश्** (दृश्+शून्य) 'जिससे देखा जाए' =(आख), इत्यादि।

4. **सम्प्रदानार्थक**—सम्प्रदानार्थक 'कृत्' प्रत्ययों से निष्पन्न संज्ञाऍं सम्प्रदानार्थ, तादर्थ्य का बोध कराती है, यथा—**गोघ्नः** (गो+हन्+अ) 'जिसके लिए गौ (वाणी) का हनन (प्रयोग) किया जाए' अर्थात् 'अतिथि', **दानीय** (दा+अनीय) 'जिसके लिए दान देना उचित हो' इत्यादि।

5. **अपादानार्थक**—जिन प्रत्ययो से निष्पन्न संज्ञाओ से अपादान से सम्बद्ध अर्थो का बोध हो, यथा—**उपाध्याय**—(उप+अधि+इ+अ) 'जिससे विद्या प्राप्त की जाए', **पाप** (पत्+प) 'जिससे चरित्र का पतन हो'। सम्प्रदानार्थक प्रत्ययो के समान ही इनकी सख्या भी बहुत कम है।

6. **अधिकरणार्थक**—जिन कृत् प्रत्ययो से निष्पन्न सज्ञा शब्द अधिकरणार्थ को व्यक्त करते हैं, वे अधिकरणार्थक कहे जाते हैं, यथा—**रंग** (रंज्+अ) 'जिसमे रगा जाए', **आसन** (आस्+अन्) 'जिस पर बैठा जाए' इत्यादि।

7. **भावार्थक**—भावार्थक 'कृत्' प्रत्ययो से भावार्थक सज्ञाओं की निष्पत्ति होती है, यथा—**गति** (गम्+ति) 'जाना, चाल', **इच्छा** (इच्छ्+आ) 'इच्छा।

इन सामान्य कारकीय रूपो के अतिरिक्त कर्त्रर्थक सज्ञा से निम्नलिखित विशेष अर्थों का भी द्योतन होता है—

(1) तच्छील-तद्धर्म—किसी कर्ता के स्वभाव एव धर्म को व्यंजित करना। इसको द्योतित करने वाले 'कृत्' प्रत्यय हैं शून्य (विभ्राट्),-अ (पुण्याहर),-अक (निन्दक),-आक (जल्पाक),-अन (कम्पन) आदि।

(2) अभूततद्भाव—अर्थात् जो नहीं है, उसके होने के भाव का द्योतक करना इसको प्रकट करने वाले प्रमुख 'कृत्' प्रत्यय है—इष्णु (आढ्य भविष्णु), उक (आढ्य भावुकः) 'धनवान् होने वाला निर्धन'।

(3) हेतु—अर्थात् कर्त्रर्थ में हेतु का द्योतन करने वाले 'कृत्' प्रत्यय, यथा यशस्करः (यशस्+कृ+अ) 'यश का हेतु' इत्यादि।

(4) आनुलोम्य—अर्थात् जो एक के बाद होने वाली दूसरी क्रिया का द्योतन करे, यथा—वचनकर (वचन+कृ+अ) 'वचन का अनुसरण करने वाला'। हेतु के समान ही अनुलोम्य को दर्शाने वाले प्रत्ययों की सख्या भी अतिन्यून हैं।

(5) आशीर्वाद—आशीर्वादार्थ के अभिव्यंजक कृत् प्रत्यय, यथा—शत्रुहः (शत्रु+हन्+शून्य प्रत्यय) 'शत्रु को मारने वाले हो'। इसके द्योतक अन्य प्रत्यय हैं—अक (नन्दक), ति (भूति)=भवतात्।

(6) भूतार्थक—कर्ता की भूतकालिक क्रिया का संकेत करने वाला, यथा—सोमयाजी (सोम+यज्+इन) 'जिसने सोम यज्ञ कराया हो वह व्यक्ति'। इसके द्योतक अन्य प्रत्यय हैं—त (गत),-तवत् (गतवत्),-वन् (यज्वन्),-वस् (तस्थिवस्),—आन (अनूचान),—अत् (जरत्) आदि।

(7) भविष्यदर्थक—भविष्य में होने वाले अर्थ का द्योतन करने वाले 'कृत्' प्रत्यय यथा—भावी (भू+इन्) 'आगे होने वाला', करिष्यत् (कृ+स्यत्) 'किया जाने वाला'। ऐसे ही भविष्यत् (भू+स्यत्) 'आगे होने वाला', करिष्यमाण (कृ+स्यमान), दर्शक (दृश्+अक) 'आगे आने वाले समय में देखने वाला' आदि।

(8) वर्तमानार्थक—वर्तमान कालिक अर्थ का बोध कराने वाले 'कृत्' प्रत्यय यथा—गच्छत् (गम्+अत्) 'जो जा रहा है वह', विद्वान (विद्+वस्) 'जो जानता है वह'। इसके द्योतक अन्य प्रत्यय हैं—मान (शयान),-ईन (आसीन), -त (मत बुद्ध, पूजित),-मान (पचमान)।

इनके अतिरिक्त कुछ अन्य विशेष अर्थों के द्योतन के लिए भी कुछ विशेष कृत् प्रत्ययों का प्रयोग होता है, यथा—विशेषणार्थक—स्न (तीक्ष्ण, श्लक्ष्ण), स्वार्थिक—ति (वर्ति), आक्रोशार्थक—अन् (मा जीवन्)' निन्दित जीवो',-मान (मा पचमान) इत्यादि।[1]

उपर्युक्त विवरण को देखने से स्पष्ट होता है कि इन 'कृत्' प्रत्ययों में निम्नान

1 विस्तार के लिए देखो 'संस्कृत का ऐतिहासिक एवं संरचनात्मक परिचय पृ० 99-101

होने वाले अधिकतम शब्द हैं, कर्त्रर्थक, कर्मार्थक, करणार्थक, अधिकरणार्थक एवं भावार्थक। तथा सबसे अधिक उत्पादक प्रत्यय हैं—शून्य, (लोप),-अ,-अक,-अत्-, अन्,-अनीय,-अस्,-आन,-इ,-इन्,-इर्,-इल्,-उ,-उक्,-उस्,-त,-ति,-प,-म,-य।

तद्धित प्रत्ययों का पदरचनात्मक रूप

पिछले अनुच्छेद मे 'कृत्' प्रत्ययो के स्वरूप एवं नामपदो की सरचना मे उनके योग पर विचार करने के उपरान्त अब इस अनुच्छेद में हम नामपदो की रचना करने वाले प्रत्ययों के दूसरे प्रमुख वर्ग, अर्थात् तद्धित प्रत्ययो पर संक्षेप से प्रकाश डालेंगे।

तद्धित प्रत्यय प्राय. विभक्ति प्रत्यययुक्त प्रातिपदिको पर जुडा करते हैं किन्तु पद निष्पत्ति के समय विभक्ति प्रत्यय का लोप हो जाता है, यद्यपि उसका अर्थ बना रहता है।

सामान्यत प्रथमान्त पद से तद्धित प्रत्यय होने पर प्रथमान्त का अर्थ अपने मूल रूप मे विद्यमान रहता है, किन्तु कई बार इसमें अन्य विभक्तियों के अर्थ का भी द्योतन हुआ करता है। ऐसी स्थिति में इसे अन्यपदार्थक भी कहा जाता है, उदाहरणार्थ,—इक प्रत्यय को ही लीजिए—

1. प्रथमान्त प्रातिपदिक से स्वार्थ मे—वाक् (वाच्) + इक = वाचिकम्।

2 द्वितीयान्त प्रातिपदिक से अधीते वा वेद अर्थ मे—वेद + इक-(वेद अधीते वेत्ति वा) = वैदिकः।

3 तृतीयान्त प्रातिपदिक से जीवित अर्थ मे—वेतन + इक = (वेतनेन जीवति) वैतनिकः।

4. चतुर्थ्यन्त प्रातिपदिक से हित अर्थ में—सर्वजन + इक (सर्वजनेभ्यः हित) = सार्वजनिक।

5. पचम्यन्त प्रातिपदिक से आगत अर्थ मे—नगर + इक (नगरात् आगतः) = नागरिकः।

6. षष्ठ्यन्त प्रातिपादिक से समूह अर्थ मे—केदार + इक (केदाराणां समूह) = केदारिकम्।

7. सप्तम्यन्त प्रातिपदिक से विदित अर्थ मे—लोक + इक (लोके विदितः), = लौकिकः।

8. प्रथमान्त से तृतीयार्थक अन्य पदार्थ भक्षित अर्थ मे—श्राद्ध + इक (श्राद्ध भक्षितम् अनेन) = श्राद्धिक।

9. प्रथमान्त से चतुर्थ्यर्थक अन्य पदार्थ दीयते अर्थ में—शत + इक = (शतं दीयते अस्मै) शातिक.।

10. प्रथमान्त से षष्ठ्यर्थक अन्य पदार्थ ग्रहण अर्थ में—अस्ति + इक (अस्ति ग्रहण यस्य) = आस्तिक।

11. प्रथमान्त से सप्तम्यर्थक अन्य पदार्थ अस्ति अर्थ में—शर्करा + इक (शर्करा अस्ति यस्मिन्) = शार्करम्।

संस्कृत के पद रचनाकारी घटकों में, संख्या एवं प्रयोग-क्षेत्र दोनों ही दृष्टियों से, तद्धित प्रत्ययों का सर्वोपरि महत्त्व है। वाचिक अभिव्यक्ति की दृष्टि से इन्हें संस्कृत भाषा का सर्वाधिक समर्थ तत्त्व कहा जा सकता है। इनकी अभिव्यक्ति की सामर्थ्य एवं विविधता दोनों ही आश्चर्यजनक हैं। इनके प्रयोग से न केवल भाषा की अभिव्यंजना शक्ति की वृद्धि हुई है अपितु भाषा में निखार भी आया है। प्रत्येक प्रत्यय अपने आप में एक पूरे वाक्य के अर्थ को समेटे हुए होता है। इन प्रत्ययों के द्वारा अनन्त प्रकार के अर्थों को अभिव्यक्त करने वाली अनन्त संज्ञाओं एवं विशेषणों की रचना की जाती रही है और की जा सकती है। ये संस्कृत के सर्वाधिक *उत्पादक एवं समर्थ प्रत्यय हैं। इसीलिए संस्कृत को कभी भी किसी प्रकार की भी* नवीन शब्द-रचना की कठिनाई उपस्थित नहीं हुई। आज के युग में भी राजभाषा हिन्दी एवं अन्य क्षेत्रीय आर्य भाषाओं में नवीन पारिभाषिक शब्दावली के निर्माण में ये प्रत्यय सर्वाधिक उपयोगी एवं महत्त्वपूर्ण सिद्ध हो रहे हैं।

जैसा कि हम ऊपर संकेत कर चुके हैं कि तद्धित प्रत्ययों की संख्या एवं प्रयोग क्षेत्र बहुत विशाल हैं, उन सब पर प्रकाश डालना न यहाँ सम्भव है और न अभिप्रेत ही। संस्कृत व्याकरण से सम्बद्ध किसी भी ग्रन्थ में इसे देखा जा सकता है।[1] इनमें से अनेक प्रत्ययों का प्रयोग क्षेत्र तो इतना विस्तृत होता है कि वे अकेले ही विभिन्न प्रकार के दर्जनों अर्थों की अभिव्यक्ति करते हैं, उदाहरणार्थ -इक प्रत्यय 106 अर्थों को अभिव्यक्त करता है तो -अ प्रत्यय 70 अर्थों को, -य 63 अर्थों को और -क 50 अर्थों को। पर इनमें से अधिकतर प्रत्यय ऐसे भी हैं जो कि केवल एक या दो अर्थों के ही अभिव्यंजक होते हैं। इनमें से कुछ प्रमुख रूप से उत्पादक प्रत्यय हैं। लोप,-(शून्य),-अ,-आ,-आयन,-इक,-इन्,-इय्,-ईन्,-ईय्,-एय्,-क,-तम, -तर,-तम्,-मय,-य,-वत्।

इन प्रत्ययों के प्रयोग के विषय में यहाँ पर इतना और भी बतला देना आवश्यक है कि -बहु एवं स्वार्थिक अक् प्रत्यय को छोड़कर शेष सभी तद्धित प्रत्यय प्रातिपदिक के अन्त में लगते हैं। इनमें से -बहु तो सदा प्रातिपदिक के आदि में तथा स्वार्थिक-अक् प्रकृति के (अन्त्य स्वर) से पूर्व में लगता है, यथा—बहुपट,

1. डा० बलदेव सिंह ने भी अपने ग्रन्थ पदरचना समीक्षा अनुच्छेद 13 में इन तद्धित प्रत्ययों एवं उनके अर्थों का बहुपक्षीय निरूपण प्रस्तुत किया है।

मेंदूमृदु, सर्वके (<सर्वे+अक्), उच्चकैः (<उच्चैं+अक्), पचतकि (<पचति+अक्)।

हमने ऊपर कहा था कि तद्धित प्रत्यय 'प्राय.' प्रातिपादिकों पर जोड़े जाते हैं, जिसका अभिप्राय था कि कुछ तद्धित प्रत्यय ऐसे भी है—(यथा,-अक्,-तमाम् -तराम्,-कल्प,-रूप,) जोकि क्रिया पदो पर भी लगते हैं, यथा—पचतकि, पचतितमाम्, पचतितराम्, पचतिकल्पम्, पचतिरूपम् इत्यादि।

सभी तद्धित प्रत्ययों के प्रयोग प्रकार का विश्लेषण करने पर पता चलता है कि अधिकांशत. ये प्रत्यय सम्बन्ध के बोधक होते हैं। यह सम्बन्ध अनेक प्रकार का हो सकता है। सभी प्रकार के सम्बन्धो का स्वरूप निर्धारण सरल नही। महाभाष्यकार पतंजलि ने सम्बन्धबोधक षष्ठी के एक सौ से भी अधिक अर्थ स्वीकार किए हैं (एक शत षष्ठ्यर्थाः, 1 1 49)।

तुलनाबोधक प्रत्यय.—इसके अतिरिक्त तद्धित प्रत्ययों का एक वर्ग ऐसा है जोकि व्युत्पादक प्रत्ययों की कोटि मे न आकर तुलनात्मक प्रत्ययो की कोटि मे *आता है, इन प्रत्ययो की सख्या चार है, नामतः, -तर,-तम,-ईयस् और-ईष्ठ। ये स्वयं व्युत्पन्न प्रातिपदिकों, विशेषणों के साथ जुडकर उनकी तुलन कोटियो (Comparative degrees) तथा अतिशय कोटियो (Superlative degrees)* का भाव बोध कराते हैं। यथा—प्रियतर, प्रियतम, पापीय, पापीष्ठ.।

इन प्रत्ययों के विवेचन मे पाणिनि जी ने यद्यपि इनके मूल मे निहित भेदकता की ओर कोई संकेत नही किया है, किन्तु इनके सरचक प्रकार्यों तथा अर्थपरक सूक्ष्मताओ पर विचार करने पर देखा जा सकता है कि -तर तथा -तम का योग व्युत्पन्न प्रातिपदिको (विशेषणो) के साथ होता है जब कि -ईयस् तथा -ईष्ठ का योग सामान्यतः उन धातुमूलों के साथ होता है जिनसे कि ये विशेषण व्युत्पन्न होते हैं। अतः इनकी स्थिति तद्धित प्रत्ययों की अपेक्षा 'कृत्' प्रत्ययों के निकट पड़ती है। साथ ही यह भी द्रष्टव्य है कि साहित्यिक संस्कृत मे यद्यपि अर्थ की दृष्टि से -तर, -तम प्रत्ययों तथा -ईयस् एव -ईष्ठ मे कोई तात्विक भेद नही किया जाता, पर डॉ॰ घोष का अनुमान है कि मूल रूप मे इनमे अवश्य ही तात्विक अन्तर रहा होगा। उनके अनुसार-ईयस् और -इष्ठ का कार्य किसी कर्ता के आतरिक गुण की उत्कर्षता को *व्यक्त करना है, किन्तु तरप् और तमप् का कार्य केवल दो या अधिक वस्तुओं में तारतम्य का बोध करना मात्र है, अर्थात् तर का प्रयोग दो मे एक से ही विशेषता को दिखाने के लिए किया जाता था तथा तम का अनेको मे से एक को।* इनका यह भेद सार्वनामिक पदो के साथ प्रयुक्त किये जाने पर बिलकुल स्पष्ट हो जाता है, यथा-कतरः, कतमः, अन्यतर, अन्यतमः। भाषा वैज्ञानिको का विचार है कि ये कोई स्वतन्त्र प्रत्यय न होकर र तथा म के संयोग मे बने हुए सस्कृत के भूतकालिक कृदन्त प्रत्यय त, क्त के ही रूप हैं, जिन्हें कि अपरः, प्रथमः जैसे रूपो मे स्पष्टतः देखा

जा सकता है (दे० घोष, पृ० 106)।

स्त्री प्रत्ययों का पद रचनात्मक रूप

संस्कृत पदरचना की दृष्टि से स्त्री प्रत्ययों की स्थिति भी तद्धित प्रत्ययों के समकक्ष ही है। जिस प्रकार तद्धित प्रत्यय सदा ही अव्युत्पन्न एवं कृदन्त शब्दों के अन्त में लगाए जाते हैं, यद्यपि कुछ प्रत्यय तद्धितान्त शब्दों पर भी जुड़ते हैं, उसी प्रकार स्त्री प्रत्यय भी अव्युत्पन्न कृदन्त, तद्धितान्त एवं समस्त सभी प्रकार के शब्दों से जुड़कर संस्कृत की रूपरचना करते हैं। संस्कृत के वैयाकरणों ने इन दोनों प्रत्ययों में कुछ मौलिक अन्तर होने के कारण इन्हें तद्धित प्रत्ययों से पृथक् ही रखा है। मुख्यतः यह अन्तर दो रूपों में देखा जाता है, 1. तद्धित प्रत्यय के योग से प्रातिपदिक की प्रकृति के अर्थ में भी अन्तर आ जाता है, जबकि स्त्री प्रत्यय के कारण बोधकता के अतिरिक्त अर्थ में कोई ऐसा अन्तर नहीं आता।[1] 2. पारिभाषिक दृष्टि से तद्धित प्रत्यय 'वाचक' होते हैं और स्त्रीत्व बोधक प्रत्यय 'द्योतक' अर्थात् संस्कृत के वैयाकरणों के अनुसार 'कृत्' एवं 'तद्धित' प्रत्ययों के योग से बनने वाले पदों में सदा ही प्रत्यय का अर्थ प्रधान और प्रकृति का अर्थ गौण रहता है, किन्तु स्त्रीत्व बोधक प्रत्ययों के योग में ऐसा नहीं होता, उसमें प्रातिपदिक प्रकृति का अर्थ ही प्रधान रहता है, यथा-अज + आ (टाप्) से निष्पन्न अजा शब्द 'स्त्रीत्व विशिष्ट अज' के अर्थ का बोधक होता है न कि 'अजत्व विशिष्ट स्त्री' का। अतः स्त्री प्रत्ययों को उपर्युक्त कृत्तद्धित प्रत्ययों के सामान्य (उत्सर्ग) नियम की परिधि से पृथक् रखने के लिए इन्हें द्योतक प्रत्ययों की कोटि में रखा गया।[2]

इस प्रकार हम देखते हैं कि स्त्री प्रत्ययों एवं कृत् तथा तद्धित प्रत्ययों में मुख्य अन्तर केवल यही है कि स्त्रीत्व बोधक प्रत्ययों के योग में प्रकृति का अर्थ प्रधान एवं प्रत्यय का अर्थ गौण रहता है जबकि इसके विपरीत कृत्तद्धित प्रत्ययों के योग में प्रत्यय का अर्थ प्रधान तथा प्रकृति का अर्थ गौण रहता है।

पदरचना की दृष्टि से स्त्रीत्व बोधक प्रत्ययों का योग केवल अजन्त प्रातिपदिकों के साथ ही होता है, हलन्तों के साथ नहीं। विभक्ति प्रत्ययों की योजना स्त्री प्रत्ययों के बाद ही हुआ करती है। स्त्री प्रत्ययों की संख्या बहुत

---

1. संस्कृत में कुछ शब्द ऐसे भी हैं जिनमें कि स्त्री प्रत्यय के कारण प्रकृति के अर्थ में अन्तर देखा जाता है यथा - हिम > हिमानी 'हिम समूह', अरण्य > अरण्यानी 'महारण्य, बीहड़ वन', यव > यवानी 'खराब जौ', यवन > यवनानी 'यवनों की लिपि'
2. दे० महा० पृ० 53 (धात्वर्थ विचार) तथाहि प्रकृतिप्रत्ययार्थयो • इत्यादि, उद्धृत ब० सि० पृ० 194.

अधिक नहीं। संस्कृत में निम्नलिखित स्त्री प्रत्ययों के प्रयोग से शब्दों की निष्पत्ति की जाती है।

1. शून्य (लोप)—इसका प्रयोग कुछ इकारान्त शब्दों के साथ होता है। प्रत्ययलोप के कारण इनके रूप पुल्लिंग शब्दों के समान ही रहते हैं, यथा सभापति, वृद्धपति, मृदु, पट्‌० आदि।

2 आ (टाप्)—यह संस्कृत का सर्वाधिक उत्पादक स्त्री प्रत्यय है, इसका प्रयोग -अ तथा -अन् से अन्त होने वाले शब्दों के साथ किया जाता है, यथा, अज+आ=अजा, कोकिल+आ=कोकिला, बालक+आ=बालिका, सीमन्+आ=सीमा।

3. आनी—यह प्रत्यय एक प्रकार से उपर्युक्त -आ प्रत्यय का ही अपवादक प्रत्यय है, अर्थात् कुछ परिगणित अकारान्त शब्दों में -आ प्रत्यय न लगकर -आनी लगता है, यथा, हिम>हिमानी, भव>भवानी, इन्द्र>इन्द्राणी, वरुण>वरुणानी, शर्व>शर्वाणी, यव>यवानी।

4. आयनी—यह भी इसी प्रकार का प्रत्यय है जो कि गोत्रापत्य सम्बन्धी तद्धित प्रत्ययों के बाद लगाया जा सकता है, यथा-गार्ग्य>गार्ग्यायणी, वात्स्य>वात्स्यायनी इत्यादि।

5 ई (ङीप्)—आ के समान ही -ई प्रत्यय भी स्त्री प्रत्यय संरचना में विशेष स्थान रखता है यथा—देव>देवी, पुत्र>पुत्री, कुमार>कुमारी, मृदु>मृद्वी, बहु>बह्वी।

इनके अतिरिक्त कुछ अन्य प्रत्यय भी हैं किन्तु वे केवल कुछ विशिष्ट एवं परिगणित शब्दों के साथ ही प्रयुक्त होते हैं, यथा—आयी (अग्नि>अग्नायी), आवी (मनु>मनावी), उ (श्वशुर>श्वश्रू), ति (युवन्>युवति), नी (पति>पत्नी), पतिव्रत्>पतिवत्नी, या (मुखर>मौखर्या), री (धीवर>धीवरी), (शर्वन्>शर्वरी)।

3. समस्त पद रचना

जब दो शब्द रूप तथा अर्थ दोनों ही दृष्टियों से अपना पृथक स्वत्व त्यागकर एक रूप हो जाते हैं तो वह समास (समसनं समास) कहलाता है। शब्द विकारी नामपद भी हो सकते हैं तथा अविकारी (अव्यय, उपसर्ग) भी। इसमें यह उल्लेख्य है कि समस्त पद रचना दोनों विकारी अथवा विकारी-अविकारी पदों के बीच तो हो सकती है, किन्तु दोनों अविकारी पदों के बीच नहीं। विकारी समस्त पद रचना में यद्यपि घटकों की दृष्टि से एकाधिक प्रातिपदिकों का योग होता है, किन्तु रूपरचना तथा अर्थ (द्वन्द्व को छोड़कर) की दृष्टि से समस्त पद पूर्णतः एकत्व का

बोधक होता है।

रूप रचना की दृष्टि से पद के एकत्व के पक्ष को निम्नलिखित रूपों में देखा जा सकता है।

1. इसमें पूर्व पद प्रायः अविकृत रहता है तथा विभक्ति प्रत्ययों का योग अन्य प्रातिपदिकों के समान केवल उत्तरपद में ही होता है। इस प्रकार की रूप रचना में दोनों की पृथक्-पृथक् पदात्मक सत्ता को स्वीकार न करके उन्हें एक पद के रूप में माना जाता है। समासान्त प्रत्ययों का योग भी उत्तरपद के साथ ही होता है।

2. वैदिक संस्कृत में भिन्न-भिन्न स्वराघातों वाले पदों को समस्त किए जाने पर उनमें केवल एक पर ही उदात्त स्वराघात रह सकता है जो कि उसके एक पदत्व का निर्देशक होता है।

3. सन्धि की दृष्टि से भी देखा जाता है कि अन्यत्र दो पदों के बीच सन्धि का होना अनिवार्य नहीं, वक्ता की रुचि अथवा प्रयोग की आवश्यकता के अनुसार वह वैकल्पिक हो सकती है। अतः वहाँ पर दोनों पदों की स्वतन्त्र सत्ता रहती है, किन्तु समास में यह एक अनिवार्य तत्व है तथा सन्धि कभी-कभी सामान्य रूपों से भिन्न रूपों में भी देखी जाती है।

4. दो से अधिक पदों के समास में प्रत्येक समस्त पूर्वपद को एक इकाई के रूप में मानकर उसके साथ उत्तर पद का योग किया जाता है। यथा—जनकतनयास्नानपुण्योदकेषु—जैसे समस्त पद के घटक पद यद्यपि पाँच हैं, किन्तु समास-प्रक्रिया में केवल दो पदों का ही योग हो सकता है। समस्त हो जाने पर ये दो पद स्वयं एक ईकाई हो जाते हैं तथा इस रूप में अगले पद के साथ संयुक्त होते हैं। यह प्रक्रिया तब तक चलती रहती है जब तक कि अन्तिम पद भी संयुक्त होकर उस समस्त पद की इकाई में एकाकार नहीं हो जाता। उपर्युक्त उदाहरण में ही प्रथम जनक पूर्वपद + तनया उत्तरपद मिलकर एक समस्त पद जनकतनया की रचना करेंगे। अब अगले पद स्नान के साथ इसे संयुक्त करने के लिए इस समस्त पद को एक पद अर्थात् पूर्व पद के रूप में लिया जाएगा तथा स्नान को उत्तरपद के रूप में। पुनः ये तीनों मिलकर एक समस्त पद बन जाएंगे जो कि अगले पुण्य शब्द से संयुक्त होने के लिए स्वयं पूर्वपद की संज्ञा धारण कर लेता है। इस प्रकार की यह प्रक्रिया अन्त तक चलती रहती है। सामान्यतः केवल द्वन्द्व समास में ही दो से अधिक पदों का एक साथ समास होना सम्भव हो सकता है, यथा पाणी च पादौ च मुखं च=पाणिपादमुखम्, रामश्च लक्ष्मणश्च भरतश्च शत्रुघ्नश्च= रामलक्ष्मणभरतशत्रुघ्ना।

संस्कृत समास रचना की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

यद्यपि संस्कृत अमेरिका के रेड इण्डियनों की भाषा के समान समासप्रधान भाषा नहीं, किन्तु फिर भी साहित्यिक संस्कृत में जो पूरे के पूरे वाक्यों में समस्तपद दिखाई देते हैं, वह कोई अचानक विकसित होने वाली भाषायी घटना नहीं थी। यद्यपि बाण, दण्डी सुबन्धु आदि की संस्कृत में पायी जाने वाली समास रचना भाषा की कृत्रिमता की चरम सीमा थी तथा भारोपीय परिवार की किसी अन्य भाषा में नहीं पायी जाती, पर संस्कृत में स्वतन्त्र पदों को एक समस्तपद के रूप में घटित करने की मूल प्रवृत्ति इसकी उत्पत्ति के आदिकाल से ही अर्थात् भारोपीय काल से ही विद्यमान थी। ग्रीक, लैटिन, अवेस्ता आदि में भी समस्त पदों की स्थिति इस बात का स्पष्ट प्रमाण है कि संस्कृत ने अपनी समास प्रक्रिया को भारोपीय भाषा परिवार से उत्तराधिकार में प्राप्त किया था। यहां पर भी संस्कृत की समस्त पद रचना प्रक्रिया के विश्लेषण के लिए हम उन्हीं रूपों को लेंगे जो कि वैदिक संस्कृत में तथा आम बोलचाल की संस्कृत में पाए जाते हैं।

संस्कृत की समास-प्रक्रिया के ऐतिहासिक विकास का विश्लेषण करने पर हम देखते कि वैदिक काल में जब कि संस्कृत बोलचाल की भाषा थी, इसके समस्त पदों के घटकों की संख्या अत्यन्त ही सीमित अर्थात् दो होती थी। यहां तक कि तीन पदों के योग से बनने वाले समस्त पदों की संख्या भी नगण्य ही थी। समासों की बिलकुल यही स्थिति होमर कालीन ग्रीक में भी पायी जाती है जो कि इस बात की संकेतक है कि भारोपीय काल में भी समास के इन घटकों की स्थिति लगभग यही रही होगी (देखो, घोष, पृ० 108)।

संस्कृत के समस्त पदों की प्रमुख विशेषताएं ये हैं कि एक तो इसमें पूर्वपद अपने निर्विभक्तिक प्रातिपदिक रूप में रहता है और विभक्ति प्रत्ययों का योग केवल उत्तरपद के साथ होता है। यद्यपि यह सर्वथा निरपवाद लक्षण नहीं, क्योंकि समस्तपदों, विशेषकर, 'देवताद्वन्द्व' नामक द्वन्द्व समास के प्रभेदों में इसके अपवाद पाए जाते हैं। वैदिक संस्कृत की दृष्टि से इनकी दूसरी विशेषता यह है कि एक समस्त पद में उदात्त स्वराघात (प्रायः) एक ही पद पर रहता है, जबकि स्वतन्त्र प्रयोग में यह दोनों पदों में स्वतन्त्र रूप से विद्यमान रहता है। परन्तु प्रथम लक्षण के समान ही यह भी सर्वथा निरपवाद नहीं, विशेषकर द्वन्द्व समासों में जिनमें कि दोनों घटकों का स्वतन्त्र अस्तित्व इतना अपेक्षित होता है कि उनमें स्वतन्त्र स्वराघात ही नहीं, अपितु स्वतन्त्र विभक्ति रूपों को भी सुरक्षित रखा जाता है। इसके अतिरिक्त, समाहार द्वन्द्व को छोड़कर, समस्त पद के लिंग का निर्धारण भी प्रायः उत्तरपद के लिंग के आधार पर होता है।

प्रो० टी० बरो का कथन है कि प्रारम्भिक भारोपीय की रूप रचना

(*morphology*) की दृष्टि से संस्कृत समासों की उपर्युक्त प्रथम विशेषता विशेष रूप से महत्त्व की है, क्योंकि यह भाषा के विकास के उस काल की सूचक है जबकि वाक्य संरचना में संज्ञा व विशेषण विभक्ति प्रत्ययों के बिना ही अपने प्रातिपदिक रूप में ही अन्य शब्दों के साथ अपना वाक्यात्मक सम्बन्ध व्यक्त कर सकते थे जो कि बाद में इस प्रकार के सम्बन्ध की अभिव्यक्ति के लिए एक अनिवार्यता हो गयी थी। विश्पति (कबीले का स्वामी) तथा बृहस्पति जैसे शब्दों में इसे देखा जा सकता है। (दे० पृ० 200)

समास के उद्भव के विषय में माना जाता है कि जब दो शब्द इस प्रकार नियमित रूप में बार-बार प्रयुक्त किए जाते हैं कि वे श्रोता के लिए सभी प्रयोजनों एवं अर्थ की दृष्टि से एक रूप हो जाते हैं तो दोनों ही अपनी-अपनी व्यस्त स्वतन्त्र अभिव्यक्ति को खोकर एक रूप अथवा समस्त रूप धारण कर लेते हैं। प्रो० बरो का कथन है कि समास एक भाषायी व्यवस्था के रूप में भारोपीय के प्रारम्भिक स्थिति काल के पाषाणीभूत (fossilised) अवशेष हैं जिनका स्थान बहुत पहले ही उन विभक्ति-प्रत्यय युक्त रूपों ने ले लिया था जो वैदिक संस्कृत में तथा साहित्यिक संस्कृत में दिखाई देते हैं।

इसके अतिरिक्त समासों में अनेक ऐसे प्रातिपदिक मूल रूप देखने में आते हैं जो कि अन्यथा भाषा-प्रयोग में सर्वथा अज्ञात होते हैं। इनमें से कई ऐसे भी होते हैं जो कि स्पष्टतः भारोपीय मूल के कहे जा सकते हैं, उदाहरणार्थ, कपुच्छल में कपृत् का अनुरूपी इसी रूप में लैटिन में भी पाया जाता है। ये विशिष्ट प्रातिपदिक रूप भारोपीय में समास के प्रथम घटक के रूप में प्रयुक्त होते होंगे। राजपुत्र जैसे समस्त पदों में भी असमरूप (heteroclitic) प्रातिपदिक का होना इसकी पुष्टि करता है (मूल प्रातिपादिक रूप राजन्)। डॉ० घोष का कथन है कि इस समस्त पद का प्रथम घटक पद राज- मूल प्रातिपदिक राजन्- का दुर्बल रूप राजन् न होकर मूल भारोपीय रूप* राजो की ही साक्षात् प्रसूति (descendent) है, क्योंकि ग्रीक तथा लैटिन में इसके अनुरूपी -अश्मो (तुल० ग्रीक—अश्मो पॆतोन तथा होमो-(तुल० लैटिन—होमिसिडा) के ओ का विकास भारोपीय म से नहीं हो सकता (देखो घोष पृ० 111)।

ऐतिहासिक दृष्टि से समस्त पद के द्वितीय घटक का व्यवहार भी बड़ा जटिल है। समासान्त प्रत्ययों (compositional suffixes) के कारण इनमें होने वाली विशेषताओं के अतिरिक्त ये प्रायः अवमुप्यान्तर रूप में प्रयुक्त होते हैं जो अन्यथा कभी नहीं होते और जो कि प्राय: भारत पूर्व कालीन रूप होते हैं। इस द्वितीय घटक के रूप में पाए जाने वाले पद हैं—गो, जानु और वाच जो कि समस्त हो जाने पर गु, ज्ञु एवं बु हो जाते हैं, यथा-सप्त + गो = सप्तगु, पृष्ट + गो = पृगु, मित + जानु = मितज्ञु, अभि + जानु = अभिज्ञु। ये रूप कम से कम प्राचीन भारत-

ईरानी काल के अवशेष कहे जा सकते हैं (तुल० फा०—सतग = सं० शतगु), दारु के दुर्बल रूप द्रु का प्रयोग केवल 'पूर्वपद' के रूप में पाया जाता है, यथा- द्रुपद, द्रुणस् इत्यादि।

समासों का वर्गीकरण तथा उसका आधार

पाणिनि आदि प्राचीन वैयाकरणों ने समासों का जिन चार प्रमुख वर्गों में विभाजन किया है वे हैं—अव्ययीभाव, तत्पुरुष, बहुव्रीहि तथा द्वन्द्व। तत्पुरुष वर्ग के अन्तर्गत जिन समस्त रूपों को रखा गया है उनमें यद्यपि अनेक विविधताएं, यहां तक कि परस्पर विरोधी रूप भी, पायी जाती हैं, किन्तु वैयाकरणों ने कतिपय विवेचनात्मक सुविधाओं को ध्यान में रखकर इन्हें एक ही वर्ग में रख छोड़ा है। पाणिनि ने *'कर्मधारय' को तत्पुरुष का ही एक भेद माना है, किन्तु कतिपय बाद के वैयाकरणों* ने इसे एक पृथक् वर्ग के अन्तर्गत भी रखा है। कर्मधारण का ही एक भेद 'द्विगु' भी है। वैयाकरणों ने स्पष्टीकरण के लिए इनके और भी अनेक उपभेद किए हैं, यथा कर्मधारण के ही 'विशेषणपूर्वपदकर्मधारण, विशेषणोत्तरपदकर्मधारय, उपमानपूर्वपद कर्मधारय आदि, किन्तु इस प्रकार के विभाजन से इनके मूल रूप *पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता।*

इस सम्बन्ध में यह भी उल्लेखनीय है कि वैदिक तथा लौकिक संस्कृत के अनेक समस्त रूप ऐसे हैं जो न तो किसी उपर्युक्त वर्ग के अन्तर्गत आते हैं और न समास सम्बन्धी किसी नियम से नियमित होते हैं ऐसे पदों को बाद के वैयाकरणों ने पणिनि के सूत्र 'सहसुपा' (2.1.4) का सहारा लेकर एक नये वर्ग 'सुप्‌समास' के *अन्तर्गत रखने की व्यवस्था की है।*

वर्गीकरण का आधार—भाषा विज्ञानियों द्वारा समासों का वर्गीकरण दो आधारों पर किया जाता है—(1) गरचनात्मक तथा (2) अर्थपरक। पाणिनि तथा अन्य भारतीय वैयाकरणों ने समस्त पद के घटक पदों—पूर्वपद एवं उत्तरपद, अन्यपद या उभयपद के अर्थ के प्राधान्य के आधार पर ही उपर्युक्त विभाजन किया है।[1] तदनुसार इनकी *स्थिति इस प्रकार बनती है।*

1. पूर्वपदार्थप्रधान (Adverbial)—अर्थात् जिस समस्तपद में उत्तरपद की अपेक्षा पूर्वपद के अर्थ की प्रधानता हो। इसके अन्तर्गत 'अव्ययीभाव' को रखा गया है। इनका प्रयोग अव्ययों के रूप में होता है, यथा—*'यथाशक्ति'*।

2. उत्तरपदार्थप्रधान (Determinative)—अर्थात् जिसमें पूर्वपद की अपेक्षा उत्तरपद का *अर्थ समस्तपद के अर्थ का निर्धारक हो। इसके अन्तर्गत 'कर्मधारय'*

---

1. पूर्वपदार्थप्रधानोऽव्ययीभावः, उत्तरपदार्थप्रधानस्तत्पुरुषः, अन्य पदार्थप्रधानो बहुव्रीहिः, उभयपदार्थप्रधानोद्वन्द्वः : (महाभाष्य-2. 1. 6. 20. 49)

नामक उपभेद के सहित तत्पुरुष को रखा जाता है। ये संज्ञा शब्दों के रूप में प्रयुक्त होते हैं यथा—राजपुरुष।

3. उभयपदार्थप्रधान (Coordinative)—अर्थात् जिस समस्तपद में दोनों ही घटकों के अर्थ को समान रूप से महत्त्व हो। इसके अन्तर्गत सभी उपभेदों सहित 'द्वन्द्व' को रखा जाता है। इनमें भी संज्ञापदों की ही रचना होती है, यथा—पाणिपादौ।

4. अन्यपदार्थप्रधान (Possessive)—अर्थात् जिस समस्तपद में किसी ऐसे अन्य पदार्थ का महत्त्व हो जो कि उन दोनों पदों के अर्थ को धारण करता हो। इसके अन्तर्गत बहुव्रीहि को रखा जाता है। ये समस्तपद प्रायः विशेषण के रूप में प्रयुक्त होते हैं। यथा—पुष्पधन्वा।

किन्तु पाणिनि के द्वारा पदविशेष के अर्थ की प्राधान्यता पर आधारित यह वर्गीकरण सर्वथा निरपवाद नहीं। समस्त पदों के कई रूप ऐसे हैं जो कि इस व्यवस्था का उल्लंघन करते हैं, यथा पाणिनि के अनुसार उपदशाः बहुव्रीहि के अन्तर्गत आता है और उपदशम् अव्ययीभाव के अन्तर्गत, जबकि यथार्थतः दोनों में पूर्वपद के अर्थ का प्राधान्य है। इसी प्रकार पूर्वकाय तथा अर्ध-पिप्पली दोनों को तत्पुरुष के अन्तर्गत होने पर भी इनमें पूर्व पद के अर्थ का प्राधान्य स्पष्ट है। इसी प्रकार की और भी कई विसंगतियां इस वर्गीकरण में पायी जाती हैं।

ऐतिहासिक भाषाशास्त्र के अनुसार तत्पुरुष एवं बहुव्रीहि का विकास मूल भारोपीय तथा द्वन्द्व एवं अव्ययीभाव का विकास भारत आर्यकाल का माना जाता है। (देखो वरो॰ पृ॰ 208)

इसके अतिरिक्त संस्कृत के वैयाकरणों ने रूपरचना की दृष्टि से भी समासों का वर्गीकरण किया है। इसमें पदों के अर्थ की प्रधानता को आधार न बनाकर उनके रूपिमों की प्रकृति एवं पदक्रम को आधार बनाया गया है। इस प्रकार उन्होंने सम्पूर्ण समस्तपदों को जिन छः भागों में वर्गीकृत किया है, वे ये हैं—

1. सुबन्त + सुबन्त	यथा—राजपुरुषः
2. सुबन्त + तिङन्त	" पर्यभूषयत्
3. सुबन्त + नाम	" कुम्भकारः
4. सुबन्त + धातु	" कटप्रू
5. तिङन्त + तिङन्त	" पिबतखादता

6. तिङन्त + सुबन्त " कृन्तविचक्षणा।[1]

इनमें से दूसरे एवं छठे विभाजन में केवल पद-संघटना क्रम के अतिरिक्त और कोई तात्विक अन्तर न होने से कुछ वैयाकरणों ने इन्हें पृथक्-पृथक् मानने पर आपत्ति भी की है।[2] जोकि उचित भी प्रतीत होती है, क्योंकि दोनों में ही समास के घटक पद सुबन्त एवं तिङन्त ही है। यही बात तीसरे तथा चौथे भेद के सम्बन्ध में भी लागू होती है, क्योंकि इन दोनों को ही प्रथम भेद के अन्तर्गत रखा जा सकता है। इनमें तात्त्विक दृष्टि से कोई अन्तर न होते हुए भी शायद व्याकरण की प्रक्रिया के निर्वाह के लिए ऐसा किया गया है। इसीलिए डॉ० बलदेवसिंह ने उपर्युक्त 6 भेदों का निम्नलिखित तीन भेदों में अन्तर्भाव कर दिया है।[3]

1. सुबन्त का सुबन्त से, यथा—राजपुरुष, कुम्भकार., कूटप्रः।
2. तिङन्त का तिङन्त से, यथा—पिबतखादता।
3. सुबन्त का तिङन्त से, यथा—पर्यभूषयत्, कृन्तविचक्षणा।

यद्यपि आधुनिक भाषाशास्त्रीय विवेचन की दृष्टि से संस्कृत समासों के उपर्युक्त तीन ही प्रमुख भेद हो सकते हैं, अन्य सभी भेदों का इनमें ही अन्तर्भाव हो जाता है, किन्तु संस्कृत की समस्त समास प्रक्रिया की बारीकियों की जानकारी के लिए प्राचीन वैयाकरणों द्वारा इनका विस्तृत विवेचन किया गया है (देखो, *संस्कृत का ऐतिहासिक एवं संरचनात्मक परिचय, पृ० 115-124*)।

समस्त पदरचना में विभक्ति-प्रत्यय-योजना

पीछे बताया जा चुका है कि पद रचना की दृष्टि से समस्त पद रचना अन्य प्रकार के नामपदों की रचना के ही समान है। समस्त हो जाने पर दोनों ही पद *एक पदवत् हो जाते हैं और प्रायः पूर्वपद के विभक्ति प्रत्ययों का लोप हो जाता* है। पूर्वपद एक भी हो सकता है और अनेक भी हो सकते हैं तथा वाक्य संरचना के लिए विभक्ति प्रत्ययों का आधार अन्तिम पद हुआ करता है, किन्तु इसका संरचनात्मक रूप एवं प्रक्रिया सभी समासों में समान नहीं होती, सबका अपना-अपना विधान होता है। जिनके कुछ प्रमुख रूप इस प्रकार होते हैं—

---

1. सुपां सुपा तिङा नाम्ना धातुनाऽथ तिङां तिङा।
   सुबन्तेनेति विज्ञेयः समासः षड्विधो बुधैः॥
   सि० कौ० सर्वसमास शेष प्रकरणम्
2. अत्र सुपां तिङेत्यनेनैव तिङा सुबन्तेनेत्यस्यापि ग्रहणात्,
   समासस्य षड्विधत्वं चिन्त्यम्। उसी पर बाल मनोरमा टीका।
3. पदपदार्थसमीक्षा, पृ० 254

अव्ययीभाव समास में अकारान्त शब्दों के अन्त में पंचमी विभक्ति को छोड़कर अन्य सभी विभक्तियों में विभक्ति प्रत्यय समस्त होने पर म् में परिवर्तित हो जाता है। यथा—दिशयो मध्यात्=अपदिशात् पर दिशयो मध्यम्~दिशयो मध्येन~दिशयो मध्ये~दिशयो मध्यस्य आदि सबका रूप 'अपदिशम्' होगा, यद्यपि तृतीया एवं सप्तमी के योग में इसके स्थान पर विकल्प से अपदिशे रूप भी हो सकते हैं। अकारान्त के अतिरिक्त अन्य सभी अजन्त शब्दों की विभक्ति का लोप हो जाता है, यथा—अधिहरि, उपविष्णु आदि।

तत्पुरुष समास में समस्त किया जाने वाला उत्तरपद यदि प्रथमान्त होता है तो समास होने पर वह उसी रूप में बना रहता है तथा वाक्य संरचना में आवश्यकतानुसार उसमें विभक्ति प्रत्ययों का योग होता है, यथा—'राज पुरुष'=राजपुरुष (राजपुरुषेण, राजपुरुषस्य), किन्तु यदि समस्त किए जाने वाले अन्तिम पद की विभक्ति प्रथमा के अतिरिक्त और कोई होती है तो उसके विभक्ति प्रत्यय का लोप हो जाता है और समस्त पद का संरचनात्मक रूप प्रथमान्तवत् हो जाता है, यथा—पूर्वंकायस्य=पूर्वकाय, मध्यमह्न'=मध्याह्न, मध्यंरात्रे=मध्यरात्र। द्वन्द्व समास में समस्त पद की विभक्ति योजना दो रूपों में होती है। समाहार द्वन्द्व में सभी प्रकार के पद नपुंसक लिंग, एक वचन में परिवर्तित हो जाते हैं तथा 'इतरेतर द्वन्द्व' में दो पदों के योग में द्विवचन के प्रत्ययों की तथा दो से अधिक पदों के योग में बहुवचन के विभक्ति प्रत्ययों की योजना की जाती है, यथा—पाणि च पादौ च=पाणिपादम्, पाणि च पादौ च मुखं च=पाणिपादमुखम्, पिता च पुत्रश्च—पितापुत्रौ, हेमन्तश्च शिशिरश्च वसन्तश्च—हेमन्तशिशिरवसन्ता (इतरेतर)।

बहुव्रीहि समास में समस्तपद का अन्तिम पद सदा ही प्रथमा विभक्ति तथा एक वचन के प्रत्ययों से युक्त होता है तथा वाक्य संरचना में आवश्यकतानुसार इसमें रूप रचना सम्बन्धी प्रत्यय योजना होती रहती है, यथा—पीतोदकः (पीत उदकं येन), चक्रपाणि (चक्र पाणौ यस्य) इत्यादि।

नामपदों की रूपरचना प्रक्रिया

रूपरचनात्मक तत्त्व—भारोपीय की अन्य प्राचीन भाषाओं—ग्रीक, लैटिन आदि के समान ही संस्कृत भी एक विभक्ति प्रधान भाषा है। संस्कृत के किसी भी नामपद के विभक्ति प्रत्ययों के बिना प्रयोगयोग्यता ही नहीं हो सकती। क्योंकि विभक्ति प्रत्ययों को व्याकरण की पारिभाषिक शब्दावली में सुप् कहा जाता है इसलिए संस्कृत के नामपदों को सुबन्त भी कहा जाता है। जिन पदों—कृदन्त, तद्धित, समस्त एवं अव्युत्पन्न के अन्त में इन 'सुप्' प्रत्ययों को जोड़ा जाता है उन्हें पारिभाषिक रूप में प्रकृति कहा जाता है। आचार्य पाणिनि ने संस्कृत के नामपदों की इस 'प्रकृति' को प्रातिपदिक का नाम दिया है। इन्हीं प्रातिपदिकों के अन्त में

'सुप्' प्रत्ययों को लगाने से ही भाषा में प्रयोग किए जा सकने योग्य विभक्त्यन्त पदों की रचना होती है। *पाणिनीय व्याकरण के अनुरूप इनकी रूप-रचना का विवरण प्रस्तुत करने से पूर्व इनके प्राचीन स्वरूप एवं ऐतिहासिक विकास के संबंध* में भी कुछ जान लेना आवश्यक होगा।

वैदिक संस्कृत में कहीं-कहीं पाये जाने वाले कुछ विरल शब्द रूपों के आधार पर कुछ विद्वानों का विचार था कि संस्कृत के ये विभक्त्यन्त प्रत्यय प्रारम्भ में स्वतन्त्र प्रत्यय थे तथा ये रूप संस्कृत की उस अवस्था के द्योतक थे जबकि इसमें अभी पूरी तरह योगात्मक विभक्ति रूपों का विकास नहीं हुआ था। वैदिक साहित्य में अनेकत्र विभक्त्यन्त प्रत्यय रूप क्रिया-विशेषणात्मक प्रत्यय के साथ परिवर्तित हो जाता है, उदाहरणार्थ-हस्त आ दक्षिणत्रा (ऋग्० 6 18.9)। यहां पर अधिकरणार्थक प्रत्यय त्र का प्रयोग प्रत्यक्षतः हस्ते के ए के रूप में किया गया है। इसी प्रकार ततः पश्चाद् आ मुतः (ऋग् 8.9.6) जैसे पदों में अपादानात्मक प्रत्यय ततः *(तुल० पंचम्यास्तसिल्, पा० 5.3.7) पश्चात्* के पंचम्यन्त रूप *आत् का समानार्थी* है। किन्तु इस प्रकार के रूपों की संख्या इतनी नगण्य है कि इसके आधार पर यह निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता कि संस्कृत अपने विकास के प्रारम्भिक काल में विभक्ति प्रधान भाषा न थी। वस्तुतः हमें यह मानने में कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए कि अन्य भारोपीय भाषाओं के समान ही संस्कृत में भी पहले से ही विभक्ति प्रत्ययों का पूरी तरह विकास हो चुका था।

इतना ही नहीं, सच तो यह है, जैसा कि हम पहले बतला चुके हैं, कि संस्कृत ने ही मूल भारोपीय की सम्पूर्ण कारक-प्रक्रिया को पूरी निष्ठा के साथ सुरक्षित रखा। संस्कृत ने तो, यहां तक कि, संज्ञा तथा सर्वनामों के विभक्ति रूपों के भेद को भी दीर्घकाल तक बनाए रखा। *कुछ वाक्य-विन्यासों सम्बन्धी कारणों से अवश्य* ही ब्राह्मण ग्रन्थों में आकर सम्बन्ध के स्थान पर सम्प्रदान का प्रयोग होने लगा था। करण कारक के बहुवचनीय रूपों की रचना में दो विभक्ति प्रत्ययों -ऐः तथा -भिः की सत्ता अवश्य ही इस बात का संकेत देती हैं कि प्रारम्भ में ये प्रत्यय दो भिन्न-भिन्न विभक्तियों की रचना करते होंगे तथा संस्कृत के ऐतिहासिक विकास के किसी काल में इन दोनों का समावेश करण कारक के विभक्त्यन्त रूपिमों में हो गया।

संस्कृत के पद विभाग के प्रसंग में हम बता चुके हैं कि संस्कृत वैयाकरणों के अनुसार संज्ञा, सर्वनाम, विशेषण तथा संख्यावाची शब्दों की गणना 'नाम' पद के अन्तर्गत ही की जाती है। *रूप प्रक्रिया की दृष्टि से भी इन सबकी संरचना का मूलाधार समान ही है अर्थात् संज्ञा बोधक शब्दों के समान ही इनमें भी लिंग,* वचन, विभक्ति-प्रत्यय आदि का विधान होता है। इनकी संरचना कुछ विशेष

रूपों को छोड़कर सभी शब्दों के रूप रचना के नियमों से नियमित होती है।[1] अतः प्रस्तुत विश्लेषण में हम सबका पृथक्-पृथक् विवेचन न करके एक साथ ही यथावश्यक रूप में करेंगे। विशेष प्रकार के नाम पदों में ही प्रयुक्त होने वाले प्रत्ययों एवं तत्सम्बन्धी विकृतियों का अवश्य ही यथावसर पृथक् निर्देश भी किया जाएगा।

रूप रचना की दृष्टि से संस्कृत के नामपद लिंग, वचन तथा विभक्ति के रूप में पृथक्-पृथक् रूपों की रचना करते हैं। सामान्यतः इन शब्द रूप-रचना में तीनों लिंगों, तीनों वचनों तथा आठ विभक्तियों के निर्देशक विभिन्न घटक तत्त्वों का योग होता है। लिंग, वचन एवं विभक्ति के सूचक ये रूप (morphs) कभी पृथक्-पृथक् रूप में, पर प्रायः मलयित (amalgamated) रूप में पाये जाते हैं किन्तु रूपरचना में उनका योगदान अवश्य ही रहता है। साथ ही यह भी आवश्यक नहीं कि प्रत्येक नाम पद की रूपरचना का रूप इनके अनुसार समरूप एवं समसंख्यक ही हो। कुछ नाम-पद ऐसे भी होते हैं, यथा-दार, अप, प्राण, असु आदि, जिनकी रूपरचना केवल वचन विशेष में ही हो सकती है। इसी प्रकार संख्या बोधक पद भी एकत्व, द्वित्व या बहुत्व की बोधकता के अनुसार केवल वचनविशेष में ही शब्द रूपों की रचना करते हैं। लिंग की दृष्टि से भी कुछ शब्द ऐसे होते हैं जिनका प्रयोग एकाधिक लिंगों में होता है। यथा—तट, तटी, तटम्। अतः वे उन शब्दों की तुलना में अधिक शब्द रूपों की रचना करते हैं जो कि केवल लिंग विशेष में ही प्रयुक्त होते हैं। विभक्ति सम्बन्धी रूपों में भी एकरूपता नहीं पायी जाती। कुछ सर्वनाम पद ऐसे होते हैं जिनके कि आठवीं विभक्ति अर्थात् सम्बोधन के रूप नहीं बनते।

प्रत्येक नामपद चाहे नियतलिंगी हो या अनियतलिंगी, अर्थ की दृष्टि से उसके अधिक से अधिक चौबीस रूप (8 विभक्ति × 3 वचन) हो सकते हैं, किन्तु संरचनात्मक दृष्टि से किसी भी नामपद के इतने रूप नहीं होते। संस्कृत की रूप प्रक्रिया (morphology) के संरचनात्मक विश्लेषण के आधार पर देखा जाता है कि इन रूप प्रक्रियात्मक पदरूपों की संख्या अधिक से अधिक 17 (अकारान्त पुल्लिंग शब्दों में) तथा कम से कम 13 (हलन्त या इकार, उकार वाले नपुंसक लिंग शब्दों में) होती है। इन संरचनात्मक रूपों का विवरण इस प्रकार प्रस्तुत किया जा सकता है—प्रथम प्रकार के शब्दों के, यथा—राम आदि में प्रथमा आदि आठों विभक्तियों के एक वचन के रूप 8 + द्विवचन के रूप 3 + बहुवचन के

---

1 लिंग की दृष्टि से संज्ञा-वाचक एवं विशेषण वाचक शब्दों का मुख्य अन्तर यह होता है कि संज्ञा शब्दों का कोई एक ही लिंग होता है जब कि विशेषण शब्द तीनों ही लिंगों में प्रयुक्त हो सकते हैं।

रूप 9=17 तथा द्वितीय प्रकार के शब्दो, यथा—मनस्, पयस्, वारि, मधु आदि मे एक वचन के रूप 5+ द्विवचन के रूप 3+ बहुवचन के रूप 5=13; किन्तु आकारान्त एवं हलन्त स्त्री लिंग तथा उकारान्त नपुंसक यथा—लता, ज्ञान, वाक्, गिर् आदि मे 14 (6+3+5) तथा इ, उ, ऋ आदि स्वरों के अन्त होने वाले स्त्रीलिंग शब्दों, यथा—धेनु, नदी, मातृ, गो आदि मे 15 (6+3+6) रूप होते हैं। इसके अतिरिक्त मति, धेनु, भू आदि स्त्रीलिंगी शब्दो मे चतुर्थी, पचमी एव सप्तमी के एक वचन मे वैकल्पिक रूपो के कारण 3 रूप और भी बन जाते हैं, पर किसी भी स्थिति मे यह सख्या 17 से अधिक नही होती है। द्विवचन मे ही प्रयुक्त होने वाले उभ, द्वि आदि शब्दो के केवल 3 रूप तथा केवल एक वचन मे (यथा-एक) या केवल बहुवचन, यथा-अप्, असु, बहु, त्रि, चतुर् आदि मे प्रयुक्त होने वाले शब्दो के केवल 6 रूप बनते हैं।

अर्थ की दृष्टि से नामपदो के 24 विभक्त्यन्त रूपो का सामान्यतः 13—17 रूपों मे सीमित हो जाने का कारण यह है कि एक तो विभक्तियो के संरचनात्मक रूप की दृष्टि से द्विवचन मे आठों विभतियो के केवल तीन ही रूप बनते हैं अर्थात् प्रथमा, द्वितीया एव सम्बोधन मे एक रूप, तृतीया, चतुर्थी, पचमी मे एक रूप तथा षष्ठी, सप्तमी में एक रूप। इसके अतिरिक्त सामान्यत. पंचमी, षष्ठी एक वचन मे एक रूप, चतुर्थी पचमी एक वचन मे एक रूप बनता है। इस प्रकार सामान्य रूप सख्या 24—5=19—2=17 रह जाती है। जिन शब्दों मे प्रथमा एव द्वितीया बहुवचन के रूप भी समान होते है वहा 16 तथा जहा प्रथमा, द्वितीया एकवचन में रूप समान होते है वहा 15 ही रह जाते हैं। सम्बोधन के रूप भी प्राय-प्रथमा विभक्ति के रूपो से अभिन्न होते हैं अतः यह सख्या वस्तुतः 16—2=14, 15—2=13 ही रह जाती है।

अब हम यहा पर संस्कृत पदरूप प्रक्रिया के मूल घटकों अर्थात् लिंग एव सम्बन्ध तत्त्वों के बोधक रूपिमों अर्थात् सुबन्त प्रत्ययो के स्वरूप तथा उनके द्वारा होने वाली विभक्त्यन्त पदसचना के विविध पक्षो पर विस्तृत रूप से प्रकाश डालेंगे।

संस्कृत मे लिंग तीन माने गए है—पुंलिंग, स्त्रीलिंग तथा नपुंसक लिंग और इनका विधान व्याकरणात्मक होता है अर्थात् इनका आधार शब्द से संकेतित वस्तु या व्यक्ति या प्राकृतिक लिंग नही होता, यथा स्त्री या पत्नी के बोधक शब्दो मे दारा पुंलिग है तो पत्नी स्त्रीलिंग और कलत्रम् नपुंसक लिंग। निपातो एवं क्रियापदो को छोड़कर प्रत्येक शब्द का प्रयोग किसी न किसी लिंग मे अवश्य होता है। संज्ञावाचक शब्दो का लिंग नियत होता है, किन्तु विशेषण, सर्वनाम तथा संख्यावाचक शब्दो का लिंग नियत नही होता है। इनके लिंग का निर्धारण उस सज्ञा शब्द के अनुसार किया जाता है जिसके साथ कि इनका सम्बन्ध होता है।

संस्कृत का लिंग विधान व्याकरणात्मक होने के कारण संस्कृत के वैयाकरणों ने शब्दों के लिंग परिज्ञान के लिए विशेष रूप से लिंग-विधान के नियमों (लिंगानुशासन) की अवतारणा की है।

संज्ञापदों के लिंग विधान के सम्बन्ध में भाषा-वैज्ञानिकों का कथन है कि मूल भारोपीय में सम्भवतः दो ही लिंग प्रचलित थे। एक सामान्य लिंग, जिसमें कि स्त्रीलिंग तथा पुंलिंग दोनों ही समाहित थे तथा दूसरा नपुंसक लिंग। इस अनुमान का आधार यह है कि भारोपीय के प्राचीनतम रूप को पूरी तरह सुरक्षित रखने वाली हित्ती भाषा में उपर्युक्त प्रकार के दो ही लिंगों का विधान पाया जाता है। प्रतीत होता है कि भारोपीय की अन्य शाखाओं के समान ही संस्कृत में भी यह पुंलिंग-स्त्रीलिंग का भेद इनके विकास काल में बहुत बाद में जाकर हुआ। यही कारण है कि संस्कृत में देवता स्त्रीलिंग एवं मित्र जैसे स्त्री-पु० लिंग बोधक शब्द नपुंसक लिंग में पाए जाते हैं। लिंग भी पदरूप संरचना में इन घटक रूपिमों के विभिन्न उपरूपों (allomorphs) के प्रयोग का नियामक हुआ करता है। अतः पदरूप रचना में इसका महत्त्व भी स्वयं सिद्ध है।

संस्कृत में वचनों की संख्या तीन है जो कि क्रमशः एकत्व, द्वित्व एवं बहुत्व का बोध कराते हैं। तुलनात्मक भाषाशास्त्र के विद्वानों ने संस्कृत, ग्रीक तथा लिथुआनियन में उपलब्ध द्विवचन के आधार पर बहुत पहले ही निष्कर्ष निकाला था कि द्विवचन की स्थिति मूल भारोपीय में भी अवश्य रही होगी, किन्तु अब हित्ती भाषा में भी द्विवचन की सत्ता प्राप्त हो जाने से इस अनुमान की पूरी तरह पुष्टि हो गई है कि संस्कृत का द्विवचन मूल भारोपीय की ही देन है।

रूप प्रक्रियात्मक संरचना के लिए संस्कृत के नामपदों की प्रकृति को परम्परागत रूप से दो भागों में विभक्त किया जाता है। (1) अजन्त अर्थात् स्वरों से अन्त होने वाले प्रातिपदिक, (2) हलन्त अर्थात् व्यंजनों से अन्त होने वाले प्रातिपदिक। विभक्ति प्रत्ययों की योजना के लिए पुनः इनका उप-विभाजन किया जा सकता है जिसके अनुसार अजन्त प्रातिपदिकों को पांच भागों में तथा हलन्त प्रातिपदिकों को दो भागों में रखा जा सकता है। अजन्तों के उपभेद हैं—(1) अकारान्त तथा आकारान्त, (2) इकारान्त तथा उकारान्त, (3) ईकारान्त तथा ऊकारान्त, (4) ऋकारान्त तथा (5) ध्वनि युग्मान्त (diphthong-ending)।

हलन्त प्रातिपदिकों के दो उपभेद होंगे (1) विकृत तथा (2) अविकृत। विकृत अर्थात् परिवर्तनशील अन्त वाले हलन्त प्रातिपदिक वे माने जाते हैं जिनमें कि विभक्ति प्रत्ययों के लगाये जाने पर किसी प्रकार विकृति अर्थात् दीर्घ, लोप, सम्प्रसारण आदि हो जाती है, यथा—मनस्, विद्वस्, महत्, राजन्, प्रत्यच् आदि। पदरचना की दृष्टि से ऐसे हलन्त पद प्रायः स्, त्, न्, च्, अन्त वाले होते हैं। उदाहरणार्थ, मनांसि, विदुषा, महान्, राजा आदि रूपों में इन विकृतियों को देखा

जा सकता है।

अविकृत अर्थात् अपरिवर्तनशील अन्त वाले हलन्त प्रातिपदिक वे हैं जिनमे कि विभक्ति प्रत्ययो के योग मे सन्ध्यात्मक परिवर्तनों को छोडकर कोई परिवर्तन या विकार नही होता, अर्थात् वे सभी विभक्त्यन्त रूपों मे अपने मूल रूप को बराबर उसी रूप मे बनाए रखते हैं, यथा—सुहृत्, जगत्, मरुत्, वाच्, आदि। इनमे शून्य प्रत्यय से पूर्व मे च् का क् (वाच्>वाक्) या घोष ध्वनि से पूर्व अघोष अन्त्य ध्वनि का घोषत्व (वाग्भ्याम्, मरुद्भि) जैसे केवल सध्यात्मक परिवर्तन होते हैं, मूल रूप मे कोई परिवर्तन या विकृति नही होती।

विभक्ति प्रत्यय—पीछे कहा गया है कि संस्कृत एक सश्लिष्ट भाषा है तथा इसके नामपदों की रूप रचना के लिए छः कारकों और सप्त विभक्तियों का विधान किया गया है। कारकों का सम्बन्ध वाक्य रचना में होने के कारण उन पर उसी प्रकरण में विमर्श किया जायेगा। यहा पर हम नामपदों के रूप रचना (inflection) से सम्बद्ध विभक्ति प्रत्ययों के सम्बन्ध मे ही किंचित् चर्चा करेंगे।

आचार्य पाणिनि ने नामपदो की रूपरचना के सन्दर्भ में प्रथमा से लेकर सप्तमी तक प्रत्येक विभक्ति के तीनो वचनों के लिए अलग-अलग विभक्ति प्रत्ययों का विधान किया है। मूलत. इन सुप् प्रत्ययों (सु से लेकर सुप् तक) की संख्या 21 परिगणित की गई है,[1] यद्यपि कई विभक्तियो मे ये प्रत्यय एकाधिक विभक्ति वचनो में समानता रखते हैं, विशेषकर द्विवचनो मे। किन्तु सस्कृत की भाषिक रचना के विश्लेषण से पता चलता है कि इनमें से केवल -भ्याम् को छोड़कर और सभी के एकाधिक उपरूप या संरूप पाये जाते हैं जो कि स्पष्टतः परिपूरक वितरणो मे घटित होते हैं। वितरण का आधार नाम पद की अन्तिम ध्वनि तथा उनका सज्ञा, सर्वनाम आदि व्याकरण कोटिक विभाजन होता है। इनका विस्तृत विवेचन लेखक की कृति 'संस्कृत का ऐतिहासिक एवं संरचनात्मक परिचय' (पृ० 130-150) मे दिया गया है। जिज्ञासु पाठको को वही देख लेना चाहिए। यहां पर हम प्रत्येक विभक्ति प्रत्यय के रूपों की तालिका मात्र प्रस्तुत करेंगे जो कि इस प्रकार है—

1. स्वौजसमौट्छष्टाभ्याम्भिस् ङेभ्याम्भ्यस् ङसिभ्याम्भ्यस् ङसोसाम्ङ्योस्सुप् (पा० 4:1:2, 46)

	एकवचन	द्विवचन		बहुवचन	
रूपिम	सरूप	रूपिम	सरूप	रूपिम	संरूप
प्रथमा—सु	स्/म्/त्-द्/θ	औ	ई/ऊ	जस्	अस्(स्/θ
द्वितीया—अम्	अम्/म्/त्-द्/θ	औट्	औ/नी	शस्	इ/नि/न्
तृतीया—टा	आ/एन/इन/ना	भ्याम्	भ्याम्	भिस्	एस्/एभिस्/भिस्
चतुर्थी—ङे	य/ए/ऐ/यै/स्मै/ने	"	"	भ्यस्	भ्यस्/एभ्यस्
पंचमी—ङसि	आत्/स्मात्/त्	"	"	"	" "
पंचमी-षष्ठी —ङस्, ङसि	आम्/स्याम्	"	"	"	
षष्ठी—ङस्	स्य	ओस्/नोस्		आम्	आम्/नाम्/साम्
सप्तमी—ङि	इ/औ/आम्/याम् स्याम्/स्मिन्/θ	"		सु	" सु/षु

विभक्ति-प्रत्ययों की योजना का सिद्धान्त

संस्कृत के नामपदों की रूपरचना के विश्लेषण में देखा जाता है कि संस्कृत शब्दों की रूपरचना में जहां एक ओर किसी रूपिम के अनेक उपरूप पाये जाते हैं, वहीं स्वयं शब्दमूल में भी अनेक प्रकार के रूपस्वनिमिक परिवर्तन पाये जाते हैं। संस्कृत वैयाकरणों ने शब्द-रूपरचना के सिद्धान्त का निरूपण करने के लिए इन्हें मोटे तौर पर अजन्त तथा हलन्त वर्गों में विभक्त किया था। संरचनात्मक दृष्टि से अजन्तों को पुन: चार वर्गों में विभक्त किया जा सकता है—1 अकारान्त, 2. इकारान्त-उकारान्त, 3 ईकारान्त-ऊकारान्त तथा आकारान्त, 4. ऋकारान्त। रूपस्वनिमिक परिवर्तनों का आधार यही अन्तिम ध्वनियां रही हैं।

विभक्ति प्रत्ययों की योजना के सम्बन्ध में भी इन प्रत्ययों के उपरूपों का आधार कभी ध्वन्यात्मक अर्थात् प्रातिपदिक की अन्तिम ध्वनि, कभी रूपात्मक तथा कभी दोनों ही मान गये हैं, यथा —*निम्नलिखित उपरूपों के वितरण का आधार* ध्वन्यात्मक (phonetic) अकारान्त मूल पाया जाता है।

भिस्→ऐस्—रामैः, देवैः, फलैः आदि।

आ→इन—रामेण, देवेन, फलेन आदि।

आत्→आत्—रामात्, देवात्, फलात् आदि।

अस्→स्य—रामस्य, देवस्य, फलस्य आदि।

ए→य—रामाय, देवाय, फलाय आदि।

इसी प्रकार निम्नलिखित उपरूपों का आधार रूपात्मक (morphological) है।

स्→म् (प्र०, ए० व०) नपुंसक लिंग—ज्ञानम्, फलम् आदि।
औ→ई (प्र०, द्वि०, द्वि० व०) स्त्री/नपु० लिंग—रमे, लते, ज्ञाने, फले,।
ए→स्मै (च०, ए० व०) सर्वनाम—सर्वस्मै, तस्मै, पूर्वस्मै आदि।
अस्→स्मात् (पं०, ए० व०) सर्वनाम—सर्वस्मात्, विश्वस्मात्, पूर्वस्मात्।
ई→स्मिन् (स०, ए० व०)—सर्वस्मिन्, विश्वस्मिन्, पूर्वस्मिन्।
आम्→साम् (ष०, ब० व०)—सर्वेषाम्, विश्वेषाम्, पूर्वेषाम्।

इनके अतिरिक्त ऐसी भी अवस्थितियां पायी जाती हैं जिनमें कि इन उपरूपों का निर्धारण ध्वन्यात्मक तथा रूपात्मक दोनों के आधार पर किया जाता है, यथा स्→θ (शून्य) (प्र०, ए० व०)—हलन्त, पुलिंग, स्त्रीलिंग तथा नपुंसकलिंग—उपानद्, वाक्, जगत् आदि।

स्→θ (शून्य) (प्र०, ए०व०) इकारान्त, उकारान्त नपुंसक लिंग तथा आकान्त स्त्रीलिंग—दधि, मधु, वारि, लता, रमा आदि।

आम्→नाम्—(ष०, ब० व०) अ, इ, उ, ऋ अन्त वाले पुलिंग तथा आ, ई, ऊ, ऋ अन्त वाले स्त्रीलिंग—रामाणाम्, कवीनाम्, साधूनाम्, पितृणाम्, लतानाम्, नदीनाम्, धेनूनाम् आदि।

इनके अतिरिक्त कुछ उपरूप ऐसे भी हैं जिनका आधार ध्वन्यात्मक या रूपात्मक न होकर शब्दमूल विशेष होता है। इस वर्ग में व्यक्तिवाचक सार्वनामिक पदमूल—युस्मद् तथा अस्मद् की रूपरचना में प्रयुक्त होने वाले उपरूप आते हैं—

औ→आम् (प्र० द्वि०) युवाम्, आवाम्।
अस्→म् (प्र० ब० व०)—यूयम्, वयम्।
ए→म् (च० ए० व०)—तुभ्यम्, मह्यम्।
भ्यस्→भ्यम् (च० ब० व०)—युष्मभ्यम्, अस्मभ्यम्।
अस्→त्—(प० ए० व०) त्वत्, मत्, युष्मत्, अस्मत्।
आम्→आकम् (ष० ब० व०) युष्माकम्, अस्माकम्।

सर्वनामों का रूप रचनात्मक वैशिष्ट्य—यों तो संस्कृत में पद विभाग की दृष्टि से संज्ञा, सर्वनाम, विशेषण (संख्या वाचक शब्दों सहित) सभी को एक ही कोटि में रखा गया है तथा रूप-रचना की दृष्टि से व्याकरण के नियमों का इन सभी पर समान रूप से अनुप्रयोग होता है, किन्तु नामपदों के संरचनात्मक विश्लेषण से विदित होता है कि सार्वनामिक पदमूल तथा विभक्ति प्रत्यय अनेक रूपों में अन्य नामपदों से भिन्नता रखते हैं। यहां तक कि अनेक रूपों में तो भिन्न-भिन्न विभक्त्यन्त रूपों के साथ भिन्न-भिन्न पदमूल दिखाई देते हैं। सार्वनामिक पदमूलों की ये विशेषताएं मुख्यतः पुरुषवाचक सर्वनामों में पायी जाती हैं।

रूपरचना की दृष्टि से पुरुषवाचक सर्वनामों, विशेषकर प्रथम तथा मध्यम पुरुषवाचक में यह विशिष्टता विशेष रूप से दर्शनीय है, (1) इनमें लिंग भेद नहीं

पाया जाता जो कि प्राचीन भारोपीय की विशेषता के अनुरूप है तथा जो इसे लिंग भेद वाली सैमेटिक भाषाओं से पृथक् भी करता है। इनमें से लिंग भेद को दिखाने वाला एक मात्र उदाहरण युष्माः(स्त्री० द्वि व०, ब०) वैदिक संस्कृत में पाया जाता है। (2) वचन भेद को सर्वदेशात्मक भिन्न-भिन्न कारकों के लिए भी भिन्न-भिन्न पदमूलों के द्वारा प्रदर्शित किया जाता है, 3. इसी प्रकार भिन्न-भिन्न कारकों के लिए भी भिन्न-भिन्न पदमूलों का प्रयोग किया जाता है, (4) अनेक बहुवचन विभक्ति प्रत्यय आंशिक रूप में एक वचन के विभक्ति प्रत्ययों से साम्यता रखते हैं, यह विशेषता ऐतिहासिक पूर्वकाल के रूपों में विशेष रूप से दर्शनीय हैं, (5) संज्ञा शब्दों में प्रयुक्त होने वाले विभक्ति प्रत्ययों तथा इन पुरुषवाचक सर्वनामों में प्रयुक्त होने वाले विभक्ति प्रत्ययों में बहुत बड़ा अन्तर है। इस प्रकार हम देखते हैं कि जहां संज्ञा पदों की रूप रचना में पदमूल सर्वदा अपरिवर्तित रहता है और लिंग, वचन एवं विभक्ति की विभेदकता विभक्ति प्रत्ययों द्वारा प्रदर्शित की जाती है वहां सर्वनामों में यह विभेदकता विभक्ति प्रत्ययों द्वारा उतनी नहीं जितनी कि स्वयं पदमूल के ही परिवर्तन के द्वारा दिखाई जाती है। वचन की दृष्टि से तो यह विभेदकता सगत भी प्रतीत होती है, क्योंकि अहम् से बनने वाले आवाम् तथा वयम् में संख्या की वही स्थिति नहीं होती है जो कि वृक्ष. से बनने वाले वृक्षौ या वृक्षाः में होती है। अर्थात् वृक्षौ में वृक्ष + वृक्ष की स्थिति स्पष्ट है, किन्तु इसी के अनुरूप आवाम् में अहम् + अहम् की स्थिति कभी भी सम्भव नहीं हो सकती। यह सदा ही अहम् + त्वम् या अहम् + स. का बोध कराता है। अतः ऐसी स्थिति में इसका बोधक अहम् पदमूल नहीं हो सकता था तथा इस दृष्टि से प्रथम तथा मध्यम पुरुष वाचक सर्वनामों में भिन्न-भिन्न वचनों के लिए भिन्न-भिन्न पदमूलों का प्रयोग सर्वथा असंगत तो नहीं पर भिन्न-भिन्न कारकों अथवा विभक्तियों में भी इनकी एकरूपता का न होना अतिरिक्त विश्लेषण की अपेक्षा रखता ही है। (दे०, म० ऐ० स० व०, पृ० 162-65)

संख्यावाचक पदों की रूप रचना—संस्कृत के नामपदों की रूपरचना के प्रसंग में उनके संख्यावाचक पदों के विषय में भी संक्षिप्त रूप में विचार कर लेना अपेक्षित है। विशेषणों के अंगभूत संख्यावाचक पद नामपदों के अंग तो होते ही हैं साथ ही इनकी रूपरचना भी अन्य नामपदों की रूपरचना से किसी प्रकार भी भिन्न नहीं होती। इनके साथ प्रयुक्त होने वाले विभक्ति प्रत्ययों का रूप सार्वनामिक विभक्ति प्रत्ययों के अनुरूप होता है। संख्यावाचक शब्दों का प्रयोग दो रूपों में होता है—1. गणनावाचक 2 क्रमवाचक। इनका विवरण इस प्रकार होगा—

गणनावाचक—क्योंकि संख्यावाचक शब्दों का प्रयोग विशेषण के रूप में होता है इसलिए सामान्यतः इनका लिंग का निर्धारण विशेष्य के लिंग के अनुरूप होता है तथा वचन की दृष्टि से भी एकत्व, द्वित्व या बहुत्व की बोधकता के अनुसार वचन

का निर्धारण होता है, किन्तु इस सम्बन्ध में कुछ विशेष नियम भी है, जिसका संक्षिप्त उल्लेख यहां आवश्यक होगा।

1. लिंग और वचन की दृष्टि से एक से लेकर चार तक के बोधक शब्द तीनों ही लिंगों में रूप रचना करते है। इनमें से एक का केवल एकवचन में, द्वि का केवल द्विवचन में तथा शेष का केवल बहुवचन में प्रयोग होता है।

2. पंचन् (5) से लेकर नवदशन् (19) तक सारे शब्दों के रूप केवल बहुवचन में होते हैं तथा तीनों ही लिंगों में समान होते हैं।

3 विंशति (20) से लेकर नवनवति (99) तक सभी संख्यावाचक शब्दों के रूप केवल स्त्रीलिंग, एकवचन में होने हैं तथा शत (100), सहस्र (1000) आदि के रूप केवल नपुंसक लिंग एकवचन में ही होने हैं। फलतः बहुवचन या स्त्रीलिंग या पुंलिंग विशेष्यों के साथ भी इनके रूप उपर्युक्त रूप में ही प्रयुक्त होंगे—

शतं ब्राह्मणा: गच्छन्ति, सहस्रं पुरुषा: गच्छन्ति।
विंशति स्त्रिय: गच्छन्ति, त्रिंशत् कन्यकाः पठन्ति॥

किन्तु यदि 'बीसों', सैकड़ों' का भाव प्रकट करना हो तो उस अवस्था में सख्येय शब्द में षष्ठी बहुवचन का प्रयोग करके इनका प्रयोग अभिप्रेत वचन एवं लिंग के अनुसार कर लिया जाता है, यथा—विंशतयो छात्राणां गच्छन्ति 'बीसों छात्र जा रहे हैं', सहस्राणि फलानां पतन्ति 'हजारों फल गिर रहे हैं।' किन्तु यह प्रयोग विभक्ति या वचन के बिना भी हो सकता है—नवति नाव्यानाम् 'नब्बे नावें।'

संस्कृत के संख्यावाचक शब्दों की संरचना दाशमिक प्रणाली के आधार पर की जाती हैं, दस के आगे के संख्यावाचक शब्दों की रचना में प्रथम घटक प्रथम दस तक के वाचकों में से होता है तथा द्वितीय घटक सम्बन्धित दशक का वाचक शब्द, यथा—एकादश (एक + दश) पंचविंशति (पच + विंशति = 25) आदि।

किन्तु नौ से युक्त संख्या अर्थात् 19, 29, 39, 49, आदि की रूपरचना में दो प्रकार के उपरूपों का प्रयोग किया जाता है—1. एकोन 2 नव। इनमें से एकोन के योग में तो द्वितीय घटक अग्रिम दशक की संख्या का बोधक होता है—एकोनविंशति (19 = 20 — 1) अर्थात् बीस से एक कम, एकोनत्रिंशत् (29 = 30 — 1) आदि तथा नव के योग में द्वितीय घटक पूर्व दशक का बोधक होता है, यथा—नवदश (10 = 9 + 10), नवविंशति (20 – 9 + 20) आदि।

सौ से अधिक संख्या का बोध कराने वाले पदों की रचना समस्त पदों के रूप में होती है। इसमें इकाई अथवा दशक की वाचक संख्याओं के बाद अधिक पद को जोड़कर अन्त में क्रमश: प्राप्त संख्या के अनुसार शतम्, सहस्रम् या लक्षम् का प्रयोग किया जाता है, यथा—एकाधिक शतम् (101), पचाशतदधिक शतम् (150)

पंचाधिकं द्विशतम् (205), विंशत्यधिकं सहस्रम् (1020), शताधिकं सहस्रम् (1100)। यहां अधिक पद के स्थान पर उत्तर पद का भी प्रयोग हो सकता है, यथा—एकोत्तरं शतम् (101), शतोत्तरं सहस्रम् (1100) आदि।

इसके अतिरिक्त प्रथम घटक के रूप में संख्यावाचक शब्दों की रूपरचना में द्वि, त्रि और अष्टन् के द्वा, त्रय, अष्टा उपरूप भी बनते हैं। दश, विंशति एवं त्रिंशत् के योग में तो ये उपरूप नित्य रूप में तथा चत्वारिंशत् (40), पंचाशत् (50) आदि के योग वैकल्पिक रूप में प्रयुक्त होते हैं, द्वादश, त्रयोदश, अष्टादश, द्वाविंशति, त्रयोविंशति अष्टाविंशति, किन्तु द्वाचत्वारिंशत्~द्विचत्वारिंशत्, त्रयश्चत्वारिंशत्~त्रिचत्वारिंशत्, अष्टाचत्वारिंशत्~अष्टचत्वारिंशत् आदि :

क्रमवाचक संख्याशब्द—संस्कृत के क्रमवाचक संख्याशब्दों की संरचना का आधार प्रायः गणनावाचक शब्द ही होते हैं। इनकी 'प्रकृति' में होने वाले परिवर्तनों तथा इनके संघटनाकारी प्रत्यय रूपों का विवरण इस प्रकार दिया जा सकता है—

1. एक, द्वि, त्रि, चतुर, एवं षट् के क्रमवाचक रूपों की रचना में इनकी 'प्रकृति' को पूर्णतः सर्वादेश हो जाता है, फलतः इनके रूप बनते हैं—प्रथम, द्वितीय, तृतीय, चतुर्थ, षष्ठ। विशेषणात्मक होने के कारण इनमें विशेष्य के अनुरूप विभक्ति प्रत्ययों में पूर्व लिंग बोधक प्रत्ययों का योग भी यथावश्यक रूप में हो जाता है—प्रथम, प्रथमा, प्रथमम् इत्यादि

2. पंच, सप्त, अष्ट, नव, दश से क्रमबोधक रूपों की संरचना के लिए इन पर -म प्रत्यय लगाया जाता है—पंचम, सप्तम, अष्टम, नवम, दशम। इनके भी रूप विशेष्य के अनुरूप लिंग बोधक प्रत्यय से युक्त रूप बनते हैं।

3 एकादश लेकर पंचदश तक के रूपों की रचना में इनके साथ विसर्ग (विसर्ग प्रत्यय) का योग हो जाता है—एकादशः (ग्यारहवां), पंचदशः (15वां), नवदशः (19वां)।

4 'बीस' या 'बीस' से ऊपर 'पचास' तक के क्रमवाचक शब्दों की रचना दो प्रकार से होती है : (1) प्रत्ययांश -ति अथवा -त को हटाकर विसर्गों की योजना से, (2) तम प्रत्यय के योग से - विंशति > विंश ~ विंशतितम, त्रिंशत् > त्रिंश त्रिंशत्तम आदि।

किन्तु षष्टि से नवति तक के रूपों की रचना नियमित रूप से तम प्रत्यय के साथ ही की जाती है—षष्टितमः (60वां), नवतितम (90वां), परन्तु इनसे पूर्व में यदि कोई अन्य संख्यावाचक शब्द हो तो विकल्प से इनके अन्त्य इ के स्थान पर अ हो जाता है तथा इन रूपों में पुनः तम का प्रयोग भी नहीं होता—एकषष्टितम~एकषष्ट (61वां) द्विसप्ततितम~द्विसप्तत (72वां), एकनवतितम ~एकनवत (91वां) आदि। शत एवं सहस्र में केवल तम का प्रयोग किया जाता है—

शततम (सौवां), सहस्रतमः (हजारवां)।

अन्य भारोपीय भाषाओं में प्राप्त इनके समानार्थी रूपों से इनकी तुलना करने पर ज्ञात होता है कि इनके उपर्युक्त रूपों का विकास भारोपीय मूलों से हुआ है।

1 सं० प्रथम · अवे० फ्रतुअम।

2 स० द्वितीय· अवे० दइबित्य, बित्य, प्रा० फा० दुविविय।

3 सं० तृतीय—अवे० थ्रित्य, लै० तेर्तिउस्।

4 स० चतुर्थ ग्रीक—तेंतर्तोस, लिथु० केत्विर्तस्।

स० 2० तुरीय~तुर्य : अवे० तूइर्य।

5 सं० पंचम . पहलवी—पंजुम।

ऋग्वेद (10 61 1) मे इसका *पक्थ रूप भी पाया जाता है, जो प्राचीनतर रूप प्रतीत होता है क्योंकि इसके समानान्तर रूप अन्य भाषाओं मे भी पाये जाते* हैं—अवे० पुख्द्, उच्च जर्मन—फुन्फ्तो, ग्रीक—पेंम्प्तोस। इसके अतिरिक्त काठक संहिता मे इसका पंचथ रूप भी पाया जाता है तथा इसका अनुरूपी रूप गालिक में पिम्पॅहोस् तथा प्राचीन वेल्स में पिम्फेत् पाया जाता हैं। लगता है कि यहा पर थ चतुर्थ के सादृश्य से आ गया है।

6 स० षष्ठ . ग्रीक—हेक्तोस् : लै० सेक्स्तुस्।

7. म० सप्तम फा०—हफ्तम, ग्राक—हेब्दोमोस् : लैटिन सेप्तिमुस्।

इस सामान्य रूप के अतिरिक्त ऋग्वेद मे इसका *सप्तथ रूप भी पाया जाता है तथा इसका समानार्थी अवेस्ता का रूप हप्तथ इस बात का संकेत करता है कि* भारत–ईरानी काल में इसका यही रूप प्रचलित था।

8. अष्टम—अवेस्ता मे इसका रूप है—अश्तुअम।

9. नवम—अवे० नओम, प्रा० फा०—नवम।

10 दशम—अवे० दसुअम, लै० देकिमुस्।

प्रो० बरो का विचार है कि क्रमवाचक रूपों की रचना मे मूलत. भारोपीय काल मे केवल अ प्रत्यक्ष का प्रयोग किया जाता था, जो कि सप्तन्+अ (septm +a)=सप्तम तथा दशम्+अ (dekm+a) दशम मे स्पष्ट रूप मे देखा जा *सकता है किन्तु बाद मे इसे म प्रत्यय समझ कर सादृश्य के आधार पर उन रूपों में भी प्रयुक्त किया जाने लगा जिनमे कि मूलत म नहीं था, यथा—अष्टम, नवम (तुल० लै०—ओक्तावुस्, नोनुस् आदि)।*

सादृश्यात्मक रूपरचना की यह प्रवृत्ति आधुनिक बोलियों में भी पायी जाती है। मध्य पहाडी (कुमाऊंनी) मे सप्तमी, अष्टमी, नवमी के सादृश्य पर षष्टमी भी प्रयुक्त होता है।

इसी प्रकार थ के विषय में भी माना गया है कि इसका विकास* ता+अ से हुआ है। उपर्युक्त -थ के समानार्थी ईरानी रूपों से स्पष्ट है कि भारत-ईरानी काल

मे ही इसमें महाप्राणता का योग हो चुका था। चतुर्थ, षष्ठ, सप्तम का विकास इसी रूप में हुआ है।

क्रमवाचक रूपरचना मे दसवें से आगे क्रम के बोधक कुछ समानार्थी रूप इस प्रकार पाये जाते हैं—द्वादश अवे० द्वादश, त्रिंशत्तमः अवे० थ्रिसस्तअम, सहस्रतमः अवे० हज़ङ्रोतम आदि।

आख्यात पदों की रूप-रचना-प्रक्रिया

पद-रचना की दृष्टि से संस्कृत के आख्यात (क्रिया) पदों की रचना का रूप एवं आधार नामपदों (संज्ञा) की रचना की अपेक्षा अधिक सुदृढ़ है। संस्कृत मे आख्यात पदों की रचना दो प्रकार के प्रत्ययो के योग से हुआ करती है। इनमें से एक को तिङ् प्रत्यय-रचना तथा दूसरी को कृत् प्रत्यय-रचना कहा जाता है। तिङ् प्रत्ययों के योग मे बनने वाले आख्यातपद अन्य भारोपीय भाषाओं के आख्यात पदो की भांति वाच्य, लकार, काल, पुरुष तथा वचन से युक्त होते हैं तथा इनकी रचना धातु मूल से की जाती है। धातुओं को मूल मानकर उनसे विविध कालों एवं वृत्तियो को व्यक्त करने के लिए लिंग और वचन के अनुसार अभिप्रेत पदरचना की जाती है। संस्कृत की आख्यात-पद-रचना में तीन प्रकार की वाच्यता, ग्यारह लकारों, तीन कालों, तीन पुरुषो तथा तीन वचनो का प्रयोग किया जाता है। तिङन्त प्रत्ययो के योग मे बनने वाले आख्यात-पद केवल क्रिया का ही नहीं अपितु उसके कर्ता के वचन, पुरुष आदि का भी बोध कराते हैं।

धातुमूल—संस्कृत के धातुमूलों की एक सामान्य विशेषता यह है कि ये सभी मूलतः एकाक्षर (mono-syllabic) होते हैं, अर्थात् इन सभी मे केवल एक स्वर

होता है। यह व्यंजनहीन भी हो सकता है तथा व्यंजनयुक्त भी, जोकि एकाधिक संख्या में इनके उपांश (onset) तथा अपांश (offset) में हो सकते हैं। संस्कृत के धातुपाठों में प्राप्त होने वाले धातुमूलों का ध्वन्यात्मक रूप इस प्रकार पाया जाता है (यहां पर स का अर्थ स्वर एवं व का अर्थ व्यंजन समझना चाहिए)।

1. यथा—स √इ (इण् गतौ), 2 स व, (√आस्, √आप्-), 3. स व व (√अस्-) 4. व स (√कृ-, √दा-), 5. व व स (√क्री-, √प्री-) 6 व व स व (√क्षुध्-), 7. व व स व व (√क्रन्द्-), 8. व स व व (√वन्द्-)।

धातुओं का गणाधीन वर्गीकरण—संस्कृत के लगभग 800 धातुमूलों को वैयाकरणों ने उनकी अभिरचनाओं के आधार पर जिन दस वर्गों (गणों) में वर्गीकृत किया है उनका तथा उनके विभाजन के आधारभूत विकरणों का विवरण इस प्रकार है।

आदर्शधातु	गणनाम	गणबोधक विशेषता (विकरण)[1]
1. भू—होना	भ्वादि	अ-विकरण (धातु स्वर को गुण)
2 अद्—खाना	अदादि	लोप विकरण
3. हु—हवन करना	जुहोत्यादि	विकरण हीन द्वित्व
4 दिव्—खेलना	दिवादि	य-विकरण
5. सु—निचोड़ना	स्वादि	नु-विकरण
6. तुद्—दुखी करना	तुदादि	अ-विकरण, धातु स्वर को गुणाभाव
7. रुध्—रोकना	रुधादि	न-मध्य विकरण
8. तन्—फैलाना	तनादि	उ-विकरण
9. क्री—मोल लेना	क्र्यादि	ना-विकरण
10. चुर्—चुराना	चुरादि	अय्-विकरण

रूप-रचना की दृष्टि से इस प्रकार के गण-विभाजन के अनेक लाभ हैं। एक तो गण विशेष में परिगणित सभी धातुओं के रूप लगभग एक समान बनते हैं; दूसरे शतृ आदि कृदन्त प्रत्ययों के योग से स्त्रीलिंग विशेषणों की रूप रचना करते समय प्रथम, चतुर्थ, षष्ठ एवं दशम गणों के धातुओं से बनने वाले रूपों में ती से पूर्व सब में समान रूप से न् का योग हो जाता है। इसके अतिरिक्त प्रथम, चतुर्थ, षष्ठ एवं दशम अर्थात् भ्वादि, दिवादि, तुदादि एवं चुरादि गणों में परिगणित धातुओं की रूप-रचना में प्रत्यय से पूर्व अंग (stem) अकारान्त हो जाता है, किन्तु

1. विकरण धातु तथा तिङ् प्रत्यय के बीच में प्रयुक्त होने वाला वह अन्तःप्रत्यय है जिससे विभिन्न गणों एवं लकारों की रूपरचना की जाती है।

अन्य गणों में परिगणित धातुओं में ऐसा नहीं होता। यथा—भू + लट् + ति (अ० पु०, ए० व०) से पूर्व में भू > भव् हो जाता है। फलतः भवति रूप की रचना होती है। इसी प्रकार अन्यत्र भी समझना चाहिए।

यद्यपि विवरणात्मक भाषाशास्त्र की दृष्टि से संस्कृत के मूल धातुओं का वर्गीकरण इनकी अन्त्य ध्वनियों के आधार पर—अर्, अन्, अम्, इ, उ, आ, अथवा त्,प्, द्, पृ, म्, ह् आदि से अन्त होने वाले वर्गों में किया जा सकता है तथा कुछ विद्वानों ने ऐसा किया भी है, किन्तु संस्कृत के आख्यात पदों की रूपरचना की दृष्टि से संस्कृत-वैयाकरणों द्वारा विहित उपर्युक्त दस गणात्मक वर्गीकरण ही अधिक संगत है, क्योंकि इसमें समान विकरण वाले धातुमूलों का एक गण विशेष में परिगणन कर दिये जाने से उनकी रूप-रचना की अभिरचना अधिक सरल एवं सुविधाजनक हो जाती है।

पदरचनात्मक आधार पर धातुओं का वर्गीकरण

संस्कृत की सम्पूर्ण पद-रचना का आधार है धातु-मूल, जिन पर विभिन्न व्याकरणिक कोटियों के निर्दशक तिङ् प्रत्ययों का योग करके भिन्न-भिन्न कालों तथा वृत्तियों के बोधक क्रियापदों की रचना की जाती है। मूल धातुओं की ही नहीं, अपितु प्रत्ययान्त धातुओं तथा नाम धातुओं की संरचना प्रक्रिया का रूप भी यही होता है।

धातु के साथ तिङ् प्रत्यय का योग दो रूपों में होता है, एक बिना किसी व्यवधान (संयोजक) के अर्थात् सीधे ही धातु मूल के साथ तथा दूसरा किसी योजक के व्यवधान के साथ। अतः प्रथम प्रकार की रचना का रूप होता है—धातु + तिङ् प्रत्यय, यथा या + ति > याति, अद् + ति > अत्ति आदि, तथा दूसरे प्रकार की रचना का रूप होता है—धातु + योजक (विकरण) + तिङ् प्रत्यय, यथा पठ् + अ + ति > पठति, तुद् + अ + ति > तुदति आदि (पारिभाषिक शब्दावली में इन्हें क्रमशः अव्यवहित शुद्ध तथा व्यवहित शुद्ध कहा जाता है)।

उपर्युक्त दोनों ही प्रकार की संरचनाओं में धातु मूल की दो स्थितियां देखी जाती हैं। एक में प्रत्यय का योग होने पर धातु मूल में किसी प्रकार की विकृति नहीं होती तथा दूसरी में धातु मूल में विकृति (परिवर्तन) आ जाती है। व्याकरण की पारिभाषिक शब्दावली में प्रथम प्रकार को अव्यवहित शुद्ध तथा व्यवहित शुद्ध तथा द्वितीय प्रकार को अव्यवहित विकृत तथा व्यवहित विकृत कहा जाता है। ऊपर दिए गए उदाहरण अव्यवहित एवं व्यवहित शुद्ध के हैं। विकृत वर्ग के सम्बन्ध में उल्लेख्य है कि इनके धातु मूलों में अनेक प्रकार के विकार होते हैं जिन्हें ऊपर स्पष्ट किया जा चुका है।

क्रिया के फल भोक्ता पर आधारित वर्गीकरण—संस्कृत की तिङन्त पद-रचना

की एक अन्यतम विशेषता यह है कि इसमें क्रिया के फल के भोक्ता के अनुसार दो भिन्न प्रकार के प्रत्यय समूहों का प्रयोग किया जाता है। पारिभाषिक शब्दावली में इन्हें 'आत्मनेपद' तथा 'परस्मैपद' कहा जाता है अर्थात् जब क्रिया का फल कर्ता को प्राप्त होता है अथवा यों कहें कि जब कर्ता किसी क्रिया को स्वयं अपने लिए कर रहा होता है तो वहां पर आत्मनेपदी प्रत्ययों से रूप-रचना की जाती है तथा जब कर्ता किसी क्रिया को किसी अन्य व्यक्ति के लिए कर रहा होता है तो वहां पर परस्मैपदी प्रत्ययों के योग से रूप-रचना की जाती है, यथा—स पचते 'वह पकाता है' का अर्थ होगा कि 'पकाने वाला व्यक्ति स्वयं अपने लिए भोजन बना (पका) रहा है' तथा स पचति 'वह पकाता है' का अर्थ होगा कि 'वह किसी अन्य व्यक्ति के लिए भोजन बना (पका) रहा है।' इसी के आधार पर संस्कृत के सभी धातुओं को आत्मनेपदी, परस्मैपदी एवं उभयपदी धातुओं के रूप में वर्गीकृत किया गया है। उभयपदी धातुओं में पद विशेष में प्रयोग का आधार उपर्युक्त क्रिया-कर्ता फल सम्बन्ध ही माना जाता है।

अपने विकास के प्रारम्भिक काल में संस्कृत की इस प्रकार के विशिष्ट पद-प्रयोग की व्यवस्था चाहे जितनी भी सुदृढ़ रही हो, किन्तु देखा जाता है कि यह व्यवस्था उत्तरोत्तर शिथिल होती गई है तथा बाद के साहित्यिक संस्कृत के काल में आकर इसका मुक्त रूप से प्रयोग होने लगा था।

मूल-पद-विभाग के अतिरिक्त उपसर्गों से युक्त होने पर भी कुछ धातुओं का पद-विधान बदल जाता है, यथा—उभयपदी १/कृ- का अनु, परा उपसर्गों के साथ होने पर केवल परस्मैपद में ही प्रयोग किया जाता है। इसी प्रकार १/रम्- यद्यपि मूलतः आत्मनेपदी धातु है पर वि, आ, परि, उप उपसर्गों के योग में इसका प्रयोग केवल परस्मैपदी के रूप में किया जाता है। इतना ही नहीं, कभी-कभी अर्थ भी किसी धातु के पद-विशेष का नियामक हो जाता है *अर्थात् वही धातु एक अर्थ में* आत्मनेपदी होती है तथा दूसरे अर्थ में परस्मैपदी हो जाती है, यथा—१/गम्- धातु मूलतः परस्मैपदी होने पर भी सम् के योग में 'मिलना' अर्थ का द्योतन करने पर आत्मनेपदी हो जाती है। इसी प्रकार १/भुज्- यद्यपि उभयपदी है पर 'खाना' या भोगना' अर्थ का द्योतन करने में इसका प्रयोग आत्मनेपदी के रूप में तथा 'शासन करना' अर्थ में परस्मैपदी के रूप में होता है।

प्रोफेसर बरो का कथन है कि आत्मनेपद तथा परस्मैपद का यह भेद संस्कृत ने भारोपीय से उत्तराधिकार में प्राप्त किया है (तुल॰ ग॰ सचते : ग्री॰ हैपेतइ : लै॰ सेक्विटर)। भारत ईरानी के अतिरिक्त इस रूप में संस्कृत की अधिकतम समानता केवल ग्रीक में ही पायी जाती है (देखो, बरो, पृ॰ 294)।

काल और व्यापार की स्थिति के आधार पर वर्गीकरण—यद्यपि वाच्यता की दृष्टि से संस्कृत के धातुओं में तीन प्रकार की वाच्यता (कर्तृवाच्य, कर्मवाच्य,

भाववाच्य) पायी जाती है, किन्तु प्रयोग की दृष्टि से किसी भी धातु में केवल दो प्रकार के वाच्यों का प्रयोग हो सकता है। इस प्रयोग-योजना का आधार धातुओं की सकर्मकता तथा अकर्मकता को माना जाता है अर्थात् सकर्मक धातुएं केवल कर्तृवाच्य एवं कर्मवाच्य में प्रयुक्त हो सकती हैं और अकर्मक धातुएं केवल कर्तृवाच्य एवं भाववाच्य में।[1] रूप रचना की दृष्टि से कर्तृवाच्य में बनने वाले पदों की निष्पत्ति 'धातु' से सीधे ही 'तिङ् प्रत्ययों के जोड़ने से होती है, किन्तु कर्मवाच्य एवं भाववाच्य की रूप-रचना में धातु के बाद य जोड़कर यह पद-रचना की जाती है तथा इन दोनों के रूपों में कोई अन्तर नहीं होता। कर्मवाच्य तथा भाववाच्य में क्रिया रूपों में पुरुष तथा वचन के कारण होने वाली विविधता नहीं होती, क्योंकि इसमें क्रिया-पद का रूप सदा ही अन्य पुरुष, एक वचन के अनुरूप होता है। पद-प्रयोग की दृष्टि से भी कर्तृवाच्य क्रिया के रूप आत्मनेपद तथा परस्मैपद दोनों के अनुसार बन सकते हैं, किन्तु कर्मवाच्य एवं भाववाच्य में ये रूप केवल आत्मनेपद के अनुरूप ही होते हैं।

लकार (*Tenses and moods*)—*संस्कृत में तीनों कालों तथा पाचों वृत्तियों* (moods) का बोध कराने के लिए 11 लकारों का प्रयोग किया जाता है।[2] संस्कृत वैयाकरणों द्वारा प्रदत्त इनके नाम तथा कालवृत्यात्मक अभिव्यक्ति का रूप इस प्रकार है—

लकार	अर्थाभिव्यक्ति का रूप
1. लट्	वर्तमान काल
2. लिट्	परोक्ष भूत (वक्ता के जीवन से पूर्व की क्रिया)
3 लुट्	अनद्यतन (आज के बाद होने वाली क्रिया)
4. लृट्	सामान्य भविष्यत् (आज या आज के बाद भी)
5 लेट्	सम्भावनार्थक (केवल वैदिक संस्कृत में)
6. लोट्	आज्ञार्थक, (आज्ञा, प्रार्थना आदि)
7. लङ्	अनद्यतन भूत (जो क्रिया आज से पहले हो चुकी हो)
8. विधिलिङ्	प्रवर्तना (आज्ञा, निमंत्रण, आशंसा आदि)
9. आशीर्लिङ्	आशीर्वादादि
10. लुङ्	सामान्य भूत
11. लृङ्	क्रियातिपत्ति, हेतुहेतुमद्भाव।

1. कर्तरि कृत्, (पा० 3 4. 67) ल कर्मणि च भावे चाकर्मकेभ्यः (पा० 3.4.69)
2. इन सभी का आरम्भ ल से होने के कारण इन्हें लकार कहा जाता है।

तिङन्त पदों की रूप-रचना में विभिन्न लकारों में होने वाले परिवर्तनों अथवा विकारों के आधार पर भी संस्कृत के वैयाकरणों ने सम्पूर्ण लकारों को दो वर्गों—सार्वधातुक, आर्ध-धातुक—में विभक्त किया है, अर्थात् जिन लकारों में तिङ् प्रत्ययों के योग में धातु मूल में परिवर्तन या विकार आ जाता है उन्हें 'सार्वधातुक' तथा जिनमें धातुमूल में विकार नहीं आता उन्हें—'आर्धधातुक' कहा जाता है। साहित्यिक संस्कृत में प्रयुक्त होने वाले दस लकारों में से लट्, लोट्, लङ् और विधिलिङ् इन चार लकारों को 'सार्वधातुक' तथा शेष 6 को 'आर्धधातुक' कहा जाता है। इन्हें क्रमशः 'सविकरण' तथा 'अविकरण' रूप भी कहा जा सकता है।

उपर्युक्त काल निर्देशक लकारों की रूपरचना चार अंगभूत मूल रूपों से की जाती है, ये हैं—लट् (वर्तमान), लिट् (परोक्षभूत), लृट् (भविष्यत्), लुङ् (अनिर्दिष्ट भूत)। अंगभूत लट् का रूप ही लङ् (अपूर्ण भूत) की रूप-रचना का आधार बनता है। इसी प्रकार लृट् के अंग में लृङ् तथा लृङ् (हेतु हेतुमद्भाव) के रूपों की रचना की जाती है। वैदिक संस्कृत में लिट् के अंग से भी अपूर्णभूत की रूप-रचना होती थी। लुङ् के अंग से भी अनिर्दिष्ट भूत के रूपों की रचना होती है।

इसके अतिरिक्त विभिन्न वृत्तियों के अभिव्यंजक रूपों की रचना लट् तथा लुङ् के अंगों से होती है। वैदिक संस्कृत में इन दोनों आधारों से निर्मित रूपों में अर्थ की दृष्टि से कोई अन्तर नहीं समझा जाता था, यथा—लुङ् पर आधारित रूप करत् (सम्भावनार्थक) 'वह करेगा' तथा लट् पर आधारित रूप कृणवत् 'वह करेगा' में अर्थ की दृष्टि से कोई महत्त्वपूर्ण अन्तर नहीं है। प्रोफेसर बरो का विचार है कि भूत के विशेष अर्थ के अभिव्यंजक लुङ् का विकास भारत-ईरानी काल में हुआ होगा। मूल भारोपीय में केवल वर्तमान तथा अपूर्णभूत का ही रूप था। इसकी यही स्थिति हित्ती भाषा में भी पायी जाती है। (देखो, बरो, पृ० 296)

संस्कृत व्याकरणों में निर्दिष्ट पाँच वृत्तियों—1. विध्यर्थक, 2. आज्ञार्थक, 3. सम्भावनार्थक, 4 इच्छार्थक तथा 5. अनुनयार्थक के वृत्तिवाचक रूपों की रचना प्राचीन भाषा में किसी प्रकार के अर्थभेद के बिना वर्तमान, अनिर्दिष्ट भूत तथा पूर्ण भूत के अंगों से की जाती थी, किन्तु साहित्यिक संस्कृत में विध्यर्थक-वृत्तिवाचक रूपों का आधार अनिर्दिष्ट भूत, आज्ञार्थक तथा इच्छार्थक का वर्तमान ही रह गया तथा सम्भावनार्थक रूपों का प्रयोग समाप्त ही हो गया। इसी प्रकार उत्तरवर्ती काल में अनुनयार्थक वृत्तिवाचक रूपों का आधार परस्मैपद में अनिर्दिष्ट भूत तथा आत्मनेपद में इष्-युक्त अनिर्दिष्ट भूत हो गया है।

विभक्ति रूपरचना प्रक्रिया—विभक्ति प्रत्ययों के योग से बनने वाले आख्यात-पदों की रूप रचना में काल, लकार, वचन, पुरुष आदि बोधक तत्त्वों का समावेश होता है। काल और लकारों के विधान पर ऊपर प्रकाश डाला जा चुका है। यहाँ पर अन्य तत्त्वों पर विचार किया जायगा।

तिङन्त पदरचना के घटक तत्त्व—तिङन्त पद रचना प्रक्रिया के विविध रूपों एव पक्षों के निरूपण के सम्बन्ध मे यह उल्लेख है कि आख्यात पदों की रचना दो प्रमुख तत्त्वों 'प्रकृति' (धातु) तथा 'प्रत्यय' (तिङ् चिह्न), जो कि समवेत रूप से वाच्य, वचन और पुरुष का भी बोध कराते हैं, से की जाती है, किन्तु रूपरचना में इन दो तत्त्वो के अतिरिक्त और भी अनेक तत्त्व हे जिनके योग से इनके प्रयोग-योग्य रूप की रचना होती है। संस्कृत वैयाकरणो ने इन विशिष्ट तत्त्वों को आगम, *अभ्यास*, विकरण *आदि के नामो से अभिहित किया है।* रूपरचना मे इनकी स्थिति धातु से पूर्व, धातु के मध्य तथा धातु के बाद मे पायी जाती है। इनका निरूपण इस प्रकार किया जा सकता है—

आगम—आख्यात पदरचना मे आगम तीनो ही स्थितियो मे पाया जाता है।

पूर्वागम—लङ्, लुङ् तथा लृङ् के अभिव्यजक रूपों की रचना मे धातु से पूर्व मे अ या आ का आगम हो जाता है, अर्थात् व्यंजनात्मक उपांश वाले हलादि धातुओ से पूर्व अ का तथा स्वरादि (अजादि) धातुओं से पूर्व मे आ का आगम हो जाता है, उदाहरणार्थ, √पठ्>अपठत् (लङ्), अपाठीत् (लुङ्), अपठिष्यत् (लृङ्), √अर्च—आर्चत् (लङ्), √इच्छ>ऐच्छत्। अजादि धातुओं मे आगमात्मक स्वर मे तथा मूल धातु के स्वर मे मिलकर वृद्धि आ, आर्, ऐं, औ हो जाती है। निषेधार्थक मा के योग मे उपर्युक्त आगम नही होता है, मा भवत्= मा अभवत्, मा भूत्=मा अभूत्।

मध्यागम—कुछ परिगणित धातुओं मे धातु के अन्तिम स्वर के बाद म् का आगम होता है, यथा√मुच्->मुञ्चति, √विद्—>विन्दति, √लुप्-> लुम्पति आदि।

पश्चागम—धातुमूल के बाद मे प्रयुक्त होने वाले आगम कई रूपों मे पाए जाते है। इनके प्रमुख रूप इस प्रकार हैं—इ-(इट्) या ई-(ईट्)। यह आगम एक प्रकार से इ विकरण का ही एक रूप है। इसके आधार पर ही संस्कृत के धातुओ का सेट् (इट् सहित) तथा अनिट् (इट् रहित) विभाग किया जाता है। यह *आगम सेट् वर्ग की सभी धातुओ के लुट्, लृट्, लुङ् तथा लृङ् लकारो के अर्थाभि-*व्यजन रूपों की रचना मे होता है, यथा—पठिता, पठिष्यति, अपठिष्यत्, किन्तु लुङ् लकार के प्रथम और मध्यम पुरुष के एकवचन मे ई का आगम होता है, *यथा—अपाठीत्, अपाठी। लिट् लकार, मध्यम पुरुष, एकवचन के रूपों मे विकल्प* से तथा उत्तम पुरुष के द्विवचन तथा बहुवचन के रूपो में नित्य रूप मे-इ- का पश्चागम होता है, यथा—जगमिथ~जगन्थ, जग्मिव, जग्मिम।

इसी प्रकार कुछ विशेष धातुओं मे- य-(√रि>रियति),-व-(बभूव, अभवत्), -र-(√शी>शेरते), अशेरत, शेरताम्,-आय-(√गुप्> गोपायति,-आम्-

(√एध्>एधांचक्रे, √गुप्>गोपयांचकार) आदि आगम होते हैं।

अभ्यास—आख्यात पद रचना के अनेक पद रूपों में धातु मूल का द्वित्वीकृत रूप में पाया जाना संस्कृत पद रचना की एक अन्यतम विशेषता मानी जाती है। संस्कृत में धात्वंश को द्वित्व करने की यह प्रवृत्ति सामान्यतः परोक्षभूत (√भू> बभूव, √गम् – जगाम), सन्नन्त (√कृ>चिकीर्षति, √गम्->जिगमिषति) तथा यङ्लुगन्त (√पच->पापच्यते, √गम्->जंगम्यते) में तो पायी ही जाती है, किन्तु कुछ धातुओं में लट् तथा लङ् के रूप इस बात का स्पष्ट संकेत देते हैं कि ऐतिहासिक विकास क्रम में इन रूपों की रचना मूल धातु के द्वित्वीकृत रूपों के आधार पर हुई है, यथा √दा- का ददाति, √पा- का पिबति, √स्था- का तिष्ठति या अददात्, अपिबत्, अतिष्ठत् आदि रूप मूल के द्वित्वीकृत रूपों के ही प्रतीक हैं।

संस्कृत में द्वित्वीकृत रूपों की रचना के सम्बन्ध में कुछ विशेष नियम होते हैं जो कि सामान्यतः निम्नलिखित हैं—

1. द्वित्व के प्रथम अंश को अभ्यास कहते हैं, अभ्यास में केवल आदि व्यंजन ही शेष रहता है, अन्यों का लोप कर दिया जाता है, यथा—√बुध्->बुबोध, √पठ्->पपाठ।

2 मूल धातु में यदि प्रथम ध्वनि महाप्राण व्यंजन है। तो अभ्यास में उसके महाप्राणत्व का ह्रास हो जाता है अर्थात् वह स्ववर्गीय अल्पप्राण व्यंजन हो जाता है, यथा—√भू->बभूव, √धा->दधाति, √छिद्->चिच्छेद, √स्था>तस्थौ। मूल भारोपीय—घ्य में विकसित ह का अल्पप्राणीकृत रूप ज होता है—हन्<घन्> जघान, हृ->जहार।

3. अभ्यास वाले अंश की कण्ठ्य ध्वनि तालव्य ध्वनि में परिवर्तित हो जाती है, यथा—√गम्->जगाम, √कृ->चकार, √खन्->चखान। इस तालव्यीकरण का ऐतिहासिक आधार यह माना जाता है कि मूल भारोपीय में द्वित्वीकृत रूपों में प्रथम आक्षरिक ध्वनि* ए अपस्वर थी, जिसके फलस्वरूप यह परिवर्तन हो गया। ग्रीक में इसकी स्थिति अब भी पायी जाती है। तालव्यीकरण का यह रूप उन पद रूपों में भी पाया जाता है जिनमें कि अभ्यास के अन्दर का स्वर इ होता है, यथा—√कृ->चिकीर्षति। इसी के सादृश्य के आधार पर उ अभ्यास स्वर वाले रूपों में भी तालव्यीकरण देखा जाता है, √कुट्->चुकोट, कुम्->चुकुम आदि।

4. यदि धातु मूल के आरम्भ में व्यंजन-संयोग हो तो केवल प्रथम वर्ण को द्वित्व किया जाता है, यथा—√क्रम्->चक्राम, किन्तु यदि इस प्रकार के संयोग की प्रथम ध्वनि स तथा द्वितीय ध्वनि अनुनासिक से भिन्न कोई स्पर्श ध्वनि हो तो द्वित्व प्रथम ध्वनि का नहीं अपितु द्वितीय ध्वनि अर्थात् स्पर्श ध्वनि का होता

है, यथा—√स्था->तस्थौ, √स्कन्द>चस्कन्द । पर इसके विपरीत यदि द्वितीय ध्वनि अनुनासिक म्, न् या अन्तस्थ है तो द्वित्व स् का ही होता है, यथा √स्वज्—>सस्वजे ।

5. स्वर-परिवर्तन की दृष्टि से उल्लेखनीय है दीर्घ स्वर का ह्रस्वीकरण, यथा—(1) √दा->ददाति, ददौ, √ढौक्>डढौक, (2) ऋ→अ—√वृत्->ववृते, (3) अ→इ—√भृ->बिभर्ति ।

6 कुछ धातुओं में अभ्यास को सम्प्रसारण भी हो जाता है—√स्वप्->सुष्वापयति, वि-द्युत्>विदिद्युते ।

विभिन्न लकारों एवं अन्य अर्थाभिव्यंजक अभ्यस्त रूपों के अतिरिक्त संस्कृत मे 13 धातुओं का एक ऐसा वर्ग (गण) भी है जिसमे परिगणित सभी धातुओं के सभी रूपों में नियत रूप से द्वित्व होता है। धातुओं के वर्ग विभाजन में इसे तृतीय वर्ग अर्थात् जुहोत्यादि गण के नाम से पुकारा जाता है।

विकरण—विकरण संस्कृत व्याकरण का एक पारिभाषिक शब्द है तथा इसका प्रयोग उन अन्त:प्रत्ययों के लिए किया जाता है जो कि धातु तथा तिङ् चिह्नों के बीच में प्रयुक्त होकर विभिन्न गणों एवं लकारों के तिङन्त पद रूपों की रचना करते हैं। वस्तुतः विकरण संस्कृत के विभिन्न अर्थाभिव्यंजक तिङन्त पदों की रचना तथा संस्कृत की धातुओं के वर्ग-विभाजन का एक महत्त्वपूर्ण अंग है। संस्कृत धातुओं के 'अनिट' तथा 'सेट' रूपों के विभाजन का आधार भी यह विकरण ही है। इस प्रकार ये गणाधीन भी हैं और लकाराधीन भी।

संस्कृत भाषा की पद रचना में प्रयुक्त होने वाले इन विकरणों की संख्या 20 के लगभग मानी गई है। इनका प्रयोग अदादि तथा जुहोत्यादि गणों में परिगणित धातुओं के अतिरिक्त अन्य धातुओं के सार्वधातुक लकारों के विभिन्न रूपों की रचना के लिए किया जाता है। अदादि तथा जुहोत्यादि गणों के धातुओं में किसी भी विकरण का प्रयोग नहीं किया जाता। इन अविकरणात्मक धातुओं में धातु तथा तिङ् चिह्न के बीच अव्यवहित संयोग होता है, यथा—√अस् + ति>अस्ति, √अद् + ति>अत्ति, जुहो + ति>जुहोति। किन्तु विकरण युक्त गणों के धातुओं की रचना धातु + विकरण + तिङ् प्रत्यय के रूप में होती है, यथा—भू + अ + ति>भवति (भ्वादि), दिव् + य + ति>दीव्यति (दिवादि), सु + नो + ति>सुनोति (स्वादि), तुद् + अ + ति>तुदति (तुदादि), तन् + उ + ति>तनोति (तनादि), रुध् + न + ति>रुणद्धि (रुधादि), क्री + ना + ति>क्रीणाति (क्र्यादि), चुर् + अय् + ति>चोरयति (चुरादि)।

शून्य विकरण या विकरणाभाव—ऊपर बताया जा चुका है कि अदादि तथा जुहोत्यादि गणों में परिगणित धातुओं के साथ किसी भी विकरण का प्रयोग नहीं किया जाता है। इन दोनों की रूप रचना का मुख्य अन्तर यह है कि अदादि गण

में तिङ् का योग सीधे ही मूल धातु के साथ हो जाता है यथा—√अस्+ति> अस्ति, किन्तु जुहोत्यादि गण में धातु मूल को द्वित्व करने के बाद उसके साथ तिङ् का योग होता है तथा साथ ही धातु के अनभ्यस्त मूल स्वर को गुण भी हो जाता है, यथा—√हु>जुहु>जुहो+ति>जुहोति, भृ>बिभृ>बिभर्+ति>बिभर्ति। इसके अतिरिक्त इन दोनों गणों की रूप रचना में कोई अन्तर नहीं होता है।

लकाराधीन विकरण—संस्कृत में गण विशेष से सम्बद्ध विकरणों के समान ही लकार विशेष से सम्बद्ध विकरण भी होते हैं। हम इन्हें लकाराधीन विकरण कह सकते हैं, क्योंकि ये धातु तथा तिङ् चिह्नों के मध्य में आकर धातु का अंग बन जाते हैं। इसलिए इनकी गणना विकरणों के अन्तर्गत ही करना अधिक संगत होगा। गणाधीन विकरणों के समान ही लकाराधीन विकरणों का रूप निश्चित होता है तथा सभी लकारों के रूपों में इनका प्रयोग भी नहीं होता। इस दृष्टि से कुछ लकार सविकरण होंगे तथा कुछ अविकरण। लकाराधीन विकरणों का संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है—

स्य~इष्य—इस विकरण का प्रयोग संस्कृत के भविष्य द्योतक लृट् लकार के साथ किया जाता है यथा—दास्यति=दा+स्य+ति, पठिष्यति=पठ्+इष्य+ति। इसकी रूप रचना सविकरण वर्तमान के रूपों के समान ही होती है (भविष्यति)। विकरण के इन दोनों उपरूपों के वितरण का कोई दृढ़ नियम नहीं है।

तर् (तृ)—इसका प्रयोग भी संस्कृत के एक अन्य भविष्य द्योतक लुट् लकार के योग में पाया जाता है। इसके योग में तिङ् प्रत्ययों के स्थान पर अस् धातु के रूपों का मध्यम तथा उत्तम पुरुष में प्रयोग किया जाता है। अन्य पुरुष के रूपों की रचना तृ में अन्त होने वाले नाम पदों के समान ही होती है। इसके परिनिष्ठित रूप ता से पूर्व कुछ रूपों में नाम पद में अंगी-भूत इ का योग भी होता है, यथा—कर्तासि>कृ+तृ+सि, भवितास्य<भू+तृ+स्य, कर्तास्महे आदि। नियत समय के बोधक इस प्रकार के विस्तारित भविष्यत् का प्रयोग सर्व प्रथम ब्राह्मण ग्रन्थों में देखने को मिलता है तथा इसका आत्मनेपदी प्रयोग भी बहुत सीमित समय तक ही देखने को मिलता है। स्पष्ट है कि भविष्यत् के बोधक इन रूपों का विकास केवल भारत-आर्य काल में ही हुआ तथा इसका प्रचलन भी भाषा में बहुत सीमित ही रहा।

य~इ—इस विकरण का प्रयोग विधिलिङ् के रूपों की रचना में किया जाता है। पूर्ण रूपों में इसका रूप य- तथा ह्रसित रूपों में इ- हो जाता है, यथा—दद्याम्<दद्<√दा+य+अम्, ददीत<दद्√<दा+इ+त+। अ या अय विकरण वाले धातुओं में भी इसका इ वाला रूप ही प्रयुक्त होता है, यथा—भवेत्, तुदेत्, गच्छेत्, चोरयेत् आदि।

इसके अतिरिक्त इस -य- विकरण का प्रयोग आशीर्लिङ् के रूपों की रचना

मे भी किया जाता है, *यथा—भूयात्, भूया*।

साहित्यिक संस्कृत मे आशीर्लिङ् का प्रयोग बहुत ही कम पाया जाता है। इससे पूर्व भी इसका प्रयोग परस्मैपद के रूपो मे अन्य पुरुष, एक वचन मे ही पाया जाता है। वैदिक संस्कृत मे अन्य पुरुष, एकवचन का रूप भूया पाया जाता है। इसके साथ ही वैदिक साहित्य मे आत्मनेपदी प्रयोग मे विधिलिङ् तथा आशीर्लिङ् के रूपो मे कोई भेद नही किया जाता था।

प्रत्ययान्त धातुओं की रूप-रचना

संस्कृत के मूल धातुओं से बनने वाले तिङन्त पदो के अतिरिक्त गौण धातुओ अर्थात् प्रत्यययुक्त धातुओ से भी पद रचना की जाती है। इस प्रकार बनने वाले धातु रूपों को संरचनात्मक दृष्टि से पाच वर्गों मे विभक्त किया जाता है जिन्हे कि प्राचीन व्याकरण परम्परा के अनुसार—(1) कर्मवाच्य, (2) णिजन्त, (3) यङ्लुगन्त या यङन्त, (4) सन्नन्त तथा (5) नामधातु कहा जाता है। इनमे प्रयुक्त होने वाले तिङन्त प्रत्ययो का स्वरूप एवं अर्थ वही होता है, किन्तु इन प्रत्ययो के कारण मूल धातु के अर्थ मे वृद्धि हो जाती है। इनका आधार सामान्यतः मूल धातु का वर्तमानकालिक धात्वंग हुआ करता है। इनका विवेचन इस प्रकार है—

1. कर्मवाच्य—कर्मवाच्य रूपो की रचना दिवादि गण के धातु रूपों के समान ही -य- विकरण के साथ की जाती है। इन रूपो की रचना केवल आत्मनेपद मे होती है, किन्तु दिवादि गण के धातुओ के आत्मनेपदी रूपो मे तथा इनमे स्वरात्मक दृष्टि से यह मुख्य अन्तर पाया जाता है कि इन रूपो मे उदात्त स्वर सामान्यत: य- विकरण पर होता है जब कि दिवादि गण के धातुओं मे यह धात्वंश पर होता है, *यथा*—पच्यते 'पकाता है' : पच्यते '*पकाया जाता है*', इसी प्रकार क्षीयते 'नष्ट होता है' : क्षीयते 'नष्ट किया जाता है' इत्यादि। (प्रेस की कठिनाई के कारण स्वर-चिह्न दिखाया नहीं जा सका है)।

इस प्रकार के कर्मवाच्य रूपों की रचना अवेस्ता के अतिरिक्त अन्य किसी प्राचीन भारोपीय भाषा में नही पायी जाती है, सं० क्रियते अवे. किर्यइन्ते। यह भारत ईरानी काल की एक नवीन भाषायी उद्भावना है जिसके विकास का आधार दिवादि गण के अकर्मक धातुओ के आत्मनेपदी रूपों की आवृत्ति हो सकती है, यथा—जायते 'पैदा होता है', पच्यते 'पकता है', तप्यते 'गरम होना है' आदि। कर्मवाच्य में केवल वर्तमानकालिक रूपों का ही प्रयोग किया जाता है। भूत तथा भविष्यत् काल के रूपों के लिए धातु विशेष के आत्मनेपदी रूपो का ही प्रयोग होता है, *यथा—चक्रे 'किया गया था', करिष्यते 'किया जाएगा' आदि*। लुङ् मे अन्य पुरुष, बहुवचन के विशिष्ट कर्मवाच्य रूपों, यथा—अकारि आदि की ओर ऊपर संकेत किया ही जा चुका है।

समापिका क्रियाओं के बनने वाले कर्मवाच्य रूपों के अतिरिक्त भूतकालिक कर्मवाच्य प्रत्यय त तथा भविष्यत् कालिक कर्मवाच्य प्रत्यय तव्य से भी कर्मवाच्य के अर्थ की अभिव्यक्ति की जाती है। साहित्यिक संस्कृत के उत्तरवर्ती काल में यह प्रवृत्ति अधिक विकास पर पायी जाती है, यथा—अहं पत्र अलिखम् 'मैंने पत्र लिखा' के स्थान पर मया पत्रं लिखितम् 'मेरे द्वारा पत्र लिखा गया' प्रयोग अधिक प्रचलित हो गया। इतना ही नहीं अपितु भाववाच्य रूपों का भी प्रयोग बढ़ने लगा, यथा—इह स्थीयताम् 'यहां ठहरिए' जिसका शब्दार्थ होगा 'यहां ठहरिए होइए।'

2 णिजन्त—प्रत्ययान्त धातु रूपों में णिजन्त अति प्राचीन काल से ही सर्वाधिक उत्पादक रहा है। इसकी रचना धातु मूल पर इ (णिच्>अय्) प्रत्यय जोड़कर की जाती है जो कि चुरादि गण की धातु रूप रचना के समान ही होती है। प्राचीन संस्कृत में अय् प्रत्यय से बनने वाले इन दोनों के रूपों में यह अन्तर था कि चुरादिगण के शुद्ध धातु रूपों में धातु के स्वर को गुण नहीं होता था, जब कि णिजन्त रूपों में यह हो जाता था, यथा—द्युतयति : द्योतयति, रुचयति : रोचयति आदि। इनके प्रथम रूप चुरादि के तथा द्वितीय णिजन्त के हैं। इसके अतिरिक्त प्रेरणार्थक रूपों के अलावा सामान्य रूपों में-अय्-विकरण का प्रयोग किया जाता था, यथा—मदयति 'उन्मत्त होता है', किन्तु बाद के काल में इस प्रकार का प्रयोग या तो सर्वथा समाप्त हो गया या इन रूपों का समावेश चुरादिगण के धातुओं में कर दिया गया।

संस्कृत वैयाकरण इसे प्रेरणार्थक क्रिया भी कहते हैं, क्योंकि इसके द्वारा सामान्य क्रिया के कर्ता को तत्तत् कार्यों के लिए प्रेरित किया जाता है, यथा—शिष्य पठति 'शिष्य पढ़ता है' पर गुरुः शिष्यं पाठयति 'गुरु शिष्य को पढ़ाता है।' इसमें प्रथम को *'प्रयोज्य कर्ता'* तथा द्वितीय को *'प्रयोजक कर्ता'* कहा जाता है। इस प्रकार की प्रेरणार्थक धातुओं से सार्वधातुक लकारों में अ- विकरण लगता है तथा आर्धधातुक लकारों में इ का आगम हो जाता है।

संरचनात्मक दृष्टि से णिजन्त रूप रचना के कुछ उल्लेखनीय तथ्य इस प्रकार होते हैं—

1. सामान्यतः हलन्त धातुमूलों में णिजन्त प्रत्यय के योग में मूल स्वर को गुण हो जाता है—√तृप्>तर्पयति, √बुध्>बोधयति, √चित्>चेतयति। मूल स्वर -अ- यथावत् बना रहता है—√गम्>गमयति, नम्>नमयति। पर यह कोई निरपवाद नियम नहीं है, क्योंकि अनेक -अ- स्वर वाले धातुमूलों में अ को वृद्धिभाव भी देखा जाता है, यथा—√हन्>घातयति, √पठ्>पाठयति।

2. स्वरों से अन्त होने वाले धातुमूलों में अनेक प्रकार के संरचनात्मक रूप देखे जाते हैं—

(अ) सामान्यतः धातु के स्वर को वृद्धिभाव हो जाता है, यथा—√कृ-> कारयति, √चि->चाययति, √भू->भावयति, किन्तु गूहयति <√गूह्, दूषयति < √दुष् में उनको दीर्घ हो गया है।

(आ) आकारान्त धातुमूलों में णिजन्त प्रत्यय से पूर्व में -प् का अन्तर्निवेश कर दिया जाता है—√दा>दापयति, √स्ना->स्नापयति। इसके अतिरिक्त यह अन्तर्निवेश ऋ तथा इ वाले धातुमूलों में भी पाया जाता है, यथा √ऋ->अर्पयति, अधि+√इ>अध्यापयति आदि।

• प के अतिरिक्त और भी कई व्यंजनात्मक अन्तर्निवेश हैं जिनका प्रयोग विभिन्न धातुमूलों में णिजन्त प्रत्यय से पूर्व में देखा जाता है, यथा—ल् : पालयति < √पा-'रक्षा करना', य्—पाययति <√पा-'पीना', प्रीणयति <√प्री-'प्रसन्न होना', -ष्—भीषयते <√भी- 'डरना', -त्—घातयति-<√हन् 'मारना'।

उपर्युक्त सामान्य नियमों के अतिरिक्त णिजन्त रूपरचना के कुछ विशेष नियम भी देखे जाते हैं, यथा—आशीर्लिङ् परस्मैपद में धातु और तिङ् का साक्षात् सम्बन्ध होता है तथा णिजन्त प्रत्यय का लोप हो जाता है, यथा—भाव्यात् < √भू-(आशीर्लिङ् प्र० पु०, ए० व०)।

लिट् लकार के रूपों की रचना के लिए धातु के साथ- आम्-.जोड़कर उसके आगे √कृ-, √भू-,√ अस्-धातुओं के लिट् लकार के रूपों को जोड़ दिया जाता है, यथा—गमयांचकार, नमयामास, पाठयांबभूव आदि।

प्रेरणार्थक धातुओं के लुङ् लकार के रूपों की संरचना के कुछ विशेष नियम इस प्रकार हैं—

इसमें धातु को द्वित्व कर दिया जाता है तथा द्वित्वीकृत धातुमूल में निम्नलिखित परिवर्तन हो जाते हैं।

1. उ या ऊ धातुमूलों के अभ्यास के स्वर को ई हो जाता है—अबीभवत् <√भू, अपीपवत् <√पू-, अरीरवत् <√रु-, पर सु में यह परिवर्तन विकल्प होता है, असिस्रवत्~असुस्रवत् <√सु।

2 धातु के मूल दीर्घ स्वर को प्रायः ह्रस्व हो जाता है, यथा—अयूयुवत् > √यु, अपीप्रिणत् <√प्री।

ऐतिहासिक विकास की दृष्टि से णिजन्त रूपरचना की समानान्तर स्थिति ग्रीक के अतिरिक्त अन्य भारोपीय भाषाओं में बहुत कम पायी जाती है, अतः इसका विकास सम्भवतः भारत-ईरानी काल से पूर्व ही हो गया होगा।

3. यङन्त या यङ्लुगन्त (क्रियासमभिहार, पौनःपुन्यार्थक)—किसी क्रिया के बार-बार होने अथवा अतिशय अर्थ में होने के भाव का बोध कराने के लिए यङ् प्रत्यय का प्रयोग किया जाता है। इसके योग से बनने वाले क्रिया रूपों को यङ् (intensive) कहा जाता है। यङ् प्रत्यय के दो उपरूप होते हैं एक य तथा दूसरा

शून्य। जहां पर य धात्वंग के रूप में विद्यमान रहता है उसे 'यङन्त' रूप कहते हैं तथा जहां यङ् धात्वंग के रूप में नहीं रहता अर्थात् उसका लोप हो जाता है उसे 'यङ् लुगन्त' (यङ् लुक्-अन्त) रूप कहते हैं। इन दोनों में से वैदिक संस्कृत में यङ् लुगन्त का तथा साहित्यिक संस्कृत में यङन्त का सामान्य प्रयोग पाया जाता है। इसके विपरीत वैदिक में यङन्त का तथा साहित्यिक संस्कृत में यङ्लुगन्त का बहुत कम प्रयोग पाया जाता है।

य (यङ्)—इस प्रत्यय की विशेषता यह है कि यह केवल एकाच् हलादि धातुओं के ही योग में होता है[1] तथा इससे बनने वाले क्रियारूप केवल आत्मनेपद में होते हैं। इस प्रत्यय के योग में बनने वाले धातुरूपों में निम्नलिखित रूप-स्वनिमिक विशेषताएं पायी जाती हैं।

1 सार्वधातुक लकारों में प्रकृति प्रत्यय के बीच में अ- विकरण प्रयुक्त होता है—

2 धातुमूल को द्वित्व (अभ्यास) हो जाता है तथा पूर्वोक्त द्वित्व के सामान्य रूपों के अतिरिक्त कुछ निम्नलिखित विशेष रूप भी पाए जाते हैं :

सामान्यतः अभ्यास के स्वर को गुण हो जाता है, यथा—√विद्- > वेविद्यते, √रुच्- > रोरुच्यते, √दिप् > देदीप्यते, √धू > दोधूयते, √मृज्- > मर्मृज्यते आदि। पर अभ्यास के अ- स्वर को -आ हो जाता है—√पच्- > पापच्यते, 'फिर फिर पकाता है,' √याच् > यायाच्यते 'बार-बार मांगता है।'

कई धातुओं में अभ्यास के ऋ को गुण होने पर ई का आगम हो जाता है, यथा—√नृत् > नरीनृत्यते; किन्तु ऋकारान्त धातु यदि केवल एक हल् अर्थात् अयोग व्यंजन सहित हो तो ऋ को री हो जाता है—√कृ- > चेक्रीयते।

इकारान्त तथा उकारान्त धातुओं के अभ्यस्त स्वर को गुण तथा अनभ्यस्त स्वर को दीर्घ हो जाता है—√चि- > चेचीयते, √हु- > जोहूयते।

नासिक्य व्यंजन से अन्त होने वाले धातुओं के अभ्यस्त अंग में नासिक्य व्यंजनांश बना रहता है, यथा—√गम्- > जङ्गम्यते 'बार-बार जाता है', √हन्- < जंहन्यते ~ जंघन्यते 'फिर-फिर मारता है, अत्यधिक मारता है।'

इसके अतिरिक्त कुछ नासिक्य ध्वनिरहित धातुओं में भी यङन्त रूपों में नासिक्य ध्वनि का योग पाया जाता है—√जप्- > जञ्जप्यते, √चुर् > चञ्चूर्यते, √फुल > पम्फुल्यते।

विशेष-विशेष धातुमूलों में इसके अतिरिक्त भी कुछ विशेष तत्त्वों का निवेश पाया जाता है। यङ् के योग के फलस्वरूप बनने वाले रूपों में भी इससे भिन्न प्रकार के रूपस्वनिमिक परिवर्तन देखे जाते हैं, यथा—अभ्यास के इ, उ को गुण:

---

1. अट् > अटाट्यते जैसे रूप इसके अपवाद भी मिलते हैं।

√नी->नेनेक्ति√नेनिक्ते, विद्->वेवेति, √दिश्>देदिष्टे, √हू- 'बुलाना'> जोहवीति, √नु 'गरजना'>नोनवीति।

कभी-कभी धातु और तिङ् के बीच में -ई- का आगम हो जाता है तथा धातु के स्वर को गुण भी होता है, यथा—√भू->बोभवीति~बोभोति, √शी-> शेशयीति~शेशेति।

इस प्रकार के पौनःपुन्यार्थक भाव के अभिव्यंजक रूपों की रचना भारत-ईरानी से बाहर नहीं पायी जाती है, किन्तु ईरानी में इसके पर्याप्त उदाहरण पाए जाते हैं। (देखो, बरो, पृ० 356)

4. सन्नंत—संस्कृत में जब किसी कर्ता के द्वारा किसी क्रिया को करने की इच्छा के भाव को अभिव्यक्त करना हो तो धातु पर -स् (सन्) प्रत्यय लगाकर रूप रचना की जाती है। इसे ही सन्नन्त (सन्+अन्त) या इच्छार्थक रूप कहते हैं। इसमें भी यङन्त रूपों की रचना के समान ही धातुमूल को द्वित्व हो जाता है तथा कई प्रकार के रूप-स्वनिमिक परिवर्तन भी होते हैं तथा इनका प्रयोग दोनों ही पदों में किया जाता है। इनके रूप केवल प्रथम नौ गणों के एक स्वर वाले धातुओं में ही बनते हैं।

सामान्यतः अभ्यस्त मूल के अ, आ, इ, ई, ऋ, ॠ, ए, ऐ, स्वरों को इ तथा उ एवं ऊ, ओ, औ को उ हो जाता है—√ज्ञा, 'जानना'> जिज्ञासति 'जानना चाहता है', √भिद्-'फाड़ना'> बिभित्सति 'फाड़ना चाहता है',√पा- 'पीना'> पिपासति, √पठ्> पिपठिषति, √भी> बिभीषति, √गै- 'गाना'> जिगासति, आदि।

धातु के ऋ को ईर् भी हो जाता है—√कृ 'करना'> चिकीर्षति। प्राय. धातुगत ह्रस्व स्वर को दीर्घ हो जाता है पर दीर्घ स्वर अपरिवर्तित रहता है—√जि- 'जीतना'> जिगीषति, √हु 'हवन करना'> जुहूषति आदि।

कुछ धातुओं में द्वित्व नहीं होता है तथा इनका धातु स्वर इ या ई में परिवर्तित हो जाता है, यथा—√आप्> ईप्सति, √दा> दित्सति, √मि~√मी-> मित्सति, √पद्> पित्सति, आदि।

यद्यपि सन्नन्त प्रक्रिया के बोधक रूप भारत-ईरानी के अतिरिक्त केवल केल्टिक भाषा के प्राचीन आइरिश रूपों में ही पाए जाते हैं, किन्तु इन दो असम्बद्ध भाषा वर्गों में इन रूपों का पाया जाना इस बात का द्योतक है कि इसका विकास अवश्य ही भारोपीय काल में हो चुका होगा, यथा—प्रा० आइ०—लिलिगत् (अ० पु०, ए० व०)<√लिगिद्, 'चाटता है'—तुल० सं० लिलिक्षति 'चाटना चाहता है' <√लिह्, 'चाटना' आदि।

5. नामधातु—संस्कृत में किसी भी नाम पद अर्थात् संज्ञा, सर्वनाम या विशेषण से क्रियापद की रचना की जा सकती है। इस प्रकार से रचित क्रिया रूपों को नामधातु कहा जाता है। ये धातुरूप अनेक प्रत्ययों के योग से बनते हैं तथा

इनकी रूप रचना भ्वादि अथवा दिवादि गण के धातुओं के अनुरूप होती है। इन प्रत्ययों में से कुछ परस्मैपदी रूपों की रचना करते हैं तथा कुछ आत्मनेपदी रूपों की, कुछ ऐसे भी हैं जो कि दोनों ही प्रकार की रचना करते हैं। नामधातुओं की रचना में प्रयुक्त होने वाले प्रत्ययों का विवरण इस प्रकार है।

य (क्यच्), ~काम्य (काम्यच्) = चाहने, व्यवहार करने, आचरण करने तथा किसी भी क्रिया को करने के अर्थ की अभिव्यक्ति के लिए य- प्रत्यय के योग से नाम धातुओं की रचना की जाती है। इसी का एक अन्य उपरूप रूप (असुक् आगम के साथ) भी होता है। इन प्रत्ययों से बनने वाले रूप सदा परस्मैपद में होते हैं—पुत्र>पुत्रीयति 'पुत्र की इच्छा करता है'; कवि>कवीयति 'कवि बनना चाहता है', मातृ>मात्रीयति 'माता बनना चाहती है', पुत्रकाम्यति 'पुत्र चाहता है', दधि>दधिस्यति 'दही चाहता है', विष्णु>विष्णूयति 'विष्णु का-सा व्यवहार करता है', नम>नमस्यति 'नमस्कार करता है' आदि,

उपर्युक्त रूपों को देखने से स्पष्ट हो जाता है कि इन प्रत्ययों के योग में अ का ई, ऋ का री तथा शब्दान्त के ह्रस्व स्वरों का दीर्घीकरण हो जाता है।

शून्य (क्यङ्)—इसका प्रयोग 'आचरण करना, होना, करना' आदि अर्थों की अभिव्यक्ति के लिए किया जाता है। इसके योग से बनने वाले रूप आत्मनेपद में होते हैं, यथा—अप्सरा>अप्सरायते 'अप्सरा की तरह व्यवहार करती है', चपल>चपलायते 'चपल न होने पर भी चपल बनता है', शब्द>शब्दायते 'शब्द करना है'।

अय्—इस प्रत्यय का प्रयोग भी भिन्न-भिन्न अर्थों की अभिव्यक्ति के लिए किया जाता है। इससे बनने वाले क्रियारूप उभयपदी होते हैं, यथा—व्रत>व्रतयति~ते 'व्रत करता है', वीणा>वीणयति 'वीणा पर गाता है', अल्प>अल्पयति 'कम करता है'।

इसके अतिरिक्त एक अन्य प्रत्यय—य (यक्) से भी उभयपदी रूपों की रचना होती है कण्डू>कण्डूयति~ते 'खुजली करता है', दुःख>दुःख्यति 'दुःखी करता है' आदि।

नाम धातुओं की रूप रचना में मुख्यतः तीन प्रकार के रूपस्वनिमिक परिवर्तन पाये जाते हैं—(1) स्वर परिवर्तन—पुत्र>पुत्रीयति, (2) लोप—हलि>हल्यति, अप्सरस्>अप्सरायते, (3) उपधादीर्घ—राजन्>राजानति, पथिन्>पथीनति, धन>धनायति धनीयति।

सोपसर्ग तिङन्त पद रचना—संस्कृत की तिङन्त पदरचना के उपर्युक्त विवरण के उपरान्त यहां पर संक्षेप में क्रियापद रचना के सम्बन्ध में इतना और भी बता देना उपयुक्त होगा कि इसमें मूल धातु, प्रत्ययान्त धातु तथा नाम धातु से बनने वाले सभी क्रिया रूपों के साथ उपसर्गों का भी प्रयोग किया

जा सकता है। इनमें से कुछ धातु मूल ऐसे भी हैं जिनके साथ उपसर्गों का प्रयोग नित्य रूप से होता है, यथा—√इ अध्ययने तथा √इ स्मरणे इन दो धातुओं के साथ अधि उपसर्ग का प्रयोग अवश्य ही किया जाता है तथा अन्य ऐसे हैं जिनके साथ उपसर्गों का प्रयोग वक्ता की इच्छा पर निर्भर करता है। ऐसे प्रयोग सप्रयोजन भी हो सकते हैं तथा निष्प्रयोजन भी। जब सप्रयोजन उपसर्गों का प्रयोग किया जाता है तो वहा पर उपसर्ग के अनुसार क्रिया के मूल अर्थ मे परिवर्तन हो जाता है यथा—हृ—'ले जाना'>**प्रहरति** 'चोट करता है', आहरति 'लाता है', विहरति 'विहार करता है'; संहरति 'इकट्ठा करता है', **परिहरति** 'बचता है' आदि। इसी प्रकार **गच्छति** 'जाता है'<√गम्, पर आगच्छति 'आता है' आ + √गम्।

धातु रूपो के साथ प्रयुक्त होने वाले उपसर्गों की नियत संख्या के विषय मे यद्यपि कोई विशेष विधान नही पाया जाता है, किन्तु सामान्य प्रयोग में कम से कम एक तथा अधिक से अधिक तीन उपसर्गों का प्रयोग पाया जाता है, यथा √गम्> आगच्छति (आ-), प्रत्यागच्छति (प्रति + आ) तथा सम्प्रत्यागच्छति (सम् + प्रति + आ) आदि। यद्यपि वैयाकरणों ने प्रसमभिव्याहरति (प्र + सम् + अभि + वि + आ + √हृ-), जैसे प्रयोगो के द्वारा पाच उपसर्गों की एक साथ प्रयोगार्हता का निर्देश किया है, पर सामान्य भाषा प्रयोग मे ऐसा होता नही।

कृत् प्रत्ययान्त आख्यात पदरचना

कृत् प्रत्ययो के योग से बनने वाली आख्यात पदरचना की विशेषता यह है कि इन पदों का प्रयोग विशेषण तथा संज्ञा पदों के रूप में भी किया जा सकता है। इस रूप में जब इनका प्रयोग विशेषणो के रूप मे होता है तो इन्हे 'धातुज विशेषण' कहते हैं तथा जब संज्ञा के रूप में होता है तो इन्हे 'धातुज संज्ञा' कहते हैं। क्रिया पदो के रूप मे इनका प्रयोग असमापिका क्रियाओं के रूप में होता है। इस रूप में समापिका क्रियाओं के समान ये पद भी काल, लिंग, वचन तथा वाच्य मे युक्त होते हैं। अर्थाभिव्यक्ति की दृष्टि से इन कृदन्त क्रियापदो को निम्नलिखित रूपों में वर्गीकृत किया जाता है—

1. वर्तमान कालिक, 2 भूत कालिक, 3. भविष्यत् कालिक या विध्यर्थक, 4. भावार्थक या क्रियार्थक, 5. पूर्व कालिक। इनकी रूप-रचना का विवरण इस प्रकार है—

1. **वर्तमान कालिक कृदन्त**—वर्तमान कालिक कृदन्त क्रियापदो की रचना करने वाले प्रत्यय हैं—अत् (अन्त) <शतृ, आन (शानच्), मान (मानच्) तथा वस्। रूप रचना की दृष्टि से इनका विवरण इस प्रकार है—

जुहोत्यादि गण की सभी धातुओं तथा अदादि गण की √जक्ष् आदि धातुओं को छोड़कर शेष सभी परस्मैपदी धातुओं के साथ अन्त का प्रयोग होता है, किन्तु एकवचन में त् का लोप हो जाता है—√पठ्—पठन्, पठन्तौ, पठन्त आदि।

आन तथा मान दोनों का प्रयोग आत्मनेपदी धातुओं के साथ किया जाता है। इनमें से आन का प्रयोग अ- विकरणहीन धातु मूलों के साथ, मान का अ-विकरण युक्त धातुओं के साथ होता है, यथा√शी—शयान्,√दा->ददान् √भाष्->भाषमाण,√वृत्->वर्तमान।

यद्यपि साहित्यिक संस्कृत में वर्तमानकालिक कृदन्तों की रचना धातु के वर्तमानकालिक रूपों के आधार पर ही की जाती है, किन्तु वैदिक संस्कृत में इनके लुङ् लकार के रूपों पर आधारित रूप भी पाये जाते हैं, यथा—कन्त-<कृ 'करना', ग्मन्त<√गम् 'जाना', वृधन्त-<√वृध 'बढ़ना' आदि।

2 भूतकालिक कृदन्त—भूतकालिक कृदन्त रूपों की रचना करने वाले प्रत्यय हैं—त (क्त), और तवत् (क्तवतु)। त का एक उपरूप न भी है। इन दोनों में मुख्य अन्तर यह है कि त~न का प्रयोग कर्म तथा भाव दोनों में होता है, किन्तु तवत् का केवल कर्ता में। प्रथम को भूतकालिक कर्मवाच्य कृदन्त तथा द्वितीय को भूतकालिक कर्तृवाच्य कृदन्त कहा जा सकता है। इन प्रत्ययों के योग में धातुमूलों में लोप, सम्प्रसारण, स्वर परिवर्तन आदि अनेक रूपस्वनिमिक परिवर्तन होते हैं, यथा √गम्->गत, √वच्->उक्त,√मा->मीत,√ छिद्->छिन्न √शुष्->शुष्क, पच्->पक्व,√तृ>तीर्ण आदि। संस्कृत के उत्तरवर्ती काल में -त वाले रूपों का प्रयोग पर्याप्त प्रचलित हो गया था, प्राकृत काल में तो इसने भूतकालिक क्रिया का ही स्थान ले लिया था।

तवत् (त्+वन्त) का प्रयोग उपर्युक्त -त वाले रूपों पर -वत् लगाकर किया जाता है, यथा√कृ->कृतवत् (कृतवान्), √वच्>उक्तवत् (उक्तवान्) आदि।

3. भविष्यत्कालिक या विध्यर्थक कृदन्त—भविष्यत्कालिक कृदन्त रूपों की रचना करने वाले प्रत्ययों के दो वर्ग हैं—(1)-स्यन्,-स्यमान, (2) य (यत्, ण्यत्, क्यप्),-तव्य, अनीय (र्)। इनमें से प्रथम वर्ग के प्रत्यय कर्तृवाच्य रूपों की रचना करते हैं तथा द्वितीय वर्ग के कर्मवाच्य, भाववाच्य तथा विध्यर्थक रूपों की रचना करते हैं।

भविष्यत्कालिक कर्तृवाच्य कृदन्त—भविष्यत्कालिक कर्तृवाच्य रूपों की रचना स्यत् तथा स्यमान प्रत्ययों से की जाती है। परस्मैपदी धातुओं में स्यत् तथा आत्मनेपदी धातुओं में स्यमान लगाया जाता है, इनकी रचना धातु के लट् लकार के रूपों के समान होती है, यथा√कृ>करिष्यत्~करिष्यमाण, पठिष्यत्, सेविष्यमाण आदि।

भविष्यत्कालिक कर्मवाच्य या विध्यर्थक कृदन्त—भविष्यत् अर्थ का बोध कराने वाले कर्मवाच्य तथा भाववाच्य रूपों को विधि कृदन्त (Potential) भी कहा जाता है। रूप रचना की दृष्टि से य के योग से बनने वाले रूपों में धातु के स्वर को गुण (यत् में) या वृद्धि (ण्यत् में) हो जाती है—√जि > जेयम् √कृ > कार्यम्, किन्तु आ का ए हो जाता है, यथा—स्था > स्थेयम्, पा > पेयम्। कुछ धातुओं में -य (क्यप्) से पूर्व -त- का मध्यागम भी हो जाता है—√स्तु > स्तुत्य,√कृ > कृत्य।

इसी प्रकार तव्य तथा अनीय मे भी धातु के स्वर को गुण हो जाता है—जि√जेतव्य, कृ > कर्तव्य, विद् > वेदनीय, कृ > करणीय। सेट् धातुओं में ई का आगम हो जाता है—√भू > भवितव्य, वृत् — > वर्तितव्य। अर्थ की दृष्टि से इन तीनों में कोई अन्तर नहीं पाया जाता।

4. **भावार्थक या क्रियार्थक कृदन्त**—संस्कृत मे क्रियार्थक क्रिया के रूपों की रचना के लिए धातुमूल पर तुम् प्रत्यय का योग किया जाता है। क्योंकि ये पदरूप तुमुन् प्रत्यय के योग से बनते हैं इसलिए इन्हें तुमुन्नन्त या तुमन्त भी कहते हैं। तुमन्त रूप अव्यय हो जाते हैं, अत उनमें लिंग, वचन, सम्बन्धी कोई परिवर्तन नहीं होता। तुम् प्रत्यय लगने पर धातु के स्वर को गुण हो जाता है, यथा—√जि—जेतुम्, √नी > नेतुम्, √कृ-√ कर्तुम्,√भुज् > भोक्तुम्, √भू > भवितुम्,√वृत् > वर्तितुम्। सेट् धातुओं मे तुम् से पूर्व मे इट् का आगम भी हो जाता है—पत् > पतितुम्, भवितुम्, वर्तितुम् आदि। √सह्-तथा√वह्-धातुओं से तुम् प्रत्यय होने पर क्रमशः सोढुम्, वोढुम् रूप बन जाते हैं।

वैदिक सस्कृत मे क्रियार्थक क्रिया के रूपों को अभिव्यक्त करने वाले अनेक प्रत्यय थे, जो कि विभिन्न कारकीय रूपों मे प्रयुक्त होते थे—दातुम् 'देना', दृशे 'देखना', सम्पृच. 'सम्पर्क मे आना', संचक्षि 'देखने पर' आदि। किन्तु साहित्यिक सस्कृत मे इसका एकमात्र रूप—तुम् ही अवशिष्ट रह गया। इसके अनुरूप तुमन्त रूप केवल लैटिन तथा लियुआनियन में पाए जाते है—लै० दतुम् (=सं०.दातुम्), लियु० देतुम् (सं० धातुम्) आदि। लगता है कि वैदिक काल मे अभी इसका रूप स्थिर नहीं हो पाया था तथा यह विभिन्न कारकीय रूपों का अभिव्यंजक था, किन्तु साहित्यिक सस्कृत मे इसका रूप सम्प्रदान के अभिव्यंजक के रूप में स्थिर हो गया।

5. **पूर्वकालिक क्रियार्थक कृदन्त**—जब किसी क्रिया के कर्ता के द्वारा एक क्रिया को समाप्त करके दूसरी क्रिया की जाती है तो पूर्वकालिक क्रिया के रूपों की रचना के लिए-त्वा (क्त्वा),-य (ल्यप्) तथा -अम् (णमुल्) प्रत्ययों का प्रयोग किया जाता है। इनमें से प्रथम दो प्रत्ययों के योग से बनने वाले पद साधारण रूप से क्रिया की समाप्ति का बोध कराते हैं तथा तीसरे प्रत्यय से बने हुए पद पूर्व

क्रिया की आवृत्ति का बोध कराते हैं। प्रथम दो प्रत्ययों में वितरण की दृष्टि से यह अन्तर है कि त्वा का प्रयोग शुद्ध मूल धातु रूपों के साथ होता है—√कृ>कृत्वा 'करके', √भू>भूत्वा 'होके', √नी—>नीत्वा 'लेकर', √पा>पीत्वा 'पीकर', √दा>दत्वा 'देकर' आदि, किन्तु य का प्रयोग सोपसर्ग धातु मूलों तथा समस्त धातु रूपों के साथ होता है, यथा सम्भूय (सम्+√भू+य), आहूय>ह्वे, विजित्य<√जि, अवतीर्य<√तॄ।

संरचनात्मक दृष्टि से त्वा के योग में धातु के अनुनासिक व्यंजन के लोप—√हन्>हत्वा, √गम्>गत्वा के अतिरिक्त धातु मूल में कोई विशेष परिवर्तन नहीं होता, किन्तु य के योग में ह्रस्व स्वरान्त धातुओं में य से पूर्व त् का आगम हो जाता है, यथा—विजित्य, संश्रुत्य, अधीत्य, आगत्य, अवचित्य आदि।

आवृत्ति बोध णमुल् प्रत्यय के योग में धातु स्वर को गुण या वृद्धि हो जाती है तथा सम्पूर्ण प्रत्ययान्त रूप की आवृत्ति होती है, उदाहरणार्थ श्रु>श्रावं श्रावम् 'सुन सुनकर', √स्मृ>स्मारं स्मारम् 'सोच सोचकर', √पठ्>पाठं पाठम् 'पढ़ पढ़कर'। तुमुन्नन्त रूपों की भांति -त्वा तथा -अम् से बनने वाले रूप भी अव्ययात्मक होते हैं।

भारोपीय की किसी अन्य शाखा की भाषा में इस प्रकार के रूपों की स्थिति नहीं पायी जाती है। यह भारत-आर्येरान की अपनी नवीन भाषाई उद्भावना प्रतीत होती है। इन रूपों की दृष्टि से वैदिक तथा लौकिक संस्कृत में जो मुख्य अन्तर पाया जाता है वह यह कि लौकिक संस्कृत में -त्वा तथा -य का वितरण निश्चित है पर ऋग्वेद में अधिकतर रूपों में य (या) का ही प्रयोग किया गया है। *इसके साथ ही ऋग्वेद में त्वा के अतिरिक्त त्वाय जैसे मिश्रित प्रत्ययों तथा त्वी,* का भी प्रयोग पाया जाता यथा हित्वी 'छोड़कर', है।

संस्कृत की आख्यात पदरचना के इतिहास पर दृष्टिपात करने पर हम देखते हैं कि इसका रूप व प्रयोग अपने विकास के प्रारम्भिक युगों में जितना विविध एवं समृद्ध था उतना परवर्ती युग में नहीं रह सका। अनेक क्रिया रूपों में से कुछ तो बिल्कुल ही प्रयोगबाह्य हो गए थे तथा कुछ का प्रयोग अत्यन्त सीमित हो गया था। उत्तर वैदिक काल तक पहुंचते-पहुंचते लेट् लकार का प्रयोग सर्वथा समाप्त हो चुका था तथा इसके बाद के काल में भूतकालिक लकारों के प्रयोगों का विभेद भी लुप्तप्राय हो चुका था, विशेषकर लङ् और लुङ् के मध्य की विभाजक रेखा मिट चली थी। क्रियारूपों के स्थान पर कृदन्त रूपों का प्रयोग उत्तरोत्तर अधिकाधिक प्रचलित हो चला था। *इसी प्रकार धातुमूलों से निष्पन्न होकर विविध भावों एवं वृत्तियों के* अभिव्यंजक क्रिया रूपों—णिजन्त, सन्नन्त, यङन्त, यङ्लुगन्त आदि का प्रयोग भी सीमिततर होता गया। इनमें से णिजन्तों एवं सन्नन्तों का प्रयोग तो किसी सीमा तक चलता रहा, किन्तु यङन्तों एवं यङ्लुगन्तों का प्रयोग समाप्त ही हो गया।

वस्तुत: संस्कृत के क्रिया रूपों के प्रयोगों का ऐतिहासिक विश्लेषण करने पर यही कहा जाएगा कि भाषा के वास्तविक प्रयोग में इनका ह्रास ही होता रहा। सैद्धान्तिक रूप में यद्यपि परवर्ती वैयाकरणों के द्वारा इनके प्रारम्भिक रूपों एवं भेदों की सत्ता स्वीकार की जाती रही, पर आम प्रयोगों में इनमें से अनेक रूपों का प्रयोग केवल उदाहरण-प्रदर्शन के लिए या सिद्धान्त निर्वाह के लिए ही किया जाता रहा।

भाग : पांच

अर्थ-विज्ञान

अर्थ-विज्ञान

शब्द तथा अर्थ के स्वरूप तथा उनके पारस्परिक सम्बन्धो का विवेचन करने वाले शास्त्र को अर्थ-विज्ञान कहा जाता है। अर्थ-विज्ञान की आवश्यकता तथा उपयोगिता के विषय के सर्व प्रथम अर्थ-विज्ञानी आचार्य यास्क ने निरुक्त मे तथा सस्कृत के महावैयाकरण आचार्य पतंजलि ने महाभाष्य मे बहुत गम्भीर शब्दो मे कहा है कि अर्थ-विज्ञान से रहित शब्द-ज्ञान प्रतिभा की व्युत्पत्ति का साधन नही हो सकता है। जिस प्रकार अग्नि के अभाव मे शुष्क ईंधन अग्नि को प्रचलित नहीं कर सकता उसी प्रकार अर्थ तत्त्व की उपेक्षा करके समस्त शब्द-तत्त्व का अध्ययन भी प्रतिभा को कभी प्रदीप्त नही कर सकता है।[1]

इसके साथ वे फिर आगे वैदिक ऋषियो के वचनो को उद्धृत करते हुए लिखते है कि जो मनुष्य समस्त वेद अर्थात् समस्त ज्ञान एव विज्ञान का अध्ययन करने के पश्चात् भी अर्थतत्त्व की सिद्धि नही करता है उसका समस्त अध्ययन उसी प्रकार निरर्थक है, जैसे वेदशास्त्रों के भार को ढोने वाले गर्दभ का।

स्याणुरय भारहरः किलाभूदधीत्य वेदं न विजानाति योऽर्थम्।

शब्द—यद्यपि शब्द की सर्वथा निर्दोष तथा सर्वव्यापक सक्षिप्त परिभाषा दे पाना एक कठिन कार्य है फिर भी यदि इसे पारिभाषित करना ही हो तो हम कह

---

1. यद् गृहीतमविज्ञात निगदेनैव शब्दयते।
अनग्नाविव शुष्केन्धो न तज्ज्वलति कर्हिचित्॥
निरुक्त, 1.18

सकते हैं कि 'मानव कंठ से निःसृत सार्थक ध्वनि समूह ही शब्द है।' किन्तु फिर भी यह कहना होगा कि शब्द के इतने आयाम तथा उसकी इतनी बहुमुखी प्रक्रिया होती है तथा उसमें अर्थाभिव्यक्ति की इतनी असीम शक्तियां निहित होती हैं कि उन सबका आभास उपर्युक्त सरल एवं सपाट सी परिभाषा के द्वारा निर्दिष्ट नहीं किया जा सकता है।

शब्द का मानव-जीवन में बड़ा महत्त्व है। क्योंकि हमारे सारे ही कार्य-व्यवहार वाक् के माध्यम से चलते हैं और वाक् का व्यक्त रूप होता है शब्द। किन्तु अर्थ के बिना शब्द का कोई महत्त्व नहीं। वह तो अर्थाभिव्यक्ति का माध्यम मात्र है। कहा जा सकता है कि शब्द अमूर्त अर्थ का मूर्त रूप है। इसी से अर्थ का प्रत्यक्षीकरण होने से इसका भी अपना महत्त्व है। भारतीय चिन्तकों ने शब्द तथा अर्थ में 'अविनाभाव' सम्बन्ध माना है। शब्द हो परन्तु उसका अर्थ न हो यह सम्भव नहीं, इसी प्रकार अर्थ हो और शब्द न हो यह भी सम्भव नहीं। यों तो अर्थ की भी अनेक परिभाषाएं मिलती हैं किन्तु उसे यदि सरलतम शब्दों में प्रस्तुत करना हो तो कहा जा सकता है कि 'किसी शब्द के द्वारा जो प्रतीति होती है उसे उस शब्द का अर्थ कहा जा सकता है।' संस्कृत व्याकरण शास्त्र के एक महान् आचार्य भर्तृहरि ने अपने 'वाक्यपदीय' नामक ग्रन्थ में अर्थ का जो लक्षण प्रस्तुत किया है वह इस प्रकार है—

यस्मिंस्तूच्चरिते शब्दे यदा योऽर्थः प्रतीयते।
तमाहुरर्थं तस्यैव नान्यदर्थस्य लक्षणम्॥

अर्थात् जिस शब्द के उच्चारण से जब जिस अर्थ की प्रतीति होती है, वही उसका अर्थ है, अर्थ का कोई दूसरा लक्षण नहीं है।

शब्दार्थ सम्बन्ध—यों तो परम्परावादी लोग शब्दार्थ सम्बन्ध को ईश्वरकृत मानते हैं अर्थात् ईश्वर ने 'पुस्तक' शब्द कहा और उसका अर्थ पुस्तक वस्तु बतला दिया और मानव जाति ने उसे स्वीकार कर लिया। भोला-भाला आदिम मानव भले ही इस प्रकार की स्थिति को स्वीकार कर ले, किन्तु विचारशील एवं तर्कशील मानव की बुद्धि इसे स्वीकार नहीं कर सकती। यदि ऐसा होता तो फिर विश्व में यह भाषा-भेद न होता। ईश्वर तो एक ही प्रकार के शब्दों का प्रयोग सभी के लिए करेगा। फिर जो वस्तुएं पहले नहीं थीं, नये सिरे से आविष्कृत की जा रही हैं उनका नाम कौन रखेगा? ईश्वर तो उनका नाम रखने के लिए आता नहीं है? फिर शब्द की ध्वनियां तो नश्वर हैं, बोलते ही नष्ट हो जाती हैं किन्तु उनका अर्थ अनश्वर है, स्थायी रहता है। किसी भी शब्द की प्रतीक ध्वनियों को सुनकर हमारे मस्तिष्क में उसके द्वारा संकेतित वस्तु का जो बिम्ब उभर आता है वह बिम्ब ही उसका अर्थ होता है। एक बार 'घोड़ा' शब्द से अभिप्रेत संकेत का ज्ञान होने पर फिर कभी भी उस ध्वनि समूह को सुनते ही उससे संकेतित वस्तु का बिम्ब हमारे

मस्तिष्क में उभर पड़ता है। उच्चरित ध्वनियाँ वायु में विलीन हो जाती हैं किन्तु उनसे बना हुआ बिम्ब शाश्वत रूप से हमारे मस्तिष्क में स्थिर हो जाता है—'रसगुल्ले' के नाम पर मुँह में पानी भर आना तथा 'डाकू' का नाम सुनते ही भयभीत हो जाना इसका प्रत्यक्ष प्रमाण है।

शब्द तथा अर्थ के पारस्परिक सम्बन्धों के विषय में भारत में अति प्राचीन काल से ही बहुत विचार किया गया है। विशेषकर वैयाकरणों एवं दार्शनिकों के द्वारा तो इस पर बहुत ही गहन चिन्तन किया गया है। उन सबका विवरण देना यहाँ पर अपेक्षित नहीं। किन्तु फिर भी हम यहाँ पर व्याकरण दर्शन के एक महान् चिन्तक भर्तृहरि का विचार अवश्य प्रस्तुत करना चाहेंगे, क्योंकि वह व्यावहारिक दृष्टि से अत्यन्त उपादेय एवं ग्राह्य है। अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ वाक्यपदीय में वे बताते हैं—

अस्याय वाचको वाच्य इति षष्ठ्या प्रतीयते।
योग शब्दार्थयोस्तत्त्वमप्यतो व्यपदिश्यते॥

'अर्थात् शब्द और अर्थ में यदि कोई सम्बन्ध मानना अनिवार्य हो तो वह सम्बन्ध वाच्य-वाचक सम्बन्ध ही हो सकता है। क्योंकि 'इस शब्द का यह अर्थ है' अथवा 'यह अर्थ इस शब्द का है' जैसे व्यवहार में इनके इसी सम्बन्ध का बोध होता है।'

एक पाश्चात्य विद्वान् रसेल ने शब्द-प्रयोग तथा उनके उपलब्ध अर्थ को मानने रखकर अर्थ को 'किसी भाषा विशेष में व्यवहार सिद्ध सार्वजनिक तथा निश्चित बोध' कहा है।

संक्षेप में कहा जा सकता है कि शब्द बोधक है और अर्थ बोध्य अर्थात् ध्वनि प्रतीकात्मक शब्द से वास्तविक रूप से अभिप्रेत संकेतित वस्तु का बोध होता है। इस रूप में शब्द तथा अर्थ के बीच बोध्य-बोधक भाव सम्बन्ध की स्थिति पायी जाती है। व्यावहारिक उपयोगिता की दृष्टि से अर्थ ही महत्त्वपूर्ण होता है, शब्द नहीं। वह तो एक ध्वनि-संघात मात्र होता है जिसे किसी अर्थ अथवा संकेतित वस्तु के साथ जोड़ दिया जाता है। होता यह है कि किसी भाषा में किसी ध्वनि संघात का कोई अर्थ स्वीकार कर लिये जाने पर फिर वह पर्याप्त काल तक उसका बोध कराता रहता है और फिर वह पद जब तक उस भाषा से बहिष्कृत या अप्रयुक्त नहीं हो जाता तब तक उसी अर्थ का बोध कराता रहता है। उसके स्थान पर किसी अन्य सार्थक पद-संघात का प्रयोग करने पर अर्थ में भी परिवर्तन आ जायेगा। जैसे 'आम्र' पद का प्रयोग संस्कृत में एक 'फल विशेष' के लिए होता है और 'कदली' किसी अन्य फल विशेष' के लिए। एक के स्थान पर दूसरे का प्रयोग कर देने से अर्थ में भी परिवर्तन हो जाएगा।

जैसा कि वाक्य के प्रसंग में बतलाया गया है कि कोई भी वर्ण-संघात स्वयं में पद की संज्ञा प्राप्त नहीं कर सकता है, उसके लिए आवश्यक है कि उन वर्णों का आपस में कोई अन्वय न बनता हो, वे सम्मिलित रूप से किसी अर्थ के बोधक माने गए हों तथा भाषा में उनका उस रूप में प्रयोग शिष्टजनों के द्वारा मान्य हो।

अब एक और प्रश्न उपस्थित होता है कि 'आम्र' पद से अथवा 'कदली' पद से फलों की किसी विशिष्ट जाति का ही बोध क्यों और कैसे होता है? अथवा 'आम्र' कहने से 'अमरूद' नामक फल का तथा 'कदली' कहने से 'सेब' नामक फल का बोध क्यों नहीं होता। संस्कृत के काव्यशास्त्रियों एवं भाषाशास्त्रियों ने इस समस्या पर विस्तार के साथ विचार किया है। इसे उन्होंने अपनी पारिभाषिक शब्दावली में 'संकेतग्रह' अर्थात् 'किसी शब्द से किसी अर्थ विशेष का बोध' नाम दिया है तथा उसके आठ साधन माने हैं, जिनके नाम है—

1. व्यवहार, 2 आप्तवाक्य, 3 उपमान, 4 वाक्यशेष, 5. विवृति, 6 प्रसिद्ध पद का सान्निध्य, 7. व्याकरण तथा 8. कोश[1]। इन्हें निम्नलिखित रूप में स्पष्ट किया जा सकता है—

1. व्यवहार—यह संकेतग्रह का सबसे प्रमुख एवं मनोवैज्ञानिक आधार है। हम अधिकतर इसी साधन से शब्दार्थ का सम्बन्ध स्थापित करते है। मान लीजिए किसी बच्चे ने कभी 'आम' का फल नहीं देखा। उसके पिता ने उसे आम का फल पकड़ाते हुए कहा 'लो आम खा लो' बच्चा 'लो रोटी खा लो' आदि वाक्यों में 'लो⋯खा लो' पदों से पहले ही व्यवहार के माध्यम से परिचित है। अब उसे इस नये व्यवहार से बोध हो जाएगा कि 'आम' शब्द का अर्थ है यह फल विशेष है जो कि उसे दिया जा रहा है। उसे देखकर उसके मस्तिष्क में उस फल की आकृति-प्रकृति का एक 'बिम्ब' बन जाएगा तथा उसकी स्मरण-शक्ति में उन ध्वनियों का भी एक ध्वनि बिम्ब बन जाएगा और वह उस ध्वनि बिम्ब को उस फल की आकृति के साथ जोड़ लेगा। इस स्थिर साहचर्य के बन जाने के बाद वह जब कभी भी 'आम' शब्द को सुनेगा तो उसके मस्तिष्क में उस वस्तु का बिम्ब उभर आएगा। इस प्रकार वह नित्य रूप से उस शब्द का अर्थ के साथ सम्बन्ध जोड़ लेता है। इसमें उसे प्रत्यक्ष व्यावहारिक ज्ञान के अतिरिक्त और किसी साधन की आवश्यकता नहीं रहती है।

2 आप्त वाक्य—आप्त का अर्थ है 'पूर्ण रूप से विश्वसनीय'। प्रत्येक भाषा में अनेक शब्द ऐसे होते हैं जिनका अर्थ के साथ साहचर्य प्रत्यक्ष रूप से नहीं हो सकता है। ऐसी स्थिति में श्रोता या विद्यार्थी को उसके अर्थों को जानने के लिए ऐसे व्यक्ति की शरण लेनी पड़ती है जिसे वह समझता है कि वह इस अर्थ को

1. शक्तिग्रहं व्याकरणोपमानकोशाप्तवाक्याद् व्यवहारतश्च।
वाक्यस्य शेषाद् विवृतेर्वदन्ति सान्निध्यतः सिद्धपदस्य वृद्धाः॥

जानता है तथा उसे ठीक ही बताएगा। ऐसे शब्द प्रायः उन अर्थों के बोधक होते हैं जिनका कि चाक्षुष प्रत्यक्ष नहीं किया जा सकता, जैसे ईश्वर, आत्मा, स्वर्ग, नरक आदि। इनके सम्बन्ध में ऋषियों, मुनियों, सिद्धों, पीरों, पैगम्बरों को आप्त समझकर उनकी बातों पर विश्वास करके वे इनका जो रूप या अर्थ बताते हैं उसे ही स्वीकार कर लिया जाता है।

3 उपमान—उपमान को भी संकेतग्रह का एक साधन माना गया है। उपमान का अर्थ है अनुरूपी या सादृश्यात्मक। इसमें दृष्ट या अनुभूत पदार्थ के आधार पर अदृष्ट या अननुभूत पदार्थ का अर्थबोध किया जाता है। यदि किसी व्यक्ति ने 'नील गाय' कभी न देखी हो और 'गाय' देखी हो तो उसे इस पद का अर्थ यह कहकर समझाया जा सकता है कि 'यह गाय की जाति की तथा वैसी ही आकृति का पशु होती है। (गो सदृशो गवय)।

4. वाक्यशेष—वाक्यशेष का अर्थ है 'प्रकरण या प्रसंग।' जब कोई पद एक ही ध्वनि-समूह से एक से अधिक अर्थों का बोध कराता है तो वहां किसी वाक्य में उसका अर्थ बोध करने के लिए उसके प्रकरण या प्रसंग को देखना आवश्यक हो जाता है। जैसे—'उसके हाथ में तीर कमान था' तथा 'वह सरोवर के तीर पर घूम रहा था', इन दोनों वाक्यों में 'तीर' पद ऐसा है जिनमें कि वर्ण समूह या ध्वनि समूह की तो एकरूपता है किन्तु अर्थबोध की दृष्टि से पृथक्-पृथक् पदार्थों का बोध कराता है। अतः यहां पर दोनों वाक्यों में 'तीर' के पृथक्-पृथक् अर्थों का निर्धारण वाक्य के शेष अंशों के आधार पर हो सकेगा अर्थात् यहां पर प्रथम वाक्य में 'हाथ, कमान' आदि पदों ने तीर का अर्थ 'बाण' तथा दूसरे में 'सरोवर' 'घूमना' आदि पदों ने उसका अर्थ 'किनारा' निर्धारित करने में निर्धारक का काम किया है।

5. विवृति—विवृति का सामान्य अर्थ है—व्याख्या। सभी भाषाओं में अनेक शब्द ऐसे होते हैं जिनके अर्थों का बोध कराने के लिए उनका विवरण प्रस्तुत करना पड़ता है। वैसे तो यह भी 'आप्तवाक्य' का ही एक रूप होता है, पर इसमें उसकी अपेक्षा व्याख्या का स्तर विस्तृत होता है। दर्शनशास्त्र, तर्कशास्त्र अथवा वेदशास्त्र आदि से सम्बद्ध अनेक शब्द ऐसे होते हैं जिनका अर्थ बोध कराने के लिए लम्बी-चौड़ी व्याख्याओं की आवश्यकता हुआ करती है। साहित्य शास्त्र का 'रस' रीति, अलंकार आदि शब्द इसी प्रकार के हैं।

6 प्रसिद्ध पद का सान्निध्य—इसका अर्थ है जब किसी समस्त पद का एक अंश ऐसा हो जो कि एक से अधिक अर्थों का संकेत बोध कराता हो तो वहां पर अर्थ विशेष का निर्धारण उसके सहयोगी पद के प्रसिद्ध अर्थ के आधार पर लगाया जा सकता है, जैसे 'मधुरिपु' तथा 'मधुमास' दोनों ही शब्दों का प्रथम पद 'मधु' है किन्तु प्रथम में 'रिपु' शब्द के सान्निध्य में इसका अर्थ हो गया 'मधु' नामक 'राक्षस' तथा दूसरे में 'मास' के सान्निध्य से इसका अर्थ हो गया 'चैत्र'। ऐसे ही

'मधुशाला' में 'शाला' के सान्निध्य में इसका अर्थ हो जाएगा 'शराब'।

7 व्याकरण—प्रत्येक भाषा में 'मूल' शब्दों की संख्या सीमित ही हुआ करती है। इन्हीं मूल शब्दों पर प्रत्यय आदि जोड़कर एक ही शब्द से अनेक शब्दों की रचना की जाती है। ऐसी स्थिति में किसी शब्द का क्या स्वीकृत अर्थ होगा इसका निर्धारण व्याकरण के आधार पर किया जा सकता है। जैसे हिन्दी में 'काल' शब्द से 'इक्' प्रत्यय लगाकर 'कालिक' रूप बनता है तथा 'ईन' प्रत्यय लगाकर 'कालीन'। इन दोनों रूपों के अर्थ का निर्धारण केवल व्याकरण के आधार पर ही किया जा सकता है। संस्कृत में व्याकरणिक 'लिंग' से भी अर्थ का निर्धारण हुआ करता है यथा—मित्र (सूर्य) : मित्रम् (सखा)।

8 कोष—भाषा-ज्ञान के विकसित स्तर पर कोष भी शब्दों के अर्थों का बोध कराने में एक सहायक साधन बन जाता है। वैसे इसका स्थान भी एक प्रकार से 'आप्त वचन' में ही आ जाता है। क्योंकि हम कोष में दिये गये अर्थों को *विश्वसनीय समझकर ही ग्रहण करते हैं।* दूसरे कोष में एक शब्द के कई अर्थ दिये होते हैं। यथा—गो='गो, पृथ्वी, वाणी' आदि। इसी प्रकार काल भेद से या प्रयोग भेद से एक ही पदार्थ के अनेक पर्यायों का विकास हो जाता है। सभी व्यक्तियों का सभी पर्यायों से परिचय नहीं होता, पर कोश में सबका संग्रह होता है। अतः कोष शिक्षित समाज में अर्थज्ञान का एक साधन ही माना जाएगा।

आधुनिक संदर्भ में अर्थबोध की जो एक और विधा मानी जा सकती है वह है अनुवाद, किन्तु इसका क्षेत्र केवल द्वितीय भाषा शिक्षण तक ही सीमित हुआ करता है। अतः यह अर्थज्ञान के आवश्यक साधनों में स्थान नहीं पा सकता। जिन लोगों को दूसरी भाषा सीखने की आवश्यकता नहीं उन्हें अर्थज्ञान के इस साधन की भी आवश्यकता नहीं।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि किसी भी भाषा में शब्दों अथवा पदों का अर्थ बोध या संकेत ग्रहण करने के लिए एकाधिक साधनों की अपेक्षा हुआ करती है। सार्वभौम रूप से शब्द तथा अर्थ के सम्बन्धों की नियतता काल विशेष तथा भाषा में रूप विशेष तक ही मानी जाती है। इस सम्बन्ध में कालान्तर तथा भाषान्तर के कारण परिवर्तन होते रहते हैं। शब्दों तथा उनके अर्थों में समय-समय पर होने वाले परिवर्तनों का विश्लेषण करने वाले विज्ञान को ही अर्थ-विज्ञान (Semantics) कहा जाता है। जिसके अन्तर्गत मुख्य रूप से शब्दों के स्वीकृत अर्थों में होने वाले परिवर्तनों के कारणों तथा उनकी दिशाओं पर विवेचनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया जाता है।

ब्लूमफील्ड के अनुसार अर्थ परिवर्तन का अर्थ है 'शब्दों के व्याकरणिक प्रकार्यों में किसी प्रकार का अन्तर आये बिना उनके कोशीय अर्थों में परिवर्तन आ जाना।' इसी प्रकार से यह कथन है—अर्थ विज्ञान का कार्य क्षेत्र है—'शब्दों के अर्थों के

विकास का तथा उनके बने रहने, ह्रास को प्राप्त होने, लुप्त होने अथवा कभी-कभी पुनः प्रयोग में आने के कारणों तथा नये शब्दों के आधारों का विवेचन करना।'

अर्थ विकास के कारण

भाषा में उच्चारण, पदरचना तथा शब्द कोष का विकास भिन्न-भिन्न प्रकार से हुआ करता है। मानव की उच्चारणात्मक पद्धति बचपन से ही स्थिर हो जाती है और जीवन पर्यन्त बनी रहती है। इसी प्रकार पद-रचनात्मक पद्धति भी एक बार स्थिर हो जाने पर सुस्थायी हो जाती है। इसमें एक पीढ़ी में परिवर्तन की कोई सम्भावना नहीं रहती और यही स्थिति ध्वन्यात्मक परिवर्तनों की भी होती है। किन्तु इसके विपरीत, शब्द कोष परिवर्तित होता रहता है। क्योंकि प्रत्येक वक्ता जीवन के प्रारम्भ से लेकर अन्त तक नवीन शब्दों को ग्रहण करता रहता है। इस प्रक्रिया में कभी-कभी नवीन शब्द पुराने शब्दों को विस्थापित कर देते हैं और कभी-कभी उनमें विकृति भी ला देते हैं। देखा जाता है कि एक ही स्रोत से आने वाले दो पर्यायवाची तद्भव शब्दों को बुद्धि ग्रहण तो कर लेती है पर उनका प्रयोग विभिन्न सन्दर्भों के लिए निश्चित कर लेती है, जैसे संस्कृत के 'पर्ण' शब्द से विकसित एक रूप 'पन्ना' को लोक भाषाओं ने एक अर्थ का बोध कराने के लिए, दूसरे रूप 'पान' को किसी अन्य अर्थ का बोध कराने के लिए निश्चित कर लिया। हम यह भी जानते हैं कि शब्दों का कोई स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं होता, वे सदा ही मानव के मस्तिष्क में विद्यमान रहा करते हैं और ये मानव मस्तिष्क के व्यापार के विभिन्न रूपों का प्रतिबिम्बन करते रहते हैं। फ्रांसीसी लेखक जे० वेन्द्रेये का कथन है कि मस्तिष्क में शब्दों की व्यवस्था उसको निरपेक्ष मानकर नहीं होती। मस्तिष्क में उसके वर्ग बनाने की प्रवृत्ति रहती है जिसमें कभी-कभी शब्दों में परिवर्तन हो जाते हैं। यथा लौकिक शब्द-व्युत्पत्ति के कारण कई शब्दों के रूप विकृत हो जाते हैं, वर्ग निर्माण का सबसे प्रबल प्रभाव शब्दों के अर्थ पर पड़ता है।

अर्थ वैज्ञानिक परिवार के बन्धन से प्रत्येक शब्द का रूढिगत अर्थ सुरक्षित रहता है, किन्तु इस परिवार के किसी प्रमुख शब्द में यदि किसी कारण वश कोई अर्थ परिवर्तन हो गया तो परिवार के अन्य शब्द भी उसके नये अर्थ की ओर आकृष्ट होते हैं। साथ ही जब परिवार के बन्धन शिथिल हो जाते हैं अथवा टूट जाते हैं तो शब्दों का मुख्य अर्थ भी सुगमता से पृथक् हो जाता है।

इसी प्रकार पदरचनात्मक वर्गीकरण के कारण भी अनेक शब्दों में अर्थ परिवर्तन हो जाया करता है। देखा गया है कि कभी-कभी किसी शब्द पर किसी प्रत्यय आदि का इतना व्यापक प्रभाव पड़ता है कि उस प्रत्यय से युक्त अन्य शब्दों

के आधार पर इस शब्द में भी अर्थ-परिवर्तन हो जाता है।

यद्यपि वाग्व्यवहार में प्रयोग करते समय प्रत्येक शब्द का एक ही प्रसंग-संगत अर्थ होता है तथा उस क्षण उसके अन्य अर्थों का व्यक्त रूप में कोई आभास नहीं होता, किन्तु मस्तिष्क में अप्रत्यक्ष रूप से उसके सभी ज्ञात अर्थों की विद्यमानता की स्थिति के कारण अन्य प्रयोगों से उसके अर्थ पर निरन्तर प्रभाव पड़ता रहता है। इस प्रकार से होने वाला प्रभाव दो रूपों में परिलक्षित होता है—एक तो *किसी शब्द को बार-बार एक ही प्रसंग में प्रयोग करते रहने से उसका अर्थ उसी अर्थ में सीमित हो जाने की सम्भावना रहती है* तथा दूसरे, इसके विपरीत, एक ही शब्द का विविध प्रसंगों में बार-बार प्रयोग करने से या तो उसका मूल अर्थ लुप्त हो जाता है या उसमें परिवर्तन आ जाता है, क्योंकि किसी शब्द को जितना ही अधिक भिन्न-भिन्न प्रसंगों में प्रयुक्त किया जायेगा उतनी ही अधिक उसके अर्थ-परिवर्तन की सम्भावना भी बढ़ जायेगी। वस्तुत विविध प्रयोगों के अनुसार शब्दों के द्वारा विविध अर्थों को ग्रहण करने का सामर्थ्य तथा भाषा में उन विविध अर्थों को बनाये रखने का सामर्थ्य ही शब्दों की 'अनेकार्थता' का मूल कारण हुआ करता है। *इसका सबसे सुन्दर उदाहरण फ्रांसीसी शब्द ब्यूरो* (bureau) *है*, इसका सर्व प्रथम अर्थ था जमीन या मेज पर बिछाने का 'मोटा कपड़ा', फिर इसका अर्थ हुआ 'लकड़ी की वह चीज़' (मेज़) जिस पर कि यह कपड़ा बिछाया गया हो, फिर इसका अर्थ बना 'वह स्थान जहा पर मेज़ आदि रखी जाय', फिर अर्थ हुआ 'वे व्यक्ति जो इस मेज़ आदि के पास बैठकर काम करें' और अन्त में अर्थ हुआ 'ऐसे व्यक्तियों का समूह जो किसी प्रशासन या ऐसे ही किसी संगठन के संचालक हो।'

यहां पर यह स्मरणीय है कि नये अर्थों के आ जाने से सदा पुराने अर्थों का नाश हो जाता हो, ऐसी बात नहीं, दूसरे, अर्थ-परिवर्तनों की गति सदा ऋजुरेखीय भी नहीं होती है वह किसी भी दिशा में हो सकती है।

विद्वानों ने अर्थ-परिवर्तनों को प्रभावित करने वाले बौद्धिक अथवा मनोवैज्ञानिक कारणों को, जिन्हें 'बौद्धिक नियम' भी कहा जाता है, वर्गीकृत करने का यत्न किया है, *'बौद्धिक नियमों' की बात सर्व प्रथम फ्रेंच विद्वान् ब्रील ने उठाई थी जिस पर भारतवर्ष में श्री हेमन्त कुमार सरकार ने विस्तृत विवेचन प्रस्तुत किया था।* यद्यपि इस सिद्धान्त का कई क्षेत्रों में विरोध भी किया गया, किन्तु फिर भी अर्थ-परिवर्तन के विवेचनों में इसका उल्लेख किया जाता रहा है। सामान्यत 'बौद्धिक नियमों' को इन रूपों में प्रस्तुत किया जाता है—

1 विशेष भाव का नियमन या विशेषीकरण—इसके विषय में ब्रील का कथन है कि यदि प्रारम्भ में किसी एक अर्थ या भाव को कई शब्दों के द्वारा व्यक्त किया जाता रहा हो और पुन. उनकी अभिव्यक्ति कुछ सीमित शब्दों या एक ही शब्द के द्वारा होने लगे तो वहां विशेषीकरण की प्रवृत्ति कार्यशील होती है। किन्तु विचार

करने पर देखा गया है कि इस प्रवृत्ति का सम्बन्ध साक्षात् रूप से अर्थ के साथ न होकर शब्दों के साथ होता है। संस्कृत के अतिशयता सूचक तमप् और ईय्टन् में से यदि एक का प्रचलन अधिक और दूसरे का अप्रचलन या लोप हो गया तो यहां अर्थ की दृष्टि से कोई परिवर्तन नहीं माना जा सकता।

2. भेदीकरण—जब पर्यायवाची या समानार्थी कहे जाने वाले शब्द एकार्थक के बोधक न रह कर अलग-अलग अर्थों के बोधक हो जाते हैं तो उन्हें शब्दार्थों का भेदीकरण कहा जाता है। जैसे हिन्दी में एक ही मूल से विकसित शब्दों—'स्तन' तथा 'थन' में, 'गर्भिणी' तथा 'गाभिन' में, बच्चा' तथा 'बछड़ा' आदि में अर्थ की दृष्टि से भेदीकरण हो गया है। भेदीकरण का रूप विशेषकर विदेशी अथा आगत शब्दों के सन्दर्भ में देखा जाता है, यथा 'चिकित्सक' के अर्थ में प्रयुक्त होने वाले डॉक्टर (ऐलोपैथिक), वैद्य (आयुर्वेदिक) तथा हकीम (यूनानी) का प्रयोग।

3. मिथ्या प्रतीति—कभी-कभी भ्रमवश किसी शब्द को उसके मूल रूप से भिन्न रूप में मानकर उसका नवीन अर्थ निकाल लिया जाता है। यथा-संस्कृत में 'पश्चात्' से 'पाश्चात्य' (पश्चिम के रहने वाले) बना जो कि प्रत्यय योजना के अनुसार ठीक ही था, किन्तु बाद में इसमें 'आत्य' को प्रत्यय मानकर 'निवासी' अर्थ द्योतन करने के लिए 'दक्षिण' से 'दाक्षिणात्य' तथा 'पूर्व' से 'पौर्वात्य' रूप भी चल पड़े। इस रूप में हम देखते हैं कि यहां पर प्रत्यय नये अर्थों का द्योतक बन गया है। (अपिच देखो पृ० 331)

इसका सबसे अच्छा उदाहरण है संस्कृत में 'सुर' एवं 'असुर' का प्रयोग। मूलतः यह शब्द 'असुर' था जिसका अर्थ था—'शक्तिशाली', 'बलवान्', किन्तु बाद में दो वर्गों के संघर्ष के बाद यह बुद्धि भ्रम हो गया कि असुर' में अ-'निषेधार्थक' प्रत्यय है, अतः इसको हटा कर देवताओं के लिए 'सुर' शब्द का प्रयोग किया जाने लगा और जो देवता नहीं थे, उनके लिए 'असुर' (राक्षस) का।

4. अर्थोद्योतन—'उद्योतन' का अर्थ है 'चमकना', 'प्रकाशित होना' अर्थात् किसी शब्द में अथवा उसके अंश में किसी नवीन अर्थ का प्रकाशन, यथा प्राचीन काल में साहसी का अर्थ था 'क्रूर, हत्यारा' आदि, किन्तु भ्रमवश इसे उत्साह के साथ जोड़कर इसका अर्थ कर दिया गया—'अदम्य उत्साही'। 'भ्रान्त' या 'सम्भ्रान्त' शब्द की भी यही स्थिति है। (अपिच देखो पृ० 331)

इसके अतिरिक्त बौद्धिक नियम वादियों के अनुसार विभक्तियों के अवशेष का नियम, सादृश्य का नियम, नव प्राप्ति का नियम, अनुपयोगी रूपों के लोप का नियम आदि और भी नियम माने जाते हैं, किन्तु इसके रूपों पर विचार करने से स्पष्ट हो जाता है कि इनका सम्बन्ध मुख्यतः अर्थ के साथ न होकर शब्दों के साथ होता है। इसलिए अधिकतर आधुनिक भाषा-विज्ञानी इन नियमों को पृथक् रूप से महत्त्व देने के पक्ष में नहीं हैं। इन्हें शब्दार्थों से सम्बद्ध अन्यान्य नियमों में

अन्तर्भावित किया जा सकता है।

लाक्षणिक प्रयोग—वस्तुतः अर्थ का विवेचन प्राचीन भारतीय आचार्यों एवं दार्शनिकों का एक प्रिय विवेच्य विषय रहा है। उन्होंने इस पर बड़ी गम्भीरता से एवं विस्तार के साथ चिन्तन एवं मनन किया है। शब्द शक्तियों का तथा उनमें अभिव्यक्त होने वाले विभिन्न अर्थों का जैसा सूक्ष्म विवेचन हमारे प्राचीन आचार्यों ने किया है वैसा अन्यत्र कम ही देखने को मिलता है। यदि विचारपूर्वक देखा जाए तो अर्थ-परिवर्तन के मूल में सबसे प्रबल कारण होता है लाक्षणिक प्रयोग। लाक्षणिक प्रयोगों के पीछे जो प्रवृत्ति कार्यशील होती है वह यह है कि भावों की प्रमुख वाहिका होने पर भी कोई भी भाषा मानव मन के अनन्त एवं जटिल भावों को पूर्णतः शाब्दिक अभिव्यक्ति देने में असमर्थ होती है। भाषा की इसी असमर्थता की पूर्ति के लिए वक्ता अनेकशः लक्षणात्मक अथवा व्यंजनात्मक प्रयोगों का आश्रय लेता है। फलतः किसी शब्द के मुख्य अर्थ पर किसी अन्य अर्थ का आरोप कर दिया जाता है यद्यपि यह आरोपित अर्थ मुख्य अर्थ के साथ किसी-न-किसी सम्बन्ध से सम्बद्ध होता है। प्रारम्भ में ऐसे प्रयोग किसी विशेष प्रयोजनवश किए जाते हैं परन्तु बाद में ये रूढ हो जाते हैं और आम बोलचाल की भाषा के अंग बन जाया करते हैं। यथा 'आरी के दांत', 'कलम की जीभ', 'कुर्सी के पैर', 'नारियल की आंख' आदि। इसी प्रकार कभी-कभी विविध प्रकार के गुणों का भी आरोप करके 'मधुर संगीत', 'कर्कश वाणी', 'कटु अनुभव', 'मीठा बोल' आदि का भी लाक्षणिक प्रयोग किया जाता है।

इसी प्रकार लाल टोपी (कम्युनिस्ट), सफेद टोपी (कांग्रेसी), खाकी निक्कर (जनसंघी), काली पगड़ी (अकाली), आस्तीन का सांप, पीठ में छुरा मारना, गधा (मूर्ख), राक्षस (दुष्ट), गऊ (सीधा), चमगादड़ (चिपकने वाला), आदि शब्दों में लक्षित होने वाला अर्थ-परिवर्तन लक्षणा शब्द शक्ति की ही देन है।

सुभाष्यता—इसके अतिरिक्त अर्थ परिवेश का एक अन्य सर्वमान्य आधार है सुभाष्यता (युफेमिज्म)। यह भी लाक्षणिक प्रयोगों के ही अन्तर्गत आ जाता है। बात यह है कि सभ्यता के विकास के साथ-साथ भाषा के व्यवहार में भी विकास या अन्तर आता रहता है। फलतः कुछ भावों को जिन्हें पहले भिन्न शब्दों से व्यक्त किया जाता था, उन्हें बाद में अधिक शिष्ट या शोभन समझे जाने वाले शब्दों से व्यक्त किया जाने लगता है। इसके अन्तर्गत अभिव्यक्ति के कई प्रकार आ जाते हैं जिन्हें पृथक् रूप से इस प्रकार व्यक्त किया जा सकता है।

अशुभ या अशोभन का परिहार—कोई भी सभ्य मानव अशुभ बात को न तो सीधे कहना चाहता है और न सुनना ही चाहता है। अतः जब कभी उसे कोई अशुभ बात कहनी होती है तो वह उसे उसके वाचक शब्दों से न कहकर ऐसे

शब्दों के द्वारा व्यक्त करता है जो कि सुनने में कम से कम अशुभ लगे। जैसे 'मृत्यु' को सबसे अधिक अशुभ एवं भयंकर मानकर उसके लिए 'मरना' ऐसा न कहकर 'कैलाशवास', 'स्वर्गवास', 'बैकुण्ठलाभ', 'निधन' आदि शब्दों का प्रयोग किया जाता है, संस्कृत का 'पंचत्वगतः' इसी का रूप है।

अश्लीलता का आवरण— लगभग यही स्थिति उन शब्दो की भी है जिन्हें कि समाज विशेष में *अश्लील या सामाजिक स्तर पर गर्हणीय* समझा जाता है। प्रायः सभी सभ्य समाजो मे शौचादि तथा यौन सम्बन्धो से सम्बद्ध क्रियाओ एवं अंगो का मूल शब्दो मे उल्लेख करना अशोभनीय या अश्लील समझा जाता है। अतः शौच के लिए हिन्दी प्रदेशो मे प्रायः 'दिशा', 'मैदान', शौच', 'लघु शंका', बाथरूम आदि का *प्रयोग तथा जननेन्द्रियो तथा जनन-प्रक्रियाओ के लिए भिन्न-भिन्न* स्थानीय शब्दो का प्रयोग न करके सांकेतिक शब्दो का प्रयोग किया जाता है, यथा यौन सम्बन्धो के लिए 'सहवास', 'संभोग', 'व्यभिचार', 'बलात्कार' आदि शिष्ट समस्त शब्दों का प्रयोग किया जाता है।

***भय की भावना का परिहार**—प्रत्येक समाज मे कुछ शब्द तथा सभी समाजो* में कुछ पदार्थ निश्चित रूप से भय की भावना को जागृत करने का सामर्थ्य रखते हैं। अतः उस समाज के व्यक्ति उनका संकेत बोध कराने के लिए उन मूल शब्दो के स्थान पर अन्य शब्दो का प्रयोग करके उस मूल अर्थ का संकेत किया करते हैं। ऊपर *मृत्यु का उदाहरण दिया ही जा चुका है।* इसके *अतिरिक्त 'सर्प' को 'रस्सी'* या 'कीड़ा' कहना, शेर को 'बड़ा मृग' कहना तथा चेचक को 'माता', क्षय को 'राजरोग', कैंसर को 'असाध्य रोग' कहना इसी भावना को द्योतित करता है।

कटुता का परिहार—कहते हैं सत्य हमेशा कटु होता है। शास्त्रो का आदेश है कि *कड़वा सत्य नही बोलना चाहिए। शिष्ट लोग ऐसे सत्य को ऐसे शब्दो से* व्यक्त करते है कि वह सुनने वाले को कटु प्रतीत न हो यथा 'अंधे को अंधा' कहना एक सत्य है, पर है कटु सत्य। अतः शिष्ट लोग उसे 'अंधा' न कहकर 'सूरदास', 'प्रज्ञाचक्षु' आदि कहते हैं। समाज मे भंगी, नाई, चमार, रसोइया, धोबी आदि का पद अधिक सम्मानित न होने के कारण लोग इन्हें क्रमश जमादार, राजा या ठाकुर, चौधरी, महाराज, बरेठा आदि के नामों से सम्बोधित करते हैं।

अन्धविश्वास या वर्जन—कभी-कभी कुछ समाजों मे कुछ शब्दों के प्रयोगों के *प्रति कई प्रकार के अंधविश्वासो तथा वर्जन (taboo) के कारण कुछ शब्दो का* प्रयोग नहीं किया जाता तथा उनके अर्थों का संकेत-बोध किन्हीं अन्य शब्दों के द्वारा किया जाता है। प्राचीन काल मे चोरी को बहुत बुरा समझा जाता था अतः उसका नाम लेना भी निषिद्ध था, इसलिए शिष्ट समाज मे 'चोर' के लिए 'तस्कर' *शब्द का प्रयोग किया जाने लगा।* कुछ समाजो मे किसी खास 'महीने' या 'वार' का नाम नहीं लिया जाता। अतः उसके लिए या तो उससे पिछले महीने या वार

का नाम लेकर उससे अगला मास या दिन कहा जाता है या अगले मास या वार का नाम लेकर उससे पहला मास या दिन कहा जाता है। हिन्दू समाज में चूड़ी के साथ 'टूटना' या 'फूटना' क्रिया का प्रयोग केवल वैधव्य की स्थिति में स्वीकृत है अन्यथा ऐसा प्रयोग वर्जित होने के कारण 'टूटना' या 'फूटना' के स्थान पर 'मुकुलित होना' या 'मौलना' का प्रयोग किया जाता है।

अज्ञान—कभी-कभी अज्ञान के कारण भी शब्दों के अर्थों में परिवर्तन हो जाता है, यद्यपि यह प्रायेण आगत शब्दों में अर्थ-संकोच या अर्थ-विस्तार के रूप में देखा जाता है। फारसी के 'पक्षी मात्र' के अर्थ में प्रयुक्त होने वाले 'मुर्ग' शब्द का हिन्दुस्तानी में मुर्गे (एक पक्षी विशेष) के लिए प्रयुक्त होना तथा केवल काले रंग की 'मसि' के लिए प्रयुक्त होने वाले 'स्याही' का सभी रंगों की स्याही के अर्थ में प्रयुक्त होना या अंग्रेजी की 'मोटर' यंत्र का एक प्रकार के यान विशेष के अर्थ में प्रयुक्त किया जाना, या 'ग्लास' (शीशा) को एक विशेष प्रकार 'पान पात्र' के रूप में प्रयुक्त किया जाना इसी प्रवृत्ति के परिचायक कहे जा सकते हैं।

परिवेश या वातावरण में परिवर्तन—उपर्युक्त सभी कारणों का सम्बन्ध प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से हमारी बुद्धि एवं चिन्तन के साथ होने से इन्हें बौद्धिक कारणों के ही अन्तर्गत रखा जा सकता है। किन्तु इसके अतिरिक्त कुछ कारण ऐसे भी होते हैं जिनका सम्बन्ध हमारे आन्तरिक जगत् से न होकर बाह्य जगत् के साथ हुआ करता है। ये भौगोलिक भी हो सकते हैं तथा सामाजिक भी।

भौगोलिक—भौगोलिक परिवेशों की भिन्नता के कारण भी शब्दों के अर्थों में विभेद देखा जाता है, यथा—उत्तर प्रदेश में 'ठाकुर' शब्द का प्रयोग क्षत्रियों के लिए, बिहार में नाइयों के लिए, बंगाल में रसोइयों के लिए किया जाता है। 'उष्ट्र' शब्द का प्रयोग वैदिक काल में जंगली भैंसे के लिए होता था किन्तु बाद में ऊंट के लिए होने लगा।

सामाजिक—वस्तुतः भाषा के प्रयोग की आवश्यकता समाज में ही होती है। समाज के बिना भाषा की कोई आवश्यकता ही नहीं होती है। समाज में शुभाशुभ की कल्पना, आचार-विचार के रूप परिवर्तित होते रहते हैं और तदनुरूप ही बदलता रहता है शब्दों का अर्थ भी। आर्य वर्ग में दीया बुझाने या दुकान बन्द करने के लिए 'बुझाना' या 'बन्द करना' क्रिया का प्रयोग न करके 'बढ़ाना' क्रिया का प्रयोग किया जाता है। आज के सामाजिक परिवेश में स्त्री-पुरुषों के खुले सम्पर्क के कारण एक-दूसरे को सम्बोधित करने के लिए 'बहनजी', 'भाई साहब' जैसे सम्बोधनों का प्रयोग निर्बाध रूप से किया जाता है। इन शब्दों में वह सामाजिक भावना नहीं जो कि मूलतः इन शब्दों के मूल में निहित हुआ करती थी।

राजनीतिक—कभी-कभी राजनीतिक परिवर्तन भी अर्थ-परिवर्तन के कारण

बन जाते हैं। यथा—पहले 'क्रान्ति' का अर्थ था 'रक्तपात के साथ राजसत्ता में परिवर्तन।' फिर ऐतिहासिक क्रम में रक्तहीन अहिंसक क्रान्ति भी आयी। आजकल तो हरित क्रान्ति, श्वेत क्रान्ति, वैचारिक क्रान्ति आदि ने 'क्रान्ति' का अर्थ 'परिवर्तन' मात्र रह गया है। इसी प्रकार 'कामरेड' का मूल अर्थ था मित्र, सहयोगी, किन्तु रूसी कम्युनिस्ट पार्टी के द्वारा इसे अपनाए जाने के बाद इसका अर्थ हो गया है रूस के 'वामपंथी दल का सदस्य।' कभी बौद्ध धर्म की महत्ता के काल में 'देवानां प्रिय' विशेषण का प्रयोग अशोक महान् के लिए होता था, किन्तु उसका पतन हो जाने पर इसका अर्थ 'महामूर्ख' हो गया। ऐसे ही कभी 'नेता' शब्द इतने बड़े सम्मान का द्योतक था कि सुभाष चन्द्र बोस के नाम के साथ इसे सगौरव जोड़ा जाता था, किन्तु आज 'नेता' शब्द अपने उच्च पद से पतित होकर व्यंग्य एवं उपहास का अभिव्यंजक बन गया है।

सांस्कृतिक—*सांस्कृतिक परिवेश में परिवर्तन आ जाने पर भी शब्दों के अर्थों* में परिवर्तन आ जाया करता है। अंग्रेजी में 'मिस' का अर्थ है 'कुमारी', किन्तु आजकल स्कूलों में विवाहिता, अविवाहिता सभी अध्यापिकाओं को 'मिस' कहा जाता है। आज आश्रम-व्यवस्था के छिन्न-भिन्न हो जाने पर पचास वर्ष का अविवाहित भी ब्रह्मचारी है और 'सांसारिक' आसक्तियों का परित्याग न करने वाला गेरुआ वस्त्रधारी भी 'संन्यासी'। ऐसे ही अंग्रेजी में 'मदर' तथा 'सिस्टर' शब्दों का घर, गिरजाघर, स्कूल, अस्पताल, आदि भिन्न-भिन्न सन्दर्भों में भिन्न-भिन्न अर्थ होता है।

धार्मिक—धार्मिक परिवेश के बदल जाने पर किस प्रकार शब्दों के अर्थों में परिवर्तन आ जाता है, इसका एक अच्छा उदाहरण है, 'दक्षिणा'। दक्षिणा का मूल रूप यह था कि यजमान यज्ञ की समाप्ति पर यज्ञ वेदी का प्रदक्षिणा करके दक्षिणाभिमुख होकर यज्ञ कराने वाले पुरोहित को गाय आदि दान में दिया करता था। किन्तु बाद में यज्ञ की परम्परा के समाप्त हो जाने पर भी धार्मिक कार्य के बाद किसी भी ओर मुख करके दिया जाने वाला दान ही 'दक्षिणा' बनकर रह गया। आज वेदों का नाम भी न जानने वाले लोग चतुर्वेदी, त्रिवेदी कहलाते हैं और वेद मंत्रों के नाम पर संस्कृत का एक भी शब्द न जानने वाले लोग भी 'अग्निहोत्री' कहलाते हैं।

शिष्टाचार-प्रदर्शन—शिष्टाचार-प्रदर्शन का सम्बन्ध सामाजिक व्यवहार के साथ हुआ करता है। यह भी स्थान व काल-भेद से परिवर्तित होता रहता है। शिष्टतावश ही लोग अपने घर को 'कुटिया' या 'गरीबखाना', अपने लिए 'सेवक' या 'खाकसार' का प्रयोग करते सुने जाते हैं। पुराने रजवाड़े शिष्टाचार में राजाओं के लिए विशेष शिष्टाचार प्रदर्शक शब्दावली चलती थी। एक मुट्ठी भी अन्न का दान न करने वालों को 'अन्नदाता', दो-तीन गावों के स्वामी को 'पृथ्वीपति',

एक चूहे की भी रक्षा न कर सकने वाले को 'जहाँपनाह', कभी भूलकर भी धर्म का नाम न लेने वाले को 'धर्मावतार' कहना उस शिष्टाचार का अभिन्न अंग था।

प्रयोग बाहुल्य—अतिशय प्रयोग के कारण भी कई शब्द अपना मूल अर्थ खो बैठते हैं। जैसे आज ज़रा-सा भी कुछ काम करवाने पर लोग धन्यवाद (thank you) या किसी काम या बात के न बनने या बिगड़ने पर खेद है (sorry) कह डालते हैं। इस प्रकार कहने के पीछे न तो हार्दिक कृतज्ञता प्रकाशन का भाव होता है और न दुःख प्रकट करने का। मात्र अभ्यासवश इन शब्दों का प्रयोग कर दिया जाता है। जहाँ तक कि अनेक बार किसी की सफलता पर या शुभ समाचार मिलने पर मौखिक या लिखित रूप में 'मुझे हार्दिक प्रसन्नता हुई,' कहना या लिखना मात्र शिष्टाचार रह गया है : ये शब्द अपना वास्तविक अर्थ खो चुके हैं।

तत्सम तथा तद्भव शब्दों का साथ-साथ प्रयोग—अनेक बार ऐसा देखा जाता है कि किसी भाषा में ही मूल के दो शब्दों का प्रयोग दो भिन्न अर्थों की अभिव्यक्ति करता है। इनमें से एक तो मूल रूप में भी हो सकता है। तथा दूसरा विकसित रूप में, यथा—संस्कृत के 'पर्ण' शब्द का विकास हुआ है। एक ओर 'पन्ना' में तथा दूसरी ओर 'पान' में तथा साथ में पर्ण भी, यथा पर्णकुटी। इनमें से एक का अर्थ हो गया पुस्तक आदि का पृष्ठ तथा दूसरे का अर्थ हो गया एक लता विशेष का पत्ता (पान)। ऐसे ही, भद्र>भद्दा एवं भला, गर्भिणी (मानवी) एवं गाभिन (पशु), स्तन एवं थन आदि को समझना चाहिए।

वैज्ञानिक प्रगति—विज्ञान एवं टेक्नोलॉजी की प्रगति के कारण भी अनेक शब्दों को उनके पुराने अर्थों के स्थान पर नये अर्थ दे दिए जाते हैं। गण का अर्थ गिनना विद्यमान था किन्तु इससे ही बने संगणक शब्द का अर्थ 'गिनने वाला' न होकर एक यंत्र (कम्प्यूटर) होता है। संख्या शब्द से बनाया गया सांख्यिकी शब्द विज्ञान की एक शाखा स्टैटिस्टिक्स (Statistics) का बोध कराता है। इंजीनियर के लिए अभि+यम् से बने 'अभियन्ता' तथा हाईड्रोजन के लिए उद् (जल)+जन (उत्पन्न) उद्जन अर्थात् जल से उत्पन्न, रेडियो के लिए 'आकाशवाणी', टी० वी० के लिए 'दूरदर्शन', तथा टेलिफोन के लिए 'दूरभाष' आदि शब्दों को दिए गए नवीन अर्थ विज्ञान की प्रगति की ही देन हैं।

व्यंग्य—व्यंग्य करने की भावना से प्रयुक्त शब्द प्राय: विपरीत अर्थ के अभिव्यंजक हुआ करते हैं। किसी दुबले-पतले को भीमसेन, मूर्ख को बृहस्पति, या झूठे को हरिश्चन्द्र, कहना या देर से आने पर जल्दी आ गए, कहना इसी प्रकार की उक्तियाँ हैं जिनमें शब्द सर्वथा अपने विपरीत अर्थ को बतलाते हैं। संस्कृत काव्यशास्त्र में इसे 'विपरीत लक्षणा' कहा जाता है। सामान्य भाषा में इसका पर्याप्त प्रयोग देखा जाता है—जैसे गोपियाँ उद्धव से कहती हैं—'ऊधो तुम अति

चतुर सुजान' यहा पर गोपिया उन्हें 'चतुर' एवं 'सुजान' शब्दों मे 'महामूर्ख' एव 'बुद्धिहीन' कहती हैं, क्योकि वे इन कृष्ण प्रेम दीवानी अबलाओ को निर्गुण ज्ञान का उपदेश दे रहे हैं।

जातीय या धार्मिक द्वेष—जातीय या धार्मिक मनोमालिन्य के कारण भी शब्दो का अर्थ अन्यथा कर दिया जाता है। बौद्ध का बुद्धू, लुंचित (जैन साधु) का लुच्चा, अहुर 'महान्' (ईरानी) का असुर (आर्य), देव (आर्य) का देव 'राक्षस' (ईरानी मे)। हिन्दू का काफिर तथा मुसलमान का म्लेच्छ अर्थ इसी प्रवृत्ति के सूचक हैं। आजकल कई लोग पारस्परिक मनोमालिन्य के कारण पाखाने के लिए 'पाकिस्तान' शब्द का प्रयोग करते हैं। स्वतन्त्रता आन्दोलन के काल मे इसे 'इंगलैंड' भी कहते थे।

साहचर्य के कारण गौण अर्थ का प्राधान्य—पहले रेशम चीन से आता था अत संस्कृत मे इसे 'चीनांशुक' कहा जाता है। बताया जाता है कि तम्बाकू का प्रसार सूरत के बन्दरगाह के माध्यम से हुआ अत उसे 'सुरती' कहा जाने लगा। कश्मीर मे उत्पन्न होने के कारण केसर को 'काश्मीर' तथा सिन्धु प्रदेश से आने के कारण नमक को 'सैन्धव' कहा जाता है। फ्रांसीसी मे ब्राण्डी को 'कोन्याक' इसीलिए कहा जाता है कि वह मुख्यतः कोन्याक नामक स्थान पर बनाई जाती है। रेल, मोटर, तार आदि शब्द इसी कोटि मे आते हैं।

अर्थ परिवर्तन की दिशाएं—लिखित रूप मे प्राप्त होने वाली जीवित भाषाओ के विभिन्न कालो के रूपो की तुलना करने पर पता चलता है कि उनके पदो मे ध्वन्यात्मक तथा अर्थात्मक परिवर्तन चलता रहता है। उन परिवर्तनो के विभिन्न कारण एवं दिशाएं होती हैं। अर्थ सम्बन्धी परिवर्तनो के कारणों पर ऊपर विचार किया जा चुका है, अब हम सक्षेप मे उनकी दिशाओं का निर्देश करेंगे।

विविध प्रयोगो वाले शब्दो का किस प्रकार एक विशिष्ट अर्थ में विकास हो जाता है, इसे यों समझना चाहिए कि उस शब्द के अनेक प्रयोगो मे से एक अवश्य ही प्रधान होता है और कालान्तर मे वही अर्थ निर्धारित होकर मान्य हो जाता है। पर कभी-कभी प्रधान अर्थ के स्थायी होने का निश्चय नही हो पाता, सभी अर्थ प्रयोग मे आते रहते है तथा समय पाकर किन्ही विशेष स्थितियों मे एक अर्थ प्रबल हो उठता है और वही उसका मुख्य अर्थ मान लिया जाता है और अन्य अर्थ धीरे-धीरे क्षीण होते जाते है। फ्रांसीसी विद्वान् वेन्द्रेये ने इसे एक उदाहरण से स्पष्ट करने का यत्न किया है। उसका कहना है कि जिस प्रकार जब किसी वृक्ष की एक शाखा सारा रस चूसने लगती है तो उसकी अन्य शाखाए सूखने लगती हैं उसी प्रकार नवीन अर्थ धीरे-धीरे विकसित होता रहता है एव अन्य अर्थों का स्थान ले लेता है। इस प्रकार शब्द का अर्थ परिवर्तित होता है।

किसी शब्द के विभिन्न अर्थों में से केवल एक ही अर्थ बुद्धि में क्यों सुग्राह्य होता है, इसे इस प्रसंग से भली-भांति समझा जा सकता है। सभी जानते हैं कि किसी क्रिया के व्यापार के साथ किसी भी संज्ञा के अनेक सम्बन्ध हो सकते हैं, पर किसी संज्ञा से क्रिया रूप बनाने पर प्रायः एक ही सम्बन्ध की अभिव्यक्ति हुआ करती है। अतः अनजाने में बुद्धि, आवश्यकतानुसार सभी सम्भाव्य व्यापारों में से प्रयोग के लिए किसी एक का निर्वचन कर लेती है, यदि और कोई बाधा न हो तो इस प्रकार से प्राप्त शब्दार्थ स्थायी हो जाता है और शब्दकोश में इसी रूप में स्थान पा जाता है।

सभी भाषाओं में न्यूनाधिक मात्रा में पाये जाने वाले अर्थ सम्बन्धी परिवर्तनों को मोटे तौर पर तीन रूपों में देखा जाता है—कुछ अर्थों की विशेषार्थ से सामान्यार्थ की ओर प्रवृत्ति देखी जाती है अर्थात् उसका प्रयोग पहले किसी विशेष अर्थ की अभिव्यक्ति के लिए किया जाता था और बाद में सर्व सामान्य अर्थ की अभिव्यक्ति की जाने लगती है। इस प्रकार उसका मूल अर्थ विस्तृत हो जाता है। इसके विपरीत कभी ऐसा भी देखा जाता है कि मूलतः कोई सामान्यार्थ का बोधक अर्थ किसी विशेषार्थ का बोध कराने लगता है। इस प्रकार उसके मूल अर्थ का संकोच हो जाता है। पर कभी-कभी ऐसा भी देखा जाता है कि किसी शब्द के दो अर्थ समान रूप से व्यापक होते हैं पर बाद में कारणवश एक के स्थान पर दूसरे का आदेश हो जाता है। इन्हीं तीन प्रमुख स्थितियों के कारण शब्द परिवर्तन की दिशाओं को जिन तीन प्रमुख वर्गों में विभिन्न किया जाता है, वे हैं—

1. अर्थ-विस्तार (Expansion of Meaning)
2. अर्थ-संकोच (Contraction of Meaning)
3. अर्थान्तरण (Transference of Meaning)

अर्थ-विस्तार—अर्थ-विस्तार का अर्थ है 'प्रारम्भ में किसी एक सीमित अर्थ में प्रयुक्त किये जाने वाले शब्द का कालान्तर में उस अर्थ से सम्बद्ध सभी अर्थों का बोध कराने लगना, उदाहरणार्थ, प्रारम्भ में 'गवेषणा' का मूल व्युत्पत्तिपरक अर्थ था 'गायों की खोज करना', किन्तु कालान्तर में इसका प्रयोग किसी भी प्रकार की खोज के लिए किया जाने लगा। यही बात 'अनुसन्धान' की भी है। ऐसे ही 'तैल' शब्द का मूल अर्थ था 'तिलों से निकलने वाला स्निग्ध पदार्थ', किन्तु बाद में इसका प्रयोग किसी भी 'स्निग्ध पदार्थ' के लिए किया जाने लगा। यहां तक कि 'मछली का तेल' और 'मिट्टी तेल' में भी इसका विस्तार हो गया। कुछ और बहु प्रचलित उदाहरण हैं—'सब्जी' <फा० 'हरा'। मूलतः इसका प्रयोग 'हरी सब्जी' के लिए किया गया, पर बाद में 'सफेद गोभी', 'लाल टमाटर', 'पीला कद्दू' सभी के लिए चल पड़ा। इस प्रकार सब्जी के मूल अर्थ का इतना विस्तार हुआ कि किसी भी रंग की सब्जी के लिए इसका प्रयोग किया जाने लगा। यही स्थिति

'स्याही' <स्याह अथवा मसि 'काला' की भी है, यह शब्द जो कि मूलतः काले रंग की लेखन सामग्री के लिए प्रयुक्त किया जाता था, अब लाल, हरे, नीले, पीले, बैंगनी आदि सभी रंगों की लेखन सामग्री (स्याही) के लिए प्रयुक्त किया जाने लगा है। यही बात 'कुशल' <कुश, प्रवीण <वीणा, निष्णात <स्नात, रुपया <रूप्य 'चाँदी' आदि अनेकों शब्दों के सम्बन्ध में भी सत्य है।

अर्थ-विस्तार का क्षेत्र केवल जाति वाचक संज्ञाओं तक ही सीमित न होकर व्यक्ति वाचक संज्ञाओं में भी पाया जाता है। अनेक व्यक्ति जो अपने चरित्र की किसी विशेषता के लिए विख्यात होते है उनके नामों का इतना अर्थ-विस्तार होता है कि विश्व के किसी कोने में रहने वाले तथा उसी प्रकार की चारित्रिक विशेषताओं को रखने वाले किसी भी व्यक्ति के लिए उसका प्रयोग किया जाता है, इनमें से अति प्रसिद्ध है, हरिश्चन्द्र, युधिष्ठिर, भीष्म पितामह, विभीषण, नारद, जयचन्द, जूडास, प्रिन्स बिस्मार्क, कालिदास, शेक्सपीयर आदि।

यहां यह भी स्मरणीय है कि अर्थ-विस्तार के मूल में लक्षणा शक्ति अवश्य ही रहती है। यही शब्द शक्ति मूलतः इस प्रकार के अर्थ-विस्तार का मूलाधार हुआ करती है।

अर्थ-संकोच—अर्थ-संकोच की प्रवृत्ति विस्तार के विपरीत दिशा में होती है अर्थात् जब किसी विस्तृत अर्थ को द्योतित करने वाला कोई शब्द कालान्तर में केवल सीमित अर्थ का द्योतक मात्र रह जाता है तो उसे अर्थ संकोच की संज्ञा दी जाती है। भाषाविज्ञानी ब्रील ने इसका सम्बन्ध सभ्यता के विकास के साथ जोड़ा है। उनका विचार है कि जो जाति जितनी अधिक सभ्य होगी उसकी भाषा में उतना ही अधिक अर्थ-संकोच मिलेगा। इसका कारण स्पष्ट है, प्रारम्भ में बौद्धिक एवं सांस्कृतिक विकास के अभाव में एक ही शब्द से कई भावों का बोध कर लिया जाता है और अधिक शब्दों की आवश्यकता भी नहीं रहती है, किन्तु ज्यों-ज्यों बुद्धि एवं व्यवहार में सूक्ष्मता आती है उनके पृथकत्व के लिए अलग-अलग शब्दों की आवश्यकता प्रतीत होती है और उस मूल शब्द को उनमें से किसी एक का संकेत-बोध करने के लिए आरक्षित करके शेष भावों की अभिव्यक्ति के लिए नवीन शब्दों को गढ़ लिया जाता है।

भाषा की इस प्रवृत्ति को निम्नलिखित उदाहरणों के द्वारा स्पष्ट किया जा सकता है। पय 'दूध', इसका व्युत्पत्तिलब्ध अर्थ है 'पीने की वस्तु'। इसीलिए प्राचीन संस्कृत में 'दूध' तथा 'पानी' दोनों को 'पय' कहा जाता है, किन्तु बाद में आकर 'पय' का अर्थ 'दूध' में सीमित हो गया, मृग 'जिसे शिकार के लिए ढूंढा जाए', (मृग्यते इति)। इस रूप में प्राचीन काल में कोई भी पशु जिसका शिकार किया जा सके 'मृग' कहलाता था, मृगेन्द्र, मृगराज 'मृगों का राजा' शब्द में इसे अब भी देखा जा सकता है, किन्तु बाद में इसका अर्थ 'हरिण' नामक पशु में सीमित

हो गया। 'पंकज' 'कीचड़ से पैदा होने वाला', जलज, अब्ज 'पानी से उत्पन्न होने वाला' का प्रयोग अब पानी या कीचड़ में उत्पन्न होने वाली घास या कीड़े-मकोड़े के लिए न होकर केवल 'कमल' के अर्थ में रूढ़ हो गया है। यही स्थिति है गो 'जो चलने वाला हो', वर 'जिसका वरण किया जाए', भार्या 'जिसका भरण पोषण किया जाय', सर्प 'रेंगने वाला', वृक 'फाड़ने वाला', श्राद्ध 'जो श्रद्धा पूर्वक किया जाए' आदि की भी। ऐसे ही एक अन्य उदाहरण है पर्वत अर्थात् 'पर्वों (पोरों) वाला', इसीलिए प्राचीन संस्कृत में इसका अर्थ नरकुल, सरकंडा, गन्ना, बांस भी होता था, किन्तु बाद में पहाड़ के अर्थ में संकुचित हो गया। केवल देशी या तद्भव शब्दों में ही नहीं अपितु विदेशी शब्दों में भी यह प्रवृत्ति कार्यशील दिखाई देती है, उदाहरणार्थ, फारसी के 'मुर्ग' शब्द को लिया जा सकता है। इसका मूल अर्थ था 'पक्षी' जैसा कि अब भी 'शुतर्मुर्ग' (उष्ट्राकार पक्षी), मुर्गाबी (जल पक्षी) आदि में देखा जा सकता है। किन्तु भारत में इसका अर्थ 'कुक्कुट' पक्षी में सीमित होकर रह गया।

इस प्रकार हम देखते हैं कि 'अर्थ-संकोच' भाषाओं के विकास में एक महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। यदि अर्थ-संकोच न हो और व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ के आधार पर ही संकेत-बोध होता रहे तो एक ही शब्द अनेक पदार्थों का बोध कराता रहेगा। इससे न तो नवीन शब्दों का निर्माण हो सकेगा और न अभिव्यक्ति में ही स्पष्टता आ सकेगी। संस्कृत के प्रारम्भिक काल में 'वत्स, पोत, शावक' आदि का अनियंत्रित प्रयोग 'बच्चे' के अर्थ में हुआ करता था, किन्तु बाद में अर्थ-संकोच के कारण इनका प्रयोग 'मानव', 'पशु', 'पक्षी' आदि के बच्चों के लिए सीमित हो गया।

अर्थान्तरण—अर्थान्तरण, जिसे कभी-कभी 'अर्थादेश' भी कहा जाता है, का अभिप्राय है 'अर्थ का बदल जाना', अर्थात् इसमें शब्द का मौलिक अर्थ बदलकर नवीन अर्थ धारण कर लेता है। यह स्थिति 'अर्थ-विस्तार' तथा 'अर्थ-संकोच' दोनों से सर्वथा भिन्न होती है। अर्थान्तरण प्रायः साहचर्य के कारण हुआ करता है। कारण यह है कि कभी-कभी शब्द के मुख्यार्थ के साथ एक-एक गौणार्थ का भी विकास हो जाता है, कुछ काल तक तो दोनों अर्थ साथ-साथ प्रयोग में चलते रहते हैं, किन्तु कालान्तर में अनेक कारणों से मुख्य अर्थ गौण होकर धीरे-धीरे लुप्त हो जाता है और गौण अर्थ उसका स्थान लेकर स्वयं मुख्यार्थ बन जाता है। इस प्रकार होने वाले अर्थान्तरण की दो दिशायें पायी जाती हैं अर्थात् कभी ऐसा होता है कि अर्थान्तरण की प्रवृत्ति को दिखाने वाले शब्द का मूल अर्थ विशेष अच्छा नहीं होता या किसी हीन भाव का द्योतक होता है किन्तु उसका परिवर्तित अर्थ उससे श्रेष्ठ होता है। इसे पारिभाषिक रूप में 'अर्थोत्कर्ष' कहा जाता है। इसके विपरीत कभी ऐसा भी होता है कि शब्द का मूल अर्थ श्रेष्ठ भाव को प्रकट करने वाला होता है किन्तु उसका परिवर्तित अर्थ हीनभाव का द्योतन करता है। परिवर्तन के इस रूप

को 'अर्थापकर्ष' कहते हैं। इनको संक्षेप में इस प्रकार प्रदर्शित किया जा सकता है।

अर्थोत्कर्ष—अर्थोत्कर्ष के अनेक उदाहरण प्राप्त हो सकते हैं, यथा आजकल 'अदम्य उत्साह' के अर्थ में प्रचलित 'साहस' शब्द का प्राचीन काल में अर्थ था क्रूर, नृशंस, और इसका प्रयोग डाका, हत्या आदि कर्मों के सन्दर्भ में हुआ करता था। किन्तु इन नृशंस कार्यों के लिए भी मजबूत दिल, शक्ति आदि की आवश्यकता होने से उसी साहचर्य से इसका गौणार्थ विकसित होकर मुख्यार्थ बन गया और इसका प्रयोग 'हिम्मत के साथ किये जाने के कार्यों' के सन्दर्भ में किया जाने लगा। ऐसे ही संस्कृत में 'कर्पट' का अर्थ होता था 'चीथड़ा', 'जीर्णशीर्ण वस्त्र', किन्तु कपड़े के साहचर्य के कारण बाद में इससे विकसित शब्द 'कपड़ा' का अर्थ हो गया 'वस्त्र मात्र', सामान्य तो क्या बहुमूल्य वस्त्र का भी इसी से संकेत-बोध होने लगा। इन दोनों ही उदाहरणों में शब्द अपने मौलिक हीन अर्थ को त्यागकर उत्कर्ष को प्राप्त हो गया है।

अर्थापकर्ष—अर्थोत्कर्ष के समान ही अर्थापकर्ष भी जीवित भाषाओं की एक सामान्य प्रवृत्ति का परिचायक हुआ करता है। इसमें कई बार मूलत. उदात्त भाव के अभिव्यंजन अर्थ का इतना पतन होता है कि कभी-कभी तो वह विपरीत भाव को व्यक्त करने लगता है। यथा वैदिक साहित्य में 'असुर' शब्द से 'देवता' या तत्सम शक्ति का बोध होता था। इसी का प्रतियोगी शब्द 'अहुर' अवेस्ता में अब भी इसी भाव का द्योतन करता है, किन्तु बाद के युगों में देवताओं और राक्षसों के संघर्ष के कारण उनकी प्रबल शारीरिक शक्ति के साहचर्य से यह शब्द उनका बोधक बन गया। फलत. यह अपने मूलार्थ से च्युत होकर 'दैत्य, राक्षस' आदि का बोधक बन गया। एक अन्य उदाहरण है 'हरिजन'। महात्मा गांधी जी के द्वारा इसका प्रयोग 'असवर्ण' या शूद्र जाति के लोगों के लिए किये जाने से पूर्व तक यह 'भगवान् के भक्तों' का बोधक था, किन्तु अब 'हरिजन' से हिन्दुओं के अन्तिम वर्ण के लोगों का ही संकेत बोध हुआ करता है। 'पाखण्ड' शब्द की भी यही स्थिति है। यह एक बौद्ध सम्प्रदाय था। अशोक के काल में इसे काफी सम्मान प्राप्त था और अशोक द्वारा इसे दानादि देने का भी उल्लेख पाया जाता है, किन्तु कालान्तर में अपनी आचरण-भ्रष्टता के कारण समाज में इसका पतन हो गया और फलस्वरूप इस शब्द के अर्थ का भी पतन हो गया।

संक्षेप में यही है अर्थ-परिवर्तन की प्रमुख दिशाएं। इन्हीं के अंतर्गत सभी प्रकार के अर्थ-परिवर्तनों को समाहित किया जा सकता है।

भाग : छ.

भारत में भाषा वैज्ञानिक अध्ययन की परम्परा

भारत में भाषा-वैज्ञानिक अध्ययन की परम्परा

अभी गत शताब्दी तक यही समझा जाता था कि दर्शन एवं राजनीति के समान भाषा-चिन्तन की दिशा मे भी ग्रीक लोग ही अग्रणी थे, किन्तु जब से यूरोप मे विश्लेषणात्मक एवं संरचनात्मक भाषाशास्त्र का अध्ययन होने लगा तथा यूरोपीय विद्वानो का संस्कृत एव इसके प्राचीन भाषाशास्त्रीय ग्रन्थों से परिचय हुआ, तब से निर्विवाद रूप से यह माना जाने लगा है कि भाषा विश्लेषण एवं विवेचन का जो कार्य प्राचीन भारत मे किया गया था वह विश्व मे और कहीं नही हुआ। अब तो सर्वत्र इस बात को पूर्ण रूप से स्वीकार किया जा चुका है कि किसी भाषा के मूलभूत तत्त्वो एवं उसकी संरचना को समझने के लिए जिस विश्लेष-णात्मक पद्धति एवं प्रक्रिया की आवश्यकता होती है उसकी पूर्ण परिणति ईसा से कई सौ वर्ष पूर्व भारत में हो चुकी थी।

ग्रीक दार्शनिकों के भाषा विषयक संकेतों से बहुत पूर्व ही ऋग्वेद मे हमे भाषा चिन्तन की प्रवृत्ति के बीज दिखाई देने लगते हैं, जिसमे कि भाषा की महिमा पर

पूरे दो सूक्त पाये जाते हैं।[1] इनमें भाषा विकास की तीन अवस्थाओं—अव्याकृत भाषा, आदिम व्यक्त-भाषा तथा वास्तविक भाषा—का निर्देश एवं निरूपण किया गया है।[2] इन भारतीय ऋषियों ने ही भाषा-विज्ञान के इतिहास में स्पष्टतया प्रथम बार शब्द के चार विभागों की बात कही थी।[3] उन्होंने पूर्ण निश्चय के साथ कहा था कि व्यक्तिवाचक संज्ञाओं सहित सभी शब्दों की व्युत्पत्ति धातु मूलों (Verbal roots) में होती है।[4]

भारतीय मनीषियों की इस भाषा-वैज्ञानिक देन को हम इसके विकास-क्रम की दृष्टि से तीन भागों में विभक्त कर सकते हैं—(1) यास्कपूर्वकाल, (2) पाणिनिकाल, (3) उत्तरवर्ती काल।

यास्कपूर्वकाल

जैसा कि ऊपर संकेत किया जा चुका है, हमें भाषा विषयक चिन्तन की परंपरा ऋग्वेद काल से ही मिलने लगती है। उसमें भाषा की उत्पत्ति एवं स्वरूप के सम्बन्ध में अनेक मन्त्र मिलते हैं। जगत् की उत्पत्ति के साथ-साथ भाषा की उत्पत्ति का भी विवेचन पाया जाता है, वाणी की उत्पत्ति के विषय में कहा गया है—समाज के लिए वाणी की उत्पत्ति हुई, देवताओं ने इसे उत्पन्न किया[5] आदि।

भाषा के शुद्ध प्रयोग के सम्बन्ध में बृहस्पति आंगिरस ऋषि का कथन है कि 'जैसे बुद्धिमान लोग सत्तू को छलनी से छानकर काम में लाते हैं, वैसे ही वे लोग वाक् को मन से छानकर, सम्यक् विचार से निर्दोष बनाकर उसका प्रयोग करते हैं। ऐसी वाणी का प्रयोग करने वाले लोग सज्जन (मित्रवत्) होते हैं तथा इस प्रकार की वाणी कल्याणकर होती है।'[6] इसी प्रकार के और भी कई संकेत हैं जिनमें कि वाणी के गुणों, उच्चारण-प्रक्रिया आदि की ओर संकेत किया

---

1 दे०, ऋग्० X. 71; X. 125.4.

2 दे०, ऋग्० 1. 164, 45. तुरीय वाचो मनुष्या वदन्ति।

3. दे०, ऋग्० 1 22. 161 चत्वारि वाक् परिमितानि पदानि।

4 तु०, शाकटायन, सर्वाणि नामानि आख्यातजानि।

5 तुल० (i) देवीं वाचमजनयन्त देवाः, ऋग्० IV.2.21.

(ii) देवीं वाचमजनयन्त देवास्तां विश्वरूपाः पशवो वदंति। ऋग्० VIII 100.11.

6 सक्तुमिव तितउना पुनन्तो यत्र धीरा मनसा वाचमक्रत।
अत्रा सखायः सख्यानि जानते, भद्रैषां लक्ष्मीर्निहिताधिवाचि॥ ऋग्० X.71.2.

गया है।[1]

इतना ही नहीं कुछ मंत्रों से तो इस बात का भी संकेत मिलता है कि उस काल की व्यवहृत भाषा में ऋषियों के द्वारा मंत्रों की रचना के लिए प्रयुक्त की जाने वाली भाषा को मानक मानकर उसका विश्लेषण भी किया जाता था[2] तथा वैदिक स्तुतियों में उसी का प्रयोग किया जाता था[3]। ऋग्वेद के एक मंत्र (3.34.10) पर भाष्य करते हुए वेंकट माधव का कथन है कि इन्द्र ने अव्याकृत भाषा का व्याकरण बनाया था।[4] इस बात की पुष्टि उत्तरवर्ती वैदिक साहित्य में पाये जाने वाले सन्दर्भों से भी होती है, कृष्ण-युजुर्वेद संहिता में कहा गया है कि देवताओं ने इन्द्र से प्रार्थना की कि इस वाक् तत्त्व को खण्डशः विभाजित कर दें।[5] यह उक्ति इस बात की स्पष्ट संकेतक है कि उस काल के मनीषियों के समक्ष भाषा के अवयवों का रूप स्पष्ट हो चुका था तथा उनमें इसके विश्लेषण एवं सूक्ष्म अध्ययन की प्रवृत्ति आ चुकी थी। पदों का खंडशः विभाजन (व्याकरण) एवं शब्द व्युत्पत्ति के लिए मूल धात्वर्थ तक पहुंचने की प्रवृत्ति के भी पर्याप्त संकेत वैदिक साहित्य में प्राप्त होते हैं। उदाहरणार्थ, 'इन्द्र' के लिए 'पुरादर्ता', 'पुरार्दिः', 'पुरंदर', 'पुरादर्मा' जैसे प्रयोगों को देखने से स्पष्ट हो जाता है कि वे लोग शब्द-रचना में पायी जाने वाली प्रकृति-प्रत्यय की परिकल्पना से पूर्णतः परिचित थे। इसी प्रकार भिन्न प्रत्ययों या कारकों के कारण एक ही मूल से निष्पन्न शब्दों के अर्थ में होने वाले अन्तरों की ओर भी कई संकेत पाये जाते हैं, यथा ऋग्वेद संहिता में √क्षि-धातु से अधिकरण में निष्पन्न 'क्षिति' को निवासार्थक (VII 88.7.) तथा कर्म में निष्पन्न 'क्षिति' को शासनार्थक कहा गया है (V.37.4)। व्युत्पत्तिपरक तत्त्वों का यह रूप वैदिक संहिताओं में उत्तरोत्तर स्पष्ट होता जाता है।

वेदों की भाषा की अपार शब्दराशि, शब्दों का विविध रूपों एवं अर्थों में प्रयोग, स्वराघात की बारीकियों के कारण अर्थ-निर्वचन एवं रूप-रचना का चमत्कार, पद-रचना का सौन्दर्य आदि तत्त्व स्पष्ट रूप से बतलाते हैं कि इनके

1. तु०, ऋग्० I.182.4, V.63.6; VIII.100.11.
2. यज्ञेन वाचः पदवीयमायन्, तामन्वविदन्नृषिषु प्रविष्टाम्।
   तामाभृत्या व्यदधुः पुरुत्रा तां सप्तरेभा अभिसन्नवन्ते। X.71.3।
3. अहं राष्ट्री, संगमनी वसूनां, चिकितुषी प्रथमा यज्ञियानाम्। ऋग्० X.125.3
4. तु०, नुनुदे विवाचः III 34.10. पर वेंकट भाष्य—वाचश्चाव्याकृता, वि-नुनुदे व्याचकार।
5. तु०, वाग्वै पराच्यव्याकृताऽभवत्, ते देवा इन्द्रमब्रुवन्निमां नो वाचं व्याकुर्वीति''तामिन्द्रो मध्यतोऽवक्रम्य व्याकरोत्तस्मादियं व्याकृता-वागुच्यते। तैत्ति० संहिता, 6.4.7.

प्रयोक्ता ऋषियों में भाषा विषयक दृष्टिकोण पर्याप्त विकास को प्राप्त हो चुका था।

इसके बाद हम देखते हैं कि वेदों में सम्मिश्रण को रोकने एवं मूल उच्चारण को सुरक्षित रखने की दृष्टि से पदपाठ आदि के द्वारा वाक्यगत शब्दों को पृथक्-पृथक् करने का जो प्रयास किया गया वह भाषा-विश्लेषण का प्रारम्भिक प्रायोगिक रूप था, क्योंकि इसका आधार शब्दव्युत्पत्ति तथा समास-विग्रह था। भाषा के तत्त्वों के विश्लेषण की इस प्रवृत्ति का स्पष्ट एवं वैज्ञानिक विकास हमें 'शिक्षाओं' एवं 'प्रातिशाख्यों' में देखने को मिलता है। ये ग्रन्थ विश्व-साहित्य में ध्वनि-विज्ञान सम्बन्धी प्राचीनतम ग्रन्थ हैं। भारतीय आचार्यों ने शिक्षाओं की गणना प्रमुख वेदांगों में की है। वस्तुतः 6 वेदांगों—शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द, ज्योतिष्—में से 4 का सम्बन्ध प्रत्यक्षतः भाषा के साथ है। इनमें से शिक्षा का स्थान प्रथम है तथा इसका सम्बन्ध वैदिक भाषा के उच्चारण के साथ माना गया है।[1] ध्वनि-विज्ञान के अर्थ में 'शिक्षा' शब्द का सर्वप्रथम उल्लेख 'ऐतिरेय ब्राह्मण' में तथा इसके क्षेत्र का सर्वप्रथम व्याख्यान 'तैत्तिरीय उपनिषद्' में पाया जाता है।[2] डॉ० सिद्धेश्वर वर्मा का कथन है कि तब 'शिक्षा' शब्द से सामान्य ध्वनि-विज्ञान (general phonetics) तथा 'प्रातिशाख्य' शब्द से व्यावहारिक ध्वनि-विज्ञान (applied phonetics) अभिप्रेत था।[3]

प्रातिशाख्यों का समावेश शिक्षा एवं व्याकरण के अन्तर्गत किया जाता है। किन्तु व्याकरण के साथ इनका सम्बन्ध होने पर भी मुख्यतः इनका प्रतिपाद्य विषय भी वही है जो कि शिक्षाओं का है, अर्थात् ध्वनि-विज्ञान। हम देखते हैं कि प्रातिशाख्यों के समय तक ध्वनि-विज्ञान का पर्याप्त विकास हो चुका था तथा इस क्षेत्र में अनेक सम्प्रदाय बन चुके थे जो कि कई विषयों पर सैद्धान्तिक एवं प्रायोगिक दृष्टियों से मतभेद रखते थे। डॉ० वर्मा के अनुसार ध्वनि-विज्ञान विषयक भारतीय ध्वन्यात्मक वाङ्मय के मूलाधार की उच्च सीमा 700-800 ई० पूर्व तक जा सकती है जो कि ऐतरेय ब्राह्मण का रचना काल है तथा जिसमें ध्वनि-विज्ञान के अध्ययन की एक उन्नत एवं विकसित अवस्था का पता चलता है। किन्तु प्रातिशाख्यों की उच्च सीमा सम्भवतः यास्क (500 ई० पू०) से पूर्व नहीं रखी जा सकती, क्योंकि सर्वप्रथम समझे जाने वाले प्रातिशाख्य अर्थात् ऋक्प्रातिशाख्य में इसे उद्धृत किया गया है। साथ ही पतंजलि के महाभाष्य में उपलब्ध तैत्तिरीय

---

1. सु०, ऋग्० प्राति० (बनारस संस्क०) पृ० 10. शिक्षा स्वरवर्णोच्चारणात्मकं शास्त्रम्।
2. द्र०, वर्मा, भूमिका, पृ० 5.
3. द्र०, वही, पृ० 6.

प्राति० के एक उद्धरण के आधार पर उन्होंने यह भी माना है कि विशिष्ट प्रातिशाख्यों का रचना काल 500-150 ई० पू० रहा होगा।[1]

शिक्षाओं एवं प्रातिशाख्यों से वैदिक साहित्य के शुद्ध रूप को बनाये रखने का महनीय प्रयास तो हुआ, किन्तु उसके मूलार्थ को बनाये रखने की दिशा में कोई प्रयास नहीं हुआ, वैदिक युग में शायद इसकी आवश्यकता भी नहीं थी, किन्तु ज्यों-ज्यों समय बीतता गया, शिक्षाओं में विहित नियमों के अनुरूप वेदों का पठन तो यथापूर्व रूप में चलता रहा, किन्तु उसके मूल अर्थों के विषय में अस्पष्टता आने लगी तथा उसका समझना कठिनतर होने लगा। फलत. उनके अर्थों को समझने में सहायता प्रदान करने के लिए निघण्टु नामक शब्दकोशों की रचना की जाने लगी। निघण्टु विश्व के उपलब्ध वाङ्मय में प्राचीनतम कोश समझे जाते हैं। शब्द-विज्ञान एवं अर्थ-विज्ञान के प्रथम आचार्य यास्क ने इन्हीं निघण्टुओं को आधार बनाकर अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ 'निरुक्त' की रचना की थी। यास्क से पूर्व कम से कम 12 निरुक्तकार हो चुके थे, जिनका उन्होंने स्वयं उल्लेख किया है। आचार्य यास्क इस शब्द-निर्वचन-परम्परा के अन्तिम आचार्य थे तथा उनकी यह कृति इस विज्ञान की प्रौढतम कृति है, इसे भारतीय भाषाशास्त्र का मेरुदण्ड माना जाता है। शब्दों के निर्वचन का ज्ञान कराने के कारण इसे व्याकरणशास्त्र का पूरक ग्रन्थ भी माना जाता है। आचार्य यास्क ने ही सर्वप्रथम अपनी कृति में भाषा-सम्बन्धी व्यापक दृष्टिकोण को प्रस्तुत किया है। भाषा के क्रमिक विकास, उसकी उत्पत्ति तथा गठन पर इसी ग्रन्थ में प्रथम बार वैज्ञानिक दृष्टिकोण से विचार किया गया है। इन्होंने यह सिद्धान्त प्रतिपादित किया था कि शब्द की व्युत्पत्ति धातु में है। इन्होंने शब्दों की निरुक्ति के लिए वर्णागम, वर्णविपर्यय, वर्णविकार, वर्णलोप, धातु से अर्थातिशय को प्रमुख आधार माना है।[2] अपने ग्रन्थ के प्रारम्भ में ही इन्होंने निर्वचन सम्बन्धी कुछ महत्त्वपूर्ण तत्त्वों की स्थापना कर दी है तथा उन्हीं के आधार पर सम्पूर्ण विश्लेषण किया है।

वेदों के मूल अर्थों को समझने में कठिनाई आ चुकी थी तथा उसे दूर करना ही यास्काचार्य का प्रथम उद्देश्य था। इसकी पुष्टि स्वयं इस बात से होती है कि उन्होंने किसी कौत्स नामक ऋषि के द्वारा वैदिक भाषा में निकाले अनेक दोषों का निराकरण किया है। कौत्स की आलोचना के अनुसार वैदिक ऋषि भाषा के विद्वान् नहीं थे, इसलिए उन्होंने कई साधारण शब्दों का समान रूप से कई देवताओं की प्रशंसा में प्रयोग किया है। यास्काचार्य ने इस दोषदर्शी ऋषि का खण्डन करके

1. दे०, वर्मा, पृ० 26.
2. वर्णागमो वर्णविपर्ययश्च द्वौ चापरौ वर्णविकारनाशौ।
धातोस्तदर्थातिशयेन योगस्तदुच्यते पंचविधं निरुक्तम्॥

बतलाया कि लौकिक तथा वैदिक सभी प्रकार के शब्द सव्युत्पत्तिक एवं सयुक्तिक होते हैं। 'प्रयमो प्रतमो बभूव' के द्वारा उन्होंने भाषा-विज्ञान का सर्व प्रथम पाठ पढ़ा कर बताया कि घिस-पिट जाने या ध्वन्यात्मक परिवर्तन आ जाने से नये शब्दों की सृष्टि होती है किन्तु भाषा-वैज्ञानिक विश्लेषण से हम उसके मूल रूप का पता लगा सकते हैं।

पाणिनिकाल

यास्काचार्य के बाद महान् वैयाकरण 'शाकटायन' ने अपने प्रसिद्ध सिद्धान्त-सूत्र 'सर्वाणि नामानि आख्यातजानि' कहकर संस्कृत भाषा के शब्दों की व्युत्पत्ति एवं अर्थ का रहस्य खोल दिया। वस्तुतः यास्क के समय तक भाषा-विवेचन का कार्य वैदिक संस्कृत तक ही सीमित था, किन्तु उनके उपरान्त अनेक भाषाचिन्तक हुए जिन्होंने वैदिक भाषा के अतिरिक्त समकालीन भाषा पर विचार किया। यास्क से लेकर पाणिनि तक के युग में अवश्य ही पर्याप्त भाषा-विवेचन हुआ होगा, ऐसा अनुमान किया जाता है। इस अनुमान का आधार यह है कि पाणिनि ने अपनी कृति में ऐसे अनेक पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग किया है जिनकी कोई परिभाषा (स्पष्टीकरण) नहीं दी गई है। इसका अभिप्राय है कि ये पारिभाषिक शब्द तत्कालीन वैयाकरणों में पहले से ही प्रचलित थे। इसके अतिरिक्त पाणिनि-सूत्रों में संकेतित पूर्ववर्ती वैयाकरणों के नामों के आधार पर कहा जा सकता है कि इनसे पूर्व कम से कम इन आठ व्याकरण सम्प्रदायों का प्रचलन था—ऐन्द्र, चान्द्र, सारस्वत, शाकटायन, आपिशलि, कापिश, कौमार एवं काशकृत्स्न।

भारतीय भाषाशास्त्र के क्षितिज में आचार्य पाणिनि का अवतरण एक ध्रुवतारे के समान है। उन्हें भारत ही नहीं, अपितु विश्व के भाषाशास्त्रीय अध्ययन की परम्परा में वर्णनात्मक भाषा-विज्ञान का सर्वप्रथम आचार्य कहा जा सकता है। उनके द्वारा प्रतिपादित नियमों का सूक्ष्म अध्ययन करने पर स्पष्ट हो जाता है कि वे आधुनिक विवरणात्मक भाषाशास्त्र की विश्लेषण-पद्धतियों से पूर्णतया परिचित थे। पाणिनि द्वारा प्रस्तुत संस्कृत भाषा का सूत्रबद्ध संरचनात्मक एवं विवरणात्मक विश्लेषण आज भी भाषाशास्त्रियों को आश्चर्य में डाल देता है। यद्यपि उन्होंने अपने समय में प्रचलित वैदिक रूपों पर भी विचार किया है, किन्तु उन्होंने अपने विवेचन का मुख्य आधार तत्कालीन शिष्ट समाज में व्यवहृत होने वाली संस्कृत भाषा को ही बनाया। यूरोप के अनेक मूर्धन्य भाषा-विज्ञानियों ने पाणिनि की देन की भूरि-भूरि प्रशंसा की है। प्रसिद्ध भाषाशास्त्री एल० ब्लूमफील्ड का कथन है कि *पाणिनि का ग्रन्थ 'मानवीय प्रतिभा का एक सर्वोत्तम स्मारक है।'* इसी प्रकार प्रसिद्ध भाषाशास्त्री स्वर्गीय श्री बेन्जमिन ली ह्वार्फ का कथन है—यद्यपि भाषा-

शास्त्र बहुत प्राचीन विज्ञान है तथापि इसका आधुनिक प्रयोगात्मक रूप, जो अलिखित भाषा के विश्लेषण पर जोर देता है, सर्वथा आधुनिक है। जहा तक हमें ज्ञात है, आज के रूप में ही, ईसा से कई *शताब्दी पूर्व पाणिनि ने इस विज्ञान का* शिलान्यास किया था। पाणिनि ने उस युग में वह ज्ञान प्राप्त कर लिया था, जो कि हमे आज उपलब्ध है। संस्कृत भाषा के वर्णन अथवा संस्कृत भाषा को नियम-बद्ध करने के लिए पाणिनि के सूत्र बीजगणित के जटिल सूत्रो (फार्मूलो) की भाति हैं। ग्रीक लोगों ने वस्तुतः इस विज्ञान (भाषाशास्त्र) की अधोगति कर रखी थी। इनकी कृतियों से ज्ञात होता है कि वैज्ञानिक विचारक के रूप में, हिन्दुओं के मुकाबले मे, ये ग्रीक लोग कितने अधिक निम्न स्तर के थे। (सच तो यह है कि) उनकी भ्रान्तिपूर्ण विचारधारा का प्रभाव *प्रायः* दो *सहस्र वर्षों तक चलता रहा।* (वास्तव मे) 19वीं शताब्दी के आरम्भ से, जब से पश्चिम ने पाणिनि को प्राप्त किया है, तभी से आधुनिक वैज्ञानिक भाषाशास्त्र का आरम्भ होता है।[1]

हमारे प्रसिद्ध वैयाकरण जयादित्य ने भाषा विवेचन के कार्य में आचार्य की सूक्ष्मेक्षिका की प्रशंसा करते हुए कहा था—सूत्रकार (पाणिनि) की दृष्टि बड़ी सूक्ष्म है, वे साधारण स्वर की भी उपेक्षा नही कर सकते।

पाणिनि के उपरान्त और भी अनेक भाषाशास्त्री हुए जिन्होंने पाणिनि के *कार्य को आगे बढ़ाया। यद्यपि संस्कृत भाषा के मौलिक ढाचे का विश्लेषण आचार्य* पाणिनि कर चुके थे, किन्तु इन उत्तरवर्ती आचार्यों ने पाणिनि तथा उनके अपने समय के बीच भाषा में होने वाले परिवर्तनो की ओर हमारा ध्यान दिलाया, जो कि भाषा के विकास के इतिहास की दृष्टि से विशेष महत्त्वपूर्ण कहे जा सकते हैं।

इस परम्परा मे पाणिनि के बाद दूसरा महत्त्वपूर्ण नाम आता है वार्तिककार कात्यायन का। इनका समय लगभग 350 ई० पू० माना जाता है। यद्यपि पतंजलि ने अपने महाभाष्य मे इनके अतिरिक्त भारद्वाज, सुनाम, क्रोष्टा आदि वार्तिककारों का भी उल्लेख किया है, किन्तु *आचार्य कात्यायन के अतिरिक्त और किसी की* कृति उपलब्ध नही होती। कैय्यट इनके वार्तिको को 'व्याख्यानसूत्र' कहते हैं। कात्यायन के कार्य के महत्त्व को बतलाते हुए 'पदमजरी' में कहा गया है कि 'सूत्रकार के द्वारा जो विषय विस्मृत अथवा अदृष्ट रह गया है उसका वाक्यकार (वार्तिककार) ने स्पष्ट रीति से व्याख्यान कर दिया है और उसके द्वारा भी अदृष्ट (द्विरुक्त) विषय का भाष्यकार ने'।[2] वार्तिक की परिभाषा ही है—जो बात कही गई है, या कहने से रह गई है या अदृष्ट रह गई है उस पर विचार-

---

1. उद्धृत—पाणिनि के उत्तराधिकारी, 1971. (इलाहाबाद) पृ० 6-7
2. यद् विस्मृतमदृष्टं वा सूत्रकारेण तत् स्फुटम्।
   वाक्यकारो ब्रवीत्येन तेनादृष्टं च भाष्यकृत्॥

विमर्श करना ही वार्तिक है।[1] कहा जाता है कि वार्तिककार ने अष्टाध्यायी के 1500 सूत्रों में दोष दिखाया है और शुद्ध नियम निर्धारित किए हैं। विद्वानों का विश्वास है कि वार्तिककार ने अपने वार्तिक सूत्रों के द्वारा भाषा के उन रूपों को नियमबद्ध किया जो कि लगभग इन दो सौ वर्षों के बीच अनेक ध्वन्यात्मक परिवर्तनों एवं भाषायी सम्मिश्रणों के कारण संस्कृत भाषा के अंग बन चुके थे।

इसके बाद भाषाशास्त्रीय विवेचन में सम्बद्ध जो महत्वपूर्ण ग्रन्थ हमारे सामने आता है वह है पतंजलि का महाभाष्य। यद्यपि इससे पहले 'व्याडि' अपना महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ, 'संग्रह' लिख चुके थे, पर वह अब उपलब्ध नहीं होता। पतंजलि का समय 150 ई० पू० माना जाता है। महाभाष्य में भाषा के संरचनात्मक एवं रूपात्मक पक्ष की उपेक्षा करके उसके दार्शनिक पक्ष पर अधिक गम्भीर चिन्तन किया गया है। इसमें वार्तिककार के द्वारा निर्दिष्ट दोषों का खंडन करते हुए पाणिनि के सूत्रों की यथार्थता का समर्थन किया गया है। इन्होंने व्याकरण-दर्शन के मूल-भूत प्रश्नों—ध्वनि के स्वरूप, ध्वनिसमूह तथा अर्थ का सम्बन्ध, वाक्य के घटक विभिन्न अवयवों की स्थिति आदि पर गम्भीर विवेचन प्रस्तुत किया है। इन उत्तरवर्ती आचार्यों ने निश्चित ही पाणिनि द्वारा प्रतिपादित भाषा-विवेचन के कार्य को अधिक प्रामाणिक एवं वैज्ञानिक बनाया।

किन्तु पतंजलि के बाद भाषा-अध्ययन के क्षेत्र में कुछ स्थिरता-सी आ गई। इसके बाद जो भी कार्य हुए उनमें मौलिक चिन्तन की कमी पायी जाती है। अधिकतर कार्यों में पाणिनि की ही पुष्टि एवं निर्वचन किया जाता रहा। मौलिक चिन्तन की परम्परा को आगे बढ़ाने वाले आचार्यों में 'वाक्यपदीय' के रचयिता भर्तृहरि का नाम अवश्य उल्लेखनीय है, इसके अतिरिक्त अन्य उल्लेखनीय आचार्य हैं काशिकाकार वामन तथा जयादित्य, न्यासकार जिनेन्द्र बुद्धि, मंजरीकार हरदत्त एवं सिद्धान्तकौमुदीकार भट्टोजी दीक्षित। यद्यपि इन सभी ने पाणिनि के सूत्रों की व्याख्या करने का यत्न किया है, फिर भी इनमें भाषा सामान्य पर विस्तृत चर्चाएं, भाषा दर्शन के अनेक पक्षों पर विचार, अर्थ विवेचन पर मौलिक एवं वैज्ञानिक चिन्तन प्रसंग सगति से अनेकत्र पाया जाता है, जो कि भारतीय आचार्यों के भाषा विषयक चिन्तन के इतिहास पर महत्त्वपूर्ण प्रकाश डालता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि भारत में अत्यन्त प्राचीन काल से ही भाषा चिन्तन एवं भाषा विवेचन की एक अविच्छिन्न परम्परा रही है और यह परम्परा मध्यकाल में भी चलती रही और अभी भी चल रही है।

---

1. (i) उक्तानुक्तदुरुक्तचिन्ताकरत्वं हि वार्तिकत्वम्। —नागेश भट्ट।
   (ii) उक्तानुक्तदुरुक्तानां चिन्ता यत्र प्रवर्तते।
   तं ग्रन्थं वार्तिकं प्राहुर्वार्तिकज्ञा मनीषिणः॥

पारिभाषिक शब्दावली

(हिन्दी-अंग्रेजी)

अक्षर syllable
अघोष voiceless/breathed
अघोषीकरण devoicing
अजन्त vowel ending
अतिशयकोटी superlative degree
अप्रत्यक्षकथन indirect speach
अन्त.स्थ semi-vowel
अन्तर्निवेश insertion
अग stem
अश element
अनाघातित unaccented
अनियमित strong (form)
अनियमित परिवर्त irregular variation
अनुतान intonation
अनुदात्त falling tone
अनुनयार्थक pricative
अनुनासिक nasal
अनुनासिकीकरण nasalization
अनुरूपी corresponding
अन्विति concord/agreement
अन्यपदार्थ प्रधान possessive
अपाश offglide
अभ्यास repetition/reduplication
अभिनिधान incomplete articulation
अर्धस्वर semi-vowel
अर्थभेदक distinctive/significant
अल्पप्राण unaspirate
अल्पप्राणीकरण de-aspiration

अवधारण emphasis
अवधारणार्थक emphatic
अवधि duration
अवरोध obstruction
अवश्रुति ablaut/vowel gradation
अवस्थिति position
अव्ययपद indeclinables
अव्ययीभाव adverbial compound
अव्यवहित immediate/contiguous
अविकरण athematic
असम रूप heteroclitic
असमापिका क्रिया infinite verb
आक्षरिक syllabic
आख्यात पद verb
आगम augment
आघात accent
आघातहीन unaccented
आज्ञार्थक imperative
आत्मनेपदी (क्रिया) middle verb
आदेश replacement/substitute
आनुपूर्विता sequence/order
आभ्यंतर (प्रयत्न) intra-buccal processes
इच्छार्थक optative
ईषत् विवृत slight openness
ईषत् स्पृष्ट slight contact
उच्चारण articulation
उच्चारण स्थान place of articulation
उत्क्षिप्त flapped
उत्तरपद second component
उत्तरपदार्थप्रधान determinative
उत्पादक प्रत्यय productive suffix
उदात्त rising tone
उद्देश्य subject vs. predicate
उपरूप allomorph
उपसर्ग verbal prefix
उपाश onglide
उपान्त्य penultimate
उभय पदार्थ प्रधान co-ordinative
ऊष्म sibilant/spirant
कण्ठ्य velar/guttural
कण्ठीकरण velarization
कण्ठोष्ठ्य labio-velar
करण articulator
करणार्थक agentive/instrumental
कर्तृवाच्य active voice
कर्मप्रवचनीय postpositions
कर्मवाच्य passive voice
कारक case
कालबोधक temporal
क्रमवाचक ordinal
क्तान्तरूप past passive participle
क्रिया-काल tense
क्रियातिपत्ति conditional
क्रियार्थक संज्ञा gerund
क्रियापदात्मक निपात indeclinable gerunds and infinitives
क्रियात्मक प्रत्यय verbal suffixes
कृत् प्रत्यय primary suffixes
कृदन्तरूप verbal derivatives
कृदन्त नामिक gerundive nominals
कृदन्त विशेषण participles/verbal adjectives
कृदन्त संज्ञा participial noun
क्षतिपूरक complementary
खिन्न स्वर half-long vowel
गणनावाचक cardinal

गुणात्मक qualitative
गुरु heavy/long
गौण तिङ् चिह्न secondary verbal terminations
घटक/तत्त्व constituents/components
घोष voiced
घोषीकरण voicing
णिजन्त causatives
चतुर्थी dative case
जिह्वामूल root of the tongue
तरल स्वन liquids
तद्धित प्रत्यय secondary suffixes
तद्धित रूप secondary derivatives
तालव्य palatal
तालव्यीकरण palatalization
तिङ् प्रत्यय verbal suffixes
तिङ् चिह्न verbal terminations
तुमर्थक infinitives
तुलना बोधक degree of comparison
तृतीया विभक्ति agentive/instrumental case ending
दन्तकूट teeth ridge
दन्तमूलीय (वर्त्स्य) alveolar/post-dental
दन्त्यीकरण dentalization
दन्त्योष्ठ्य labio-dental
दृढ कथनादि बोधक अव्यय particles of asserveration
दीर्घीकरण lengthening
द्वन्द्व समास copulative compound
द्विगु समास numerative compound
गुणन duplication
द्वित्व/द्वित्वीकरण doubling/gemination
द्वयोष्ठ्य bi-labial
ध्वनिपरिवर्तन phonetic change
ध्वनि-प्रक्रिया phonology
ध्वनि-विज्ञान phonetics
ध्वनि युग्मान्त diphthong ending
ध्वनि-सम्पर्कीय phonotactic
ध्वन्यात्मक phonetic
धातु verb root/base
धात्वग verb stem/root base
धातुमूल verbal root
धातुज-संज्ञा verbal noun
धातुज विशेषण verbal adjective
नाद voice
नामपद substantives
नामधातु denominatives
नामिक प्रत्यय nominal suffix
नामजात विशेषण denominative adjectives
नासिका विवर nasal covity
नासिकीकरण nasalization
नासिक्य रंजन nasal colouring
नासिक्य व्यंजन nasal consonant
निघात low accent
निपात particle
निश्चयार्थक indicative
निषेधार्थक injunctive
निषेधात्मक negative
निर्विभक्तिक un-inflected
निर्देशात्मक demonstrative
निरपेक्षिक अधिकरण absolute locative.

पद *word/inflected word/ morpheme*
पदरचना *morphology*
परसर्ग postposition
परिवर्त alternate
पश्चगामी regressive
प्रकृति root
प्रकारता modality
प्रगृह्य *hiatus*
प्रत्यक्ष कथन direct speech
प्रत्यय affix/formative
प्रत्येक वाचक distributive
प्रतिवेष्टित retroflexed
प्रयत्न process/manner of articulation
प्रवाही continuant/continuative
प्राणन/प्राणवायु *aspiration*
प्रातिपदिक nominal stem
पुनर्गठन reconstruction
पुरुष वाचक personal
पूर्ण रूप strong form
पूर्वकालिक क्रियार्थक कृदन्त indeclinable gerunds
पूर्व पद first component
पूर्व पदार्थ प्रधान adverbial (compound)
पूर्व प्रत्यय prefix
पौनः पुन्यवाचक frequentative
बहुव्रीहि समास exocentric compound
बाह्य प्रयत्न extra-buccal processes
भविष्यत् कृदन्त future participle
भाववाचक संज्ञा abstract noun
भाववाच्य impersonal voice
भूतकालिक कृदन्त past passive *participle*
महाप्राण aspirate
महाप्राणता aspiration
मात्रात्मक quantitative
मिश्र complex
मुक्त विकल्पन free variation
मुख विवर *oral cavity*
मुख्य तिङ् चिह्न primary verbal terminations
मूर्धन्य cerebral
मूर्धन्यीकरण cerebralization
मूलरूप/प्रकृति *stem/root*
मृदुतालु velum
मृदुतालव्य/तालवीय velar
मेरुदण्ड nucleus
यङन्त/यङ्लुगन्त intensive
यम twin (sounds)
रंजन colouring
रूपिम morpheme
रूपरचना *morphology*
रूप सिद्धि inflection
रूपस्वनिमिक morphophonemic
रूपावली paradigm
लघु short
लोप elision
वर्ण phoneme
वर्णसमाम्नाय alphabets
वर्तमानकालिक कृदन्त present participle
वर्त्स्य alveolar
वाक् speech
वागवयव organs of speech

वाच्य voice
विकरण verbal infix
विकरणयुक्त thematic
विकरणहीन athematic
विकरणीकरण thematisation
विकल्पन variation
विकार change/mutation
विकृति/विकार modification
वितरण distribution
विधिकृदन्त potential passive participle
विधिलिङ् potential
विध्यर्थक injuctive/optative
विधेय predicative
विधेयक्रिया finite verb
विधेय संज्ञा noun predicate
विधेयात्मक प्रयोग predicative use
विभक्ति case form/ending
विभक्ति प्रधान inflectional
विभक्ति प्रत्यय case ending
विभाषीय संमिश्रण dialect mixture
विवृत open
विवरणात्मक descriptive
विश्लेषणात्मक analytical
विशेषणात्मक क्रिया adverb of manner
विसमीकरण dissimilation
विसदृश dissimilar
विसन्धि hiatus
विसरण diffusion
विस्तरण extension
विस्तारित रूप extended form
वृत्ति mood
व्यक्त ध्वनि articulate sound
व्यवस्थित संवाद systematic corrèspondence
व्यंजनीकरण consontalization
व्यंजनोत्तर post-consonantal
व्याकरणिक रूप grammatical form
व्यावहारिक ध्वनि विज्ञान applied phonetics
व्युत्पत्ति derivation
व्युत्पत्यात्मक etymological
शिन् ध्वनि sibilant
शून्य रूप zero morph
शून्य उपरूप zero allomorph
श्वास breath
संघर्षी fricative
सघोष अन्तःस्थ sonorant
संध्यक्षर diphthong
सन्नन्त desiderative
संनिधि continuity
सध्यात्मक prosodic
सख्येय संज्ञा countable noun
सम्बन्ध भूत कृदन्त indiclinable past participle त्वा
सम्बन्ध वाचक relative
सम्प्रसारण vocalization
समानाधिकरण case in opposition
समापिका क्रिया finite verb
सम्मिश्रण contamination
समीकरण assimilation
संभावनार्थक subjunctive
संवृत close
सवर्णी of the same class
संलयित amalgamated

समासान्त प्रत्यय compositional suffixes
सविकरण thematic
सविभक्तिक inflected
संरचनात्मक structural
संश्लेषणात्मक synthetic
संस्वन allophone
स्पर्श stops/plosives
सस्पर्श/स्पृष्ट contact/occlusion
स्पर्श संघर्षी affricate
स्थानान्तरण transfer
स्थानापन्न substitute
संवार closure
सर्वादेश suppletion
सातत्य continuative
सादृश्य analogy
सादृश्यात्मक analogical
सार्वनामिक विशेषण pronominal adjective
सातत्य continuation
सामान्य ध्वनिविज्ञान general phonetics
सोपाधिक रूपरूप conditional allomorph
सोष्म ध्वनि fricative
सोष्म संघर्षी spirant
स्वरभक्ति anaptyxis
स्वरहीन unaccented
स्वरित *rising-falling tone*
स्वराघात accent
स्वराघातात्मक accentuated
स्वरहीन निपात enclitics
स्वरान्तर्वर्ती inter-vocalic
हलन्त consonant ending
ह्रसित रूप weak form
ह्रस्वीकरण shortening
हेत्वर्थक injunctive/subjunctive
हेत्वर्थकृदन्त *infinitive of purpose*
हेतुमद् वृत्ति conditional mood
हेतुहेतुमत् subjunctive

ग्रंथसूची

(सन्दर्भित ग्रंथ)

अथर्व प्रातिशाख्य	
अथर्ववेद	
अवेस्ता	
अष्टाध्यायी	पाणिनि
ऋक् प्रातिशाख्य	
ऋग्वेद	
काव्यादर्श	दण्डी
काव्यालंकार	भामह
कौशीतकी ब्राह्मण	
तैत्तिरीय संहिता	
निरुक्त	यास्क
परिभाषेन्दु शेखर	नागेश
परम लघुमंजूषा	नागेश
पाणिनीय शिक्षा	
महाभारत	व्यास
महाभाष्य	पतञ्जलि
मैत्रायणी संहिता	
रामायण	वाल्मीकि
साहित्यदर्पण	विश्वनाथ
सिद्धान्त कौमुदी	भट्टोजी दीक्षित

संदर्भ संकेत सूची

उल्हन बैक, सी० सी० — 'ए मैन्युअल ऑफ संस्कृत फोनेटिक्स', (पुनर्मुद्रित, द्वि० संस्क० दिल्ली 1960।

उलमन, स्टीफन, — सीमान्टिक्स, आक्सफोर्ड, 1962।

ऋक् प्राति० — 'ऋक् प्रातिशाख्य'-मैक्समूलर, 1870।

एड्गर्टन, फ्रैंकलिन — 'संस्कृत हिस्टोरिकल फोनोलॉजी', न्यूहैवन 1946।

ऐलन, डब्ल्यू० एस० — 'फोनेटिक्स इन एन्शिएण्ट इण्डिया', लन्दन, 1953।

काल्डवेल, रेव, राबर्ट — 'ए कम्पेरेटिव ग्रामर आफ द्रविडियन लैंग्वेजेज', मद्रास यूनिवर्सिटी, मद्रास, 1961 (तृतीय संस्करण)।

गुणे, पाण्डुरंग, दामोदर — 'एन इन्ट्रोडक्शन टु कम्पेरेटिव फिलोलॉजी', पूना, 1950।

घोष बटकृष्ण — 'लिंग्विस्टिक इन्ट्रोडक्शन टु संस्कृत' कलकत्ता, 1937

चेटर्जी, सुनीतिकुमार — 'भारतीय आर्यभाषा और हिन्दी', दिल्ली, 1963।

तिवारी, उदयनारायण — 'पाणिनि के उत्तराधिकारी' इलाहाबाद, 1971।

तैत्ति० प्राति० — 'तैत्तिरीय प्रातिशाख्य' बिब्लिओथिका संस्कृतिका, 1907।

नागेशभट्ट — 'परिभाषेन्दुशेखर', बनारस, 1931।

निरुक्त (यास्क) — 'दुर्गाचार्यभाष्य सहित (वे० मुद०) बम्बई, 1969।

पाणिनि अष्टाध्यायी, — वाराणसी, 1964।

बरो० टी० — 'द संस्कृत लैंग्वेज' लन्दन (द्वितीय मुद्रण) 1965।

ब्रुगमैन, कार्ल — 'ए कम्पेरेटिव ग्रामर आफ द इण्डोजर्मनिक लैंग्वेजेज (इंग्लिश अनुवाद) चौखम्बा, वाराणसी 1972 (पुनर्मुद्रित)।

ब्रील, माइकेल — 'सेमान्टिक्स' न्यूयार्क, 1900।

ब्लाख जूल्स — 'ल' इंदो आर्या, पेरिस, 1934।

ब्लूमफील्ड, एल० — 'लैंग्वेज, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली 1964 (पुनर्मुद्रित)

भाषा — (मासिक) केन्द्रीय हिन्दी निदेशालय, भा० स०, दिल्ली।

भट्टाचार्य, विष्णुपाद — 'ए स्टडी इन लैंग्वेज एण्ड मीनिंग' कलकत्ता 1962।

महा० (पतंजलि) — 'महाभाष्य' बम्बई, 1951-52।

मूर्ति श्रीमन्नारायण, एम — 'एन इण्ट्रोडकशन टु संस्कृत लिंग्विस्टिक्स', दिल्ली, 1984।

राबिन्स, आर० एच० — (अनु०) 'सामान्य भाषिकी' हरियाणा सा० अका० चण्डीगढ।

ह्विट्ने, विलियम ड्विट — 'संस्कृत ग्रामर, मैमेच्यूसेट्स 1967' (11वां संस्करण)।

लैंग्वेज — (भाषा पत्रिका) अमेरिका, 1926 जिल्द।

वाक्य० (भर्तृहरि) — 'वाक्यपदीय' (हेलाराज टीका) त्रिवेन्द्रम् 1942।

वर्मा, सिद्धेश्वर	'प्राचीन भारतीय वैयाकरणों के ध्वन्यात्मक विचारों का विवेचनात्मक अध्ययन', चण्डीगढ़, 1973।
वासुदेव शास्त्री	'शब्दापशब्द विवेक' जालधर, सं० 2011।
शर्मा, देवीदत्त,	'संस्कृत का ऐतिहासिक एवं संरचनात्मक परिचय,' हु० सा० अका० चण्डीगढ़, 1973।
शि० सं०	'शिक्षा संग्रह' बनारस संस्कृत सीरीज, 1893।
सि० कौ० (रोमिंग)	'सिद्धान्तकौमुदी' श्रीशचन्द्र बसु संस्करण, (पुनर्मुद्रित), दिल्ली, 1962।
सिंह, बलदेव	'पदपदार्थ समीक्षा' कुरुक्षेत्र 1969।
सा० द०	'साहित्यदर्पण' विश्वनाथ, लाहौर, 1938।
स्टर्टेवन्ट, ई० एच० हान०	'ए कम्परेटिव ग्रामर ऑफ हिट्टाइट लैंग्वेज, न्यूहैवन, 1951।

Select Bibliography

Allen, W. Sidney, *Phonetics in Ancient India*, Oxford University Press, London, 1953.

Ayangar, V Krishnaswami, *Paniniya Vyakaran Ki Bhumika*, Prabhat Prakashan, Delhi, 1983.

Bhattacharya, *Harendra Kumar, Language and Scripts of Ancient India*, Bani Prakashini Calcutta, 1959.

Bloomfield, Leonard, *Language*, Molital Banarasidas, Delhi 1964 (Indian reprint).

Breal Michel, *Semantics* (Trans. by Mrs. Henry Cust), New York, 1900

Burrow, T. *The Sanskrit Language*, Faber & Faber, London, 1965 (2nd ed.)

Chatterji, S K. *Select Writings*, Delhi 1960

Edgerton, Franklin, *Sanskrit Historical*, Phonology American oriental series (19), New Haven, 1946.

Ghatage, A.M *Historical Linguistics and Indo-Aryan Languages*, Uni. of Bombay, 1962.

Ghosh Batakrishna, *Linguistic Introduction to Sanskrit*, Indian Research Institute, Calcutta. 1937.

Gleasen, Jr. H A., *An Introduction to Descriptive Linguistics*, Oxford and IBH Publishing Company, Calcutta, 1970 (Indian reprint)

Gray, Louis, H. *Foundation of Language*, Macmillan Company, New York, 1958.

Gune, P.D. *An Introduction to Comparative Philology*, Oriental Book House, Poona, 1958.

Hocket, Charles, F *A Course in Modern Linguistics*, Oxford & IBH Publ shing Co. Cal. New Delhi, 1970.

Jagirdar, R.V. *An Introduction to Comparative Philology of Indo-Aryan Languages*, Dharwar, 1932.

Jesperson, Otto *Language : Its Natute, Development and Origin*, George Allen & Unwin London, 1967.

Jules Bloch, *Bharatiya Arya Bhasha* (Hindi trans) Hindi Samiti, Lucknow, 1972

Katre, S.M *Some Problems of Historical Linguistics* in Indo-Aryan, Deccan College, Poona, 1965.

Kunjuni Raja, K. *Indian Theories* of Meaning, Adyar Library & Research Centre, Madras, 1969 (2nd ed.).

Laddu, S.D *Evolution of Sanskrit Language from Panini to Patanjali*, Centre for Adv-study in Sanskrit, Poona. 1974.

Macdonell, A.A. *Vedic Grammar*, Strass burg, 1910.

Misra, S.S. *A Comparative Grammar of Sanskrit Greek and Hittite*, World Press, Calcutta, 1968.

Misra, V.N. *Bharatiya Bhasha Chintan*, (ed.) Rajasthan Hindi Academi, Jaipur, 1976

Murti, M Srirannarayana, *An Introduction to Sanskrit*, D.K. Publication, Delhi, 1984.

Robins R.H. *Gengeral Linguitics* (Hindi Translation) *Samanya Bhashiki* by D.D. Sharma) Haryana Sahitya Academi, Chandigarh.

Sansure Ferdinand. de. *Course in gengal Linguistics*, Macgraw Hill, New York, 1966.

Sharma, D.D. *Sanskrit ka Aitihasik evam Samrachanatmak Parichay*, Haryana Sahitya Akademi, 1984 (2nd reprint).

Singh, Baldeo, *Padapadartha Samiksha*, Kurukshetra University Kurukshetra, 1969.

Sturtevant, Edgar Howard, *An Introduction to Linguistic Science*, Yale Uni-Press, 1960.

Traporewala, I J Sorabji, *Elements of Science of Language*, Calcutta, Uni 1962 (3rd ed).

Verma, Siddheswar, *Critical Studies in the Phonetic Observations of Indian Grammarians* Trans. by D.D. Sharma—*Prachin Bharatiy Vaiyakaranon ke Dhvanyatmak Vicharon ka Vivechanatmak Addhyayan*, Haryana Sahitya Akademi, Chandigarh, (2nd reprint).

Vendryes, Joseph, *Language* (Trans by Paul Radin) Routledge and Kegan Paul, London, 1952.

Whitney, William Dwight, *Sanskrit Grammar* Harward University Press, Massachasetts, 1967 (11th issue)

□□

शुद्धि-पत्र

पृष्ठ	पैरा	पंक्ति	मुद्रित रूप	शुद्ध रूप
4	4	3	शेषाश	—(शून्य)
8	2	7	अबोध	अबाध
8	2	7	अप्रसरित	अग्रेसरित
8	4	5	नासिका	नासिक्य
8	4	5	वालाघात	बलाघात
8	4	6	त्रिघ्नमानता	विद्यमानता
9	1	5	स्टेट	स्ट्रेट
9	1	6	यह्	पर
9	2	1	विश्लेपणीय	विश्लेपणीय सामग्री
9	4	5	या	यथा
10	2	17	बहुव्रीहो	बहुव्रीहो
11	2	1	cast	caste
14	1	4	बोनोतन	बोनातन
16	1	1	या, तथा	'या', या
16	4	10	हाय	हाथ
17	3	3	भाप	भापण
23	2	9	ध्वनित	ध्वनि
25	1	1,5	शासन	शास्त्र
25	2	2	पडंगवेदो	षडगोवेदो
25	2	2	पस्यपाह्निक	पस्पशाह्निक
26	1	6	अधरत	अधीत